श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

नियमसार प्रवचन

तृतीय भाग

प्रवक्ता :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक :—

महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ

प्रकाशक —

खेमचन्द जैन, सर्राफ

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

(उ० प्र०)

प्रथम संस्करण १०००] १९६६ [मूल्य २)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के संरक्षक

(१) श्रीमान् लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
(२) श्रीमती फूलमाला जी, धर्मपत्नी श्री लाला महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली :—

(१) श्री भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथजी जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया
(४) ,, श्रीमती सोवती देवी जी जैन, गिरिडीह
(५) ,, ला० मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन, मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी, मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्द जी जैन, मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्द जी जैन रईस, देहरादून
(९) ,, ला० बारूमल प्रेमचन्द जी जैन, मसूरी
(१०) ,, ला० बाबूराम मुरारीलाल जी जैन, ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैन जी जैन, जगाधरी
(१२) ,, सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन, सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी, मुजफ्फरनगर
(१४) ,, श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन, देहरादून
(१५) ,, श्रीमान् ला० जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर मेरठ
(१६) ,, मन्त्री जैन समाज, खण्डवा
(१७) ,, ला० बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन, तिस्सा
(१८) ,, बा० विशालचन्द जी जैन, आ० मजि०, सहारनपुर
(१९) ,, बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर, इटावा
(२०) श्रीमती प्रेम देवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन संघी, जयपुर
(२१) श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालाल जी जैन, जियागंज
(२२) ,, मन्त्राणी, जैन महिला समाज, गया
(२३) श्रीमान् सेठ सागरमल जी पाण्ड्या, गिरिडीह
(२४) ,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, गिरिडीह

(२५) ,, बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी, गिरिडीह

(२६) श्री सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर

(२७) ,, ला० सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ, बड़ौत

(२८) श्रीमती धनवती देवी ध० प० स्व० ज्ञानचन्द जी जैन, इटावा

(२९) श्री दीपचंद जी जैन ए० इंजीनियर, कानपुर

(३०) श्री गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा लालगोला

(३१) दि० जैनसमाज नाई मंडी, आगरा

(३२) दि० जैनसमाज जैनमन्दिर नमकमंडी, आगरा

(३३) श्रीमती शीलकुमारी ध० प० बा० इन्द्रजीत जी वकील, कानपुर

* (३४) ,, सेठ गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, गया

* (३५) ,, बा० जीतमल शान्तिकुमार जी छाबड़ा, झूमरीतिलैया

* (३६) ,, सेठ शीतलप्रसाद जी जैन, सदर मेरठ

* (३७) ,, सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या, जयपुर

* (३८) ,, बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ. सदर मेरठ

* (३९) ,, ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन, सदर मेरठ

× (४०) ,, ला० जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन, सहारनपुर

× (४१) ,, ला० नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस, रुड़की

× (४२) ,, ला० जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन, शिमला

× (४३) ,, ला० बनबारीलाल निरजनलाल जी जैन, शिमला

नोटः—जिन नामोंके पहले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत-सदस्यता के कुछ रुपये आ गये हैं बाकी आने हैं तथा जिनके नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनके रुपये अभी नहीं आये, आने हैं।

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हू जो हैं भगवान, जो मैं हू वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अज्ञान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुप दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥

—:०:—

नियमसार प्रवचन तृतीय भाग

(शुद्धभावाधिकार)

प्रवक्ता— अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज

जीवाधिकार और अजीवाधिकारका वर्णन करके अब शुद्ध भावाधिकारको कहा जायेगा। अजीवसे हटना है और जीवमे लगना है तव ही तो शुद्धभावकी उत्पत्ति होगी। इस कारण शुद्ध भावाधिकार बतानेके पहिले जीवाधिकार और अजीवाधिकारको बताया है। इन दो अधिकारोंमें भी जीवाधिकारको पहिले कहा है। जो जीव नहीं है वह अजीव है ऐसा अजीव जाननेके लिए जीवका परिज्ञान साधक है। यों जीव और अजीवाधिकारके वर्णनके पश्चात् यह शुद्धभावनात्मक अधिकार अब चलेगा। इस अधिकारमें सर्वप्रथम गाथामे कुन्दकुन्दाचार्यदेव हेयोपादेय रूपमें वहिस्तत्त्व और अतस्तत्त्वका भाव प्रकट कर रहे हैं—

जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जायेहिं वदिरित्तो ॥३८॥

अन्तस्तत्त्व व वहिस्तत्त्वके परखकी कसौटी— जीवादिक बाह्यतत्त्व अर्थात् जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये ७ बाह्य तत्त्व हैं और हेय हैं। उपादेय तत्त्व आत्माका आत्मा है। इस कथनमे कुछ श्रद्धा को भंग करने जैसी बात लगती होगी कि भाई अजीव, आश्रव वध ये हेय तत्त्व हैं सो तो ठीक है पर संवर, निर्जरा अथवा जीव और मोक्ष ये तत्त्व भी वहिस्तत्त्व बताये गए यह तो चित्तको न जचती होगी। पर इस कसौटीसे बाह्यतत्त्व और अंतस्तत्त्वका स्वरूप निर्धारित करें जिस पर हम निगाह लगायें और आत्मोपलब्धिका कार्य सिद्ध हो उसे तो कहेंगे अतस्तत्त्व और जिस पर दृष्टि करने से कुछ भेद ही वने, स्वरूपमग्नता न हो, उसे कहेंगे बाह्यतत्त्व।

जीवतत्त्वकी वहिस्तत्त्वरूपता— अब इस कसौटीसे सब परख लीजिए। जीवके सम्बन्धमें और अंतरङ्गमें प्रवेश करके जो कारणपरमात्मत्व दृष्ट हुआ करता है वह कारणसमयसार तो अतस्तत्त्व है, क्योंकि इस कारणसमयसारके आलम्बनसे कार्यसमयसार वनता है। एक इस अंतस्तत्त्वके अतिरिक्त अन्य सब जो कि परिणमन और व्यवहारकी वार्तोंसे अपना सम्बन्ध रखता है अथवा जो गुणपर्यायके रूपसे जीव-

समासोंके रूपसे अनेक प्रकारके भेदभावोंको लेकर जीवतत्त्वका परिज्ञान होता है वे सब बाह्यतत्त्व हैं।

संवर निर्जरा व मोक्षकी बहिस्तत्त्वरूपता— इसी तरह संवर, निर्जरा तत्त्व किसी समय तक यद्यपि उपादेय हैं, फिर भी यह शुद्ध जीवका स्वरूप नहीं हैं। इस तत्त्वके लक्षण पर दृष्टि देने से शुद्ध अभेद स्वाधिक व नहीं जगता है, भेद ही उत्पन्न होता है। इस कारण यह भी बाह्यतत्त्व बन जाता है। यही बात है मोक्षतत्त्वकी मोक्षतत्त्वमें द्वैत ही तो दिखता है। छूटना क्या किसी अद्वैत वस्तुका स्वरूप है? छूटना कैसा? एक छूटने-वाला और एक जिससे छूटा जाय ऐसी-ऐसी बातोंके आये बिना मोक्षतत्त्व नहीं बनता है और फिर मोक्षमें जो बात प्रकट होती है ऐसे शुद्धपरिणमन की बात ली जाय तो वह भी भव्यपुरुषोंके मूलदृष्टि रूप उपायकी चीज नहीं है। जिसका आलम्बन करके यह जीव शुद्ध पर्याय परिणत होता है ऐसा वह तत्त्व नहीं है, अत यह सप्ततत्त्वका समूह बाह्यतत्त्व कहा गया है और अतस्तत्त्व आत्माका आत्मा ही है।

सम्यग्दर्शनकी विविक्त आत्मरूपता— इन ७ तत्त्वोंमें जिस प्रकारके जीवको बहिस्तत्त्वमें शामिल किया है जिससे कि आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष बन सके, ऐसा भी जीवतत्त्व पर्यायरूप है, भेदरूप है और इसी कारण सब इन भेदोंका आधारभूत अवस्थावान जीव बाह्यतत्त्वमें गिना जाता है। इसी कारण ७ तत्त्वोंका श्रद्धान स्वयं सम्यग्दर्शन नहीं है किन्तु ७ तत्त्वोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शनका कारण है। सम्यग्दर्शन तो स्वयं अतस्तत्त्वकी प्रतीतिरूप है। यह अधिकार शुद्धभावका किया जा रहा है, इस कारण सर्वविशुद्ध तत्त्व जिसमें किसी भी अपेक्षासे अशुद्धता नहीं हो पर्यायगत अशुद्धता न हो, भेदगत अशुद्धता न हो, ज्ञाताके अनुरूप ज्ञेयपना न हो, कुछ अशुद्धता नहीं हो, सर्व प्रकारकी अशुद्धताएं जिसमें नहीं हैं ऐसे शुद्ध निज सहजस्वभावका दर्शन सम्यग्दर्शन है।

प्रभुभक्ति और स्वरूपनिर्णय— मुक्त प्रभुकी भक्तिका भी प्रयोजन है। यह स्वरूपनिर्णय है। प्रभुकी भक्ति प्रभुभक्तके स्थानमें है और सहज स्वभावका निर्णय सहजस्वभावके स्थानमें है। कहीं सहजस्वभावके निर्णयके समय यह नहीं जानना कि प्रभुका कुछ अनादर किया जा रहा होगा। विवेकी जानता है कि स्वभावकी महिमा माननेका व्यवहारमें यह अर्थ बनता है कि प्रभुकी महिमा जाहिर की है। जैसा सहजस्वभाव है वैसा प्रकट हुआ है। ऐसी ही महिमा भगवानमें होती है। ये जीवादिक तत्त्व बहिस्तत्त्व होने के कारण उपादेय नहीं हैं, पर चीज होनेके कारण

आलम्बने योग्य नहीं हैं। आत्माका आत्मा ही स्वद्रव्य है और वह उपादेय है।

आत्मा शब्दके वाच्य भावकी व्यापकता— आत्माका अर्थ बहुत अंतरङ्ग मर्मको लिए हुए है। उसके समकक्ष जीव शब्दका वाच्य बहिस्तत्त्व है। आत्माका अर्थ स्व होता है। अपन, स्वय, यह जीव स्वय अपने आप जैसा है उसे तो कहते हैं आत्मा और उस आत्माकी भी अन्य बातें निरखना जो आश्रव बधरूप हो तथा सवर, निर्जरा रूप हो और अन्यद्रव्योंसे छूट गया, अब यह केवल रह गया, ये सब बातें देखना यह सब अनात्मतत्त्व हुआ। आत्मा जब जब जो अपने स्वरूपके प्रति विवक्षित होता है वह आत्मा कहलाता है। अपना आत्मा उपादेय है, अतस्तत्त्व है।

अन्तस्तत्त्वकी व्याख्या— अन्तस्तत्त्वके विषयमें इस गाथामें कहा है कि कर्म उपाधिसे उत्पन्न हुए गुणपर्यायसे जो व्यतिरिक्त है, विविक्त है ऐसे अपने आपको आप उपादेय तत्त्व है। ऐसा यह आत्मतत्त्व किसके लिए उपादेय है? स्वद्रव्यमें ही जिसने अपनी बुद्धि निश्चितकी है, तीक्ष्ण की है, ऐसे परम योगीश्वरके लिए वह उपादेयभूत बनता है जैसे कोई हीरा रत्न मिल जाय तो मूढ़ भील और लकड़हारोंको उपादेय नहीं हो पाता, किसी जौहरीके समीप पहुचे तो उसके लिए वह उपादेय होता है। हाथमें रक्खा हुआ रत्न भी मूर्ख पुरुषको उपादेय नहीं हो रहा है। इसी प्रकार अपने आपमें शाश्वत विराजमान् यह ज्ञायक स्वरूप मोही पुरुषको उपादेय नहीं हो रहा है।

परिज्ञानके अभावमें स्वय स्वयसे अत्यन्त दूर— जैसे उस मूर्खके, लकड़हारेके हाथमें ही रत्न है, केवल एक यथार्थ ज्ञान कर लेनेसे वह उपादेय बन जाता है। चीज नहीं कहींसे लेना है। चीज वही है पर सही ज्ञान बना लेनेसे लाभ मिल जायेगा। इसी प्रकार यह प्रभु जिसकी दृष्टि ससारके समस्त संकटोंसे नष्ट कर देती है उस प्रभुको कहीं खोजना नहीं है, कहीं दौड़कर जाकर मिलना नहीं है। यह है, स्वय है, वह यथार्थज्ञान कर लेनेसे यह हमको हस्तगत होती है, पर यह कारणसमयसार, यह परमपारिणामिक भाव, आत्माका आत्मतत्त्व उपादान हो रहा है उन परमयोगीश्वरोंको जो पचेन्द्रियके प्रसारसे रहित शरीर मात्र ही परिग्रह वाले हैं।

हार्दिक रुचिकी प्रतिक्रिया— जैसे उपन्यासोंमें, कथानकोंमें, नाटकोंमें देखा होगा, जो पुरुष जिस किसी का भी मनसे प्रेमी हो जाता है उसकी प्राप्तिके लिए अपना सर्वस्व खो देता है, त्याग देता है, केवल उसकी प्राप्ति

का ही भाव रहता है। एक थियेटरमें बताते है कि लैला मजनू एक जगह पढ़ते थे। उनका परस्परमें स्नेह हुआ। मजनू तो एक गरीबका लड़का था और लैला एक बादशाहकी लड़की थी। अब जब बहुत दिनोंके पश्चात् बादशाहके भी मनमें आया कि ठीक है, यही सम्बन्ध हो और इसी लिए गांवमें यह आर्डर दिया था कि मजनू जिस दुकानमें जो चीज खाये प्रत्येक लोग उसे दे दें और बादमें खजानेसे हिसाब लें। अब तो हजारों मजनू बन गये। जब दुकानोंमे मनमाना खाने को मिले तो फिर क्या था? अब वहीं परेशानी आयी। किसको जानें कि यह मजनू है। तो उसने परीक्षा यह की कि आगनके बीचमें बड़ा पतला एक खम्भा बनाया और उस पर आसन बनाकर लैलाको बैठाल दिया और मजनूको निमन्त्रण दिया कि मजनू हमारे यहा आये। वहा हजारों मजनू आए। वहा आगनमें कुछ लकड़ी पत्ती बिछा दिया था। उसीमें बादशाहने आग लगवा दी। तो जितने भी बनावटी मजनू खडे थे वे सब तमाशा देखते ही रहे और जो असली मजनू था वह आगमें चला गया लैलाको जलने से बचानेका यत्न करने लगा। तो बादशाहने जान लिया कि वास्तविक मजनू कौन है ?

अनुरज्यमान् तत्त्वके लिये सर्वस्व समर्पण— इस संसारमें जो जिस का अनुरागी हो जाता है वह उसके प्रति अपना सब कुछ भी गवा देता है। तो जब असार बातोंमें भी अनुराग जगानेका इतना प्रभाव बनता है तो भला जो सारभूत है, शरणरूप है, यथार्थ समझ की जाने की बात है ऐसा आत्मतत्त्व जिसे रुच गया हो वह इस आत्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिए क्या-क्या समर्पण नहीं कर सकता ? यही कारण है कि जिनको आत्माकी तीव्र रुचि बनती है उनका रूप निर्ग्रन्थ बन जाता है अब उनके वैभवका प्रयोजन नहीं रहा, वस्त्रादिकका प्रयोजन नहीं रहा, बालकवत् निर्विकार शुद्ध हो गए उनके तो ध्यान अपने आत्मामें ही खेलते रहनेका है। विकार कहासे आए।

विषयलोलुपी और साधु संतोंकी अन्तर्वृत्ति— भैया ! एक शरीर मात्र परिग्रह साधुके रह जाता है। उसे कहा टाले वह ? यदि शरीर भी सहज त्यागा जा सकता होता तो उसे भी त्याग देते, पर शरीर कहां त्यागा जाय ? भोजनपानसे तो उसे मोह नहीं रहा। विवेक ही उनको भोजनके लिए उठाता है। कितना अन्तर है कि विषयलोलुपी पुरुषको भोजनादिक में लगानेका आग्रह करता है अज्ञान, तो साधु संतोंको विवेक समझाता है कि उठो, जावो, खा आवो। यदि यह विवेक न जगता होता साधु संतों को तो वे आहारको भी न उठते। जैसे कोई भोजन नहीं करना चाहता है

तो उसका हाथ पकड़कर कुछ तानकर मित्र ले जाता है। चलो कुछ भी खा लो, दो ही रोटी खा लो, पानी ही पी लेना। इस तरह यह विवेक साधु संतों को समझाता है कि महाराज कुछ भी तो चर्या करलो, अभी बड़ी साधना करना है। तो साधु संतोंके आहार करानेमें विवेकका हाथ है, अन्यथा वह करता ही नहीं है।

अन्तस्तत्त्वके उपादाता—मोहरहित, पंचइन्द्रियके प्रसारसे रहित शरीरमात्र ही जिसका परिग्रह है ऐसे परमयोगीश्वरके ही यह आत्मतत्त्व उपादेय है। अच्छी चीज पर किसका मन न चलेगा? यह उपादेयभूत ज्ञानानन्दनिधान आत्मोपलब्धिकी बात सुहा तो जायेगी साधारणतया सबको परन्तु किसे उपादेय होती है उस स्वामीका निर्णय कर लिया जाय। इस उपादेयभूत ज्ञानानन्द स्वभावका अधिकारी विरक्त होता है, पर द्रव्यसे अत्यन्त पराङ्मुख रहता है, सहज वैराग्यका ऐसा प्रासाद उसे प्राप्त है कि जिसके शिखरपर वह शिखामणिकी तरह शोभित होता है, परद्रव्यसे पराङ्मुख इन्द्रियविजयी अपने आपमें जिसने तीक्ष्णबुद्धि लगायी है ऐसे योगीश्वर संतोंके यह आत्मतत्त्व उपादेयभूत होता है।

अन्तस्तत्त्व व बहिस्तत्त्व—यहां बहिस्तत्त्व और अंतस्तत्त्वकी बात चल रही है। जिसका आश्रय करने पर निर्मलपर्यायकी अभिव्यक्ति होती है वह तो है अंतस्तत्त्व और जो नाना प्रकारके परिज्ञान कराते हैं ऐसे जो ज्ञेय पदार्थ, ज्ञेय तत्त्व, ज्ञेय परिणतियां जो किसी रूपमें सहायक तो हैं पर साक्षात् आलम्बने योग्य नहीं हैं वे सब बाह्यतत्त्व कहलाते हैं।

तत्त्वार्थसूत्रके प्रथमसूत्रमें निश्चय व्यवहारका तथ्य—तत्वार्थसूत्रमें कुछ पहिले सूत्रोंका शब्दविन्यास देखो किस प्रकार रखा है? उन सूत्रोंमें निश्चय और व्यवहार स्वरूपका दर्शन हो रहा है। जैसे कहा गया है सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। इसमें दो पद हैं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि च मोक्षमार्गः। इसमें पहिला पद बहुवचनांत है और यह व्यवहार वाचकपद है और मोक्षमार्गः एक वचन है, एकत्वद्योतक है, वह निश्चयवाचक वचन है। इस ही प्रकार "तत्त्वार्थश्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम् तत्त्वार्थश्रद्धानं" यह व्यवहार वचन है और "सम्यग्दर्शन" यह निश्चयपरकवचन है। इसही बातको इस गाथामें ध्वनित किया गया है।

तत्त्वार्थसूत्रके द्वितीय व तृतीय सूत्रमें निश्चय व्यवहारका तथ्य—अब आगेके सूत्रमें देखो—तन्निसर्गादधिगमाद्वा, सम्यग्दर्शन निसर्गसे और अधिगमसे होता है। निसर्गसे होनेकी बात निश्चयको सूचित करती है

और अधिगतसे होने वाली बात व्यवहार को सूचित करती है। जरा और चलकर देखो तो जैसे कहा है "जीवाजीवाश्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्व" ये जीवादिक सात हैं बहु वचनांत है, यह व्यवहारपरक है और तत्त्व एक वचन है, भाववाचक है, यह शब्दनिश्चय वाचक है। तत्त्व इस निगाहमें कुछ परख लेना, सो निश्चयका विषय है और ७ पदोंके रूपमें परखते जाना, सो व्यवहारका कथन है। यह आत्माके सहज आत्मस्वरूप जो कि कर्मोपाधिजन्य सर्वकर्मोंसे भिन्न है वह तो है अन्तस्तत्त्व और उपादेय है तथा ये जीवादिक जो ७ तत्त्व बताये गये हैं वे हैं बहिस्तत्त्व और हेय। अब इसी सम्बन्धमें आगे वर्णन होगा।

शुद्ध भाव— इस अधिकारमें शुद्ध भावका वर्णन चल रहा है। जीवके भाव ५ होते हैं—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। इन भावोंमें पूर्ण शुद्धभाव अर्थात् निरपेक्ष भाव, जिसमें उपाधिके सद्भाव अथवा अभाव की भी उपेक्षा नहीं है, ऐसा भाव है पारिणामिक भाव।

औपशमिकादि भावोंकी अशुद्धता— औपशमिक भाव कर्मप्रकृतियों के उपशमसे होता है। यद्यपि उपशमके कालमें पर्यायदृष्टिसे वह भाव निर्मल है तथापि उसके अन्तरमें मलिनता होनेकी योग्यता पड़ी है तथा कर्मोपाधिका दबा हुआ निमित्त पड़ा है और उपशमके निमित्तसे यह भाव हुआ है। अत उसे शुद्ध भाव नहीं कहा गया है। क्षायिक भाव यद्यपि कर्मप्रकृतियोंके क्षयसे उत्पन्न होता है और वह पूर्ण निर्मल भाव है, किन्तु अध्यात्म पद्धतिमें निरपेक्ष भावको शुद्ध कहा गया है। प्रकृतिक्षयके निमित्त से होने वाले भावको इस दृष्टिमें शुद्ध नहीं कहा। क्षायोपशमिक भाव, इसमें तो पर्यायगत अशुद्धता चल रही है। क्षायोपशमिक भाव कर्मप्रकृति के क्षयसे और उपशमसे ही नहीं होता किन्तु क्षय और उपशमके साथ किसी प्रकृतिका उदय भी चाहिए, तब क्षायोपशमिक भाव बनता है और उसमें मिश्ररूपसे मलिनता पायी जाती है। वह शुद्धभाव नहीं है। औदयिक भाव तो प्रकट अशुद्ध है। कर्मप्रकृतिके उदयके निमित्तसे उत्पन्न होता है।

शुद्धभावकी औपशमिकादिचतुष्कागोचरता— औपशमिक क्षायोपशमिक क्षायिक और औदयिक इन चार भावोंसे परे, इनका अगोचर और भी किसी भी प्रकारका विभाव गुणपर्याय जहां नहीं है, द्रव्यकर्म, भावकर्म नोकर्मकी उपाधिसे उत्पन्न होने वाले विभाव भावसे जो रहित है, ऐसा परमपारिणामिक भाव स्वरूप आत्मा है, यह अन्तस्तत्त्वरूप अपना

भावस्वरूप आत्मा है, यह अन्तस्तत्त्वस्वरूप अपना आत्मा कहा जा रहा है। 'अपना आत्मा' इस शब्दके कहनेसे आत्मद्रव्य लिया जाए-ऐसी धुनि नहीं है, किन्तु अपना आत्मा अपना स्वरूप सहजस्वभाव उसे कहा गया है अपना आत्मा। जो अति अभीष्ट होता है, उसे भी लोकमे अपना आत्मा कहते हैं। तो ऐसा अपना अन्तस्तत्त्व अथवा आत्मा क्या है? इसके प्रकरणमें बताया जा रहा है कि जो अनादि है, अनन्त है, अमूर्त है, अतीन्द्रिय स्वभावी है— ऐसा जो शुद्ध निरपेक्ष सहजपारिणामिक भाव है, वही है एक स्वभाव, जिसका ऐसा यह कारणपरमात्मा अपना आत्मा है।

ज्ञानीके आकुलताका अभाव— जब किसी चीजमे ममता नहीं रहती है और वह चीज बिगड़ रही हो तो थोड़ी कुछ पूर्व सम्बन्धके कारण बिगड़ते हुए देखकर जरा तो मनमें क्षोभ होता है और फिर चूंकि मोह कतई नहीं है तो झट चद्दर उठायी और तानकर सो जाता है। सो जहां जो होता है, होने दो। जिस वस्तुमें मोह नहीं होता है, उस वस्तुके प्रति इस जीवको अन्तरमे वेदना नहीं होती। इसी तरह जब विश्वके समस्त पदार्थों के प्रति जिसे मोह नही है, अज्ञान नहीं है--ऐसा जीव किसी भी पदार्थको लक्ष्यमें लेकर अन्तरमे आकुलता न मचायेगा।

प्रतिकूल घटनाओंकी हिताहितसूचकता-- भैया! व्यवहारमें ये जितनी घटनाएँ घटती हैं, जिन्हें लौकिक जन सम्मान और अपमानकी निगाहसे देखते हैं—ये घटनाएँ तो हमारी साधक हैं, परीक्षाके लिए आती हैं और उनमे हम यों खुशी हों कि हम यह समझ जाए कि हम मोक्षमार्गमे ठीक प्रगति कर रहे है या नहीं, इतना ज्ञान तो हुआ, कुछ अच्छा है। किसीने कोई प्रतिकूल बात की तो अपने आपका पता तो पड़ जाता है कि हम अपने कर्तव्यमे सफल हुए हैं और इस कर्तव्यसे दूर हैं--यह ज्ञान तो कराया।

सामायिक, स्वप्न और प्रतिकूल घटनाकी परीक्षकता-- सामायिक और स्वप्न तथा प्रतिकूल घटनाएं हमारे बड़े हितकारी परीक्षणके साधन हैं। सामायिक करते समय जो बात दुकानादि अन्य किसी कार्यके करते समय ख्यालमें भी नहीं आती हैं। सामायिकमें देख लो कि कितने विकल्प उठते हैं? दूकान करते हुए इतने विचित्र ख्यालात नही बनते और सामायिकमें दसों जगह चित्त जाता है। वह सामायिक सावधान कराने वाली दशा है और बता देती है कि तुम इतने मलिन हो, तुम घर पर, दूकानपर या किसी काममें लगे रहते थे। सो इसका भान नहीं हो पाता था कि तुम्हारे चित्तमे कितनी योग्यता भरी है? कहां-कहां तुम्हारी वासना पड़ी

है ? इसको बता दिया है सामायिकने । 'स्वप्न' नींदमें जो ख्याल बनता है और स्वप्न आता है, वह भी संस्कारकी सही बात बता देता है कि अभी हमारेमें ऐसी वासना और सस्कार बने हैं । स्वप्नमें चीज चुरा ली, किसी को पीट दिया, धन लूट लिया या और भी खोटा स्वप्न आए तो वह सब सस्कारकी सूचना देता है । इसी कारण यदि कोई खोटा स्वप्न आ जाए तो उसका प्रायश्चित् किया जाता है । उस स्वप्नका प्रायश्चित् नहीं है, किंतु जिस वासनाके आधार पर वह स्वप्न होता है उस वासनाके अपराधका भी दण्ड है । इसी प्रकार प्रतिकूल घटना भी हमारा परीक्षाकेन्द्र है ।

उत्तीर्णता—भैया ! हम चाहें मट्ठा दे और आप दे दूध तो हमें फिर क्रोधका कहा मौका मिले ? कैसे हम परीक्षा करें कि अब शान्ति है और क्रोध पर विजय किया है । जब हम दूध चाहें और मिले छाछ, तब उस समय फुंकारें ना तो जानो कि हा, हमने क्रोध पर विजय की है । प्रतिकूल घटना तो कसौटीका काम करती है । बढ़ते चलो अपनी साधनामें और ये प्रतिकूल बातें यह उत्साह देती हैं कि हा, हमने सीखा तो है कुछ । अपने परिणामोंको सभाला तो है कुछ । अब और सभालो कि ये परपदार्थ किसी भी रूप परिणमें, हमको किसी परिणमनसे कोई सम्बन्ध नहीं है । क्यों इन पर लक्ष्य देकर अपने आपमें हानि वृद्धिकी बात सोचते हो और दुःखी होते हो ?

अमृतपान—आत्मन् ! तू शुद्ध भावस्वरूप है । औदयिक भाव तो क्षणिक है । वह तो तेरा साथी नहीं है । आया, गया, ऊधम मचवाकर गया और आगामी कालमें कर्मबंध हो—ऐसी स्थिति बनाकर गया । उस से तो तेरा लाभ नहीं । उस भावको तू क्यों अपनाता है ? ये रागद्वेष मोह परिणाम सब औदयिक भाव ही तो हैं । इनको तू अपना मत मान, इन्हें पर मान । सबसे बड़ा त्याग, तपस्या सब कुछ इस मूल भावमें भरा हुआ है कि वर्तमानमें उदित हो रहे विभावोंको हम अपनेसे विविक्त समझें । इस रूप मैं नहीं हू, मैं तो एक शुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र हू । बस भैया ! इतनी ही खबर रहे तो यह ही अमृतपान है और भैया ! यह ही मूलत मोक्षमार्ग है ।

अज्ञानीके क्रोधमें क्रोधविजयकी सूझका अभाव— किसीको क्रोध बहुत आता हो तो उसे लोग बहुत-बहुत सलाह देते हैं । कोई यों सलाह देता है कि जब क्रोध आये तो मौन धारण कर लेना चाहिये । कोई यों सलाह देता है कि क्रोध आए तो पानीकी घूंट गलेमें फसाए रहना, मगर

जब क्रोध आता है तब मौनकी खबर रहे, पानी पीनेकी खबर रहे तब तो अच्छी बात है, मगर क्रोध आते समय कोई पानीसे भरा गिलास ढूंढ़ता है क्या कि अब क्रोध आ रहा है, लावो पानी पी ले ? ऐसी तो किसी को खबर ही नहीं रहती है और किसी-किसीके खबर रह भी जाती है। जब क्रोध आता है तब मौन रक्खो ऐसा कहते हैं। तो क्या किसी को ऐसी खबर भी रहती है ? ऐसी खबर ज्ञानीको ही रहती है। अविवेकी को, क्रोधीको इतना होस कहां रहता है कि वह मौन कर सके ?

विभावकी पृथकतामें सबकी पृथकताका निश्चय— यह औदयिक भाव तो विरोधी भाव है, आत्माके अहित रूप है, इसको तू मानता है कि यह मैं हूं, यह कितना बड़ा अज्ञान है ? झगड़ा पूछो तो सब कुछ इसी अज्ञानभाव पर निर्भर है। जैसे शरीरका चमड़ा छिल जाय तो रोग न ठहरेगा। इसी तरह यदि अपने उपयोगमें इस औदयिक भावको न अपनाया जाय, उपयोगसे निकल जाय तो फिर आकुलता और झगड़े कहां पर बिराजेंगे ? जो यह मानता हो कि मैं रागद्वेष विभावरूप नहीं हूं वह क्या कुटुम्ब परिवारको अपना मानेगा ? सबसे अधिक निकट सम्बंध तो इन रागद्वेष विभावोंसे है। जब इन्हें ही धुतकार दिया, इनकी ममताका परिहार कर दिया तब फिर अन्यपदार्थोंकी ममता कहां पर विराजेगी ? ये रागद्वेष, रागद्वेषकी अपनायत पर जिन्दा हैं, रागद्वेषकी अपनायत का नाम मोह है और सुहा जाय, न सुहा जाय इस वृत्तिका नाम रागद्वेष है। ज्ञान होने पर यह सावधानी तो नियमसे रहती है कि वह ज्ञातापुरुष रागमें राग नहीं करता है, पर राग हटे इसमें तो ज्ञानीको भी पुरुषार्थ करना होता है।

दृष्टान्तपूर्वक औदयिक भावपर विजयका उपाय— औदयिक भाव के हटानेका उपाय उसकी उपेक्षा करना है। जैसे एक मोटे रूपमें कोई गाली दे और हम सुनें नहीं यह बात तो कठिन है। वे शब्द तो कानमें आते ही हैं। और सुनाई भी देते हैं पर उन गालियोंसे हम रूठें नहीं, 'उसने अपनेको दी' मानें नहीं, अथवा गाली देने वाले को अज्ञानी जानकर रोष करें नहीं, इस बातपर तो वश है, पर कानमें ये शब्द न आयें इस पर वश नहीं है। एक मोटी बात कही जा रही है। कोई यों कहे कि हम कानमें अगुली लगाये लेते हैं तो फिर शब्द सुनाई न देंगे। ऐसी कोई विरुद्ध उद्यम वाली बात नहीं कह रहे हैं। एक सहज बात कही जा रही है कि सुनी हुई बातमें हम विवेक बनाए रहें, रागद्वेष न करें यह तो बात निभ सकती है पर शब्द न सुनाई दे इस पर अपना वश नहीं चलता है। कभी तो शब्द

सुनाई न दे ऐसी भी स्थिति हो जाती है जैसे कि हो गए दत्तचित्त, निर्विकल्प ज्ञायकस्वरूपके अनुभवमें तो वहां शब्द भी नहीं सुनाई देता। सामने से कोई निकल जाय, वह भी नहीं दिखाई देता। इसी तरह ज्ञानभावकी उत्कृष्ट स्थितिमें राग और द्वेष नहीं होते, ऐसी स्थिति बन जाती है पर ज्ञान होने पर कुछ समय तक राग द्वेष होते रहते हैं तो भी यह ज्ञानी पुरुष उन रागादिकोंको अपनाता नहीं है।

रागादिक भावको अपनाये बिना निकल जाने देनेकी भावना— जैसे फोड़ा हो जाता है ना, और पक जाय, पीप निकल जायेगी तो वहां पीपको अपने हाथोंसे भी निकालते हैं। पीप निकल रही है, देख रहे हैं और भीतरसे यह सोच रहे हैं कि निकल जाय और निकल जाय और उसे ज्यादा मसकते हैं और जानकार चाहता है कि निकल जाने दो। यों ही पीपकी तरह समझलो विषयकषायका रोग होता है इन अध्यवसानके फोड़ोंमें। तो ज्ञानी तो कहता है कि निकल जावो। क्या कोई उस फोड़े के पीपको अपनाता भी है कि अभी रहने दो? ऐसा तो कोई नहीं करता। यों ही ज्ञानी जीवको विषयवासना क्रोधादिक कषाय, परद्रव्यकी इच्छा ये बातें उत्पन्न होती हैं तो इन रागादिक भावों पर उसकी यों ही दृष्टि रहती है कि निकल जाने दो, अपन तो अपनेमें सुरक्षित हैं।

अन्तर्बल और विभावका निकलना— कभी स्वप्न आया हो किसी को ऐसा कि कहीं मैं पड़ा हुआ हूं और ऊपरसे कोई हाथी निकल रहा है या मोटर निकल रही हो या रेलगाड़ी जा रही हो, तो उस समय अपनेमें ऐसा उत्साह बनाया है कि निकल जाने दो। थोड़ा देखते भी हैं कि अभी कितनी रह गयी रेल? इतनी और निकल जाने दो। बड़े अन्तरमें एक साहस बना है और गुजरती हुई बातको गुजर जाने दो, इस दृष्टिसे निरखते हैं। इसी तरह ज्ञानी जीव उदयमें आए हुए रागद्वेष परिणामोंको इस दृष्टिसे निरखता है कि इन्हें यों ही निकल जाने दो, ये निकलने को ही आए हैं, और अधिक क्या कहें? निकलने का नाम ही उदय या आना है।

विभावका अटिकाव— भैया! कोई रागभाव मेहमानकी तरह एक दिन ठहर जायें ऐसा नहीं है। रागादिक भावोंके निकलने का नाम ही उनका आना कहलाता है। जैसे कोई बाहरसे दौड़कर भीतर आए दरवाजे से निकलकर या दरवाजेसे दौड़कर बाहर गया तो दरवाजे पर उसकी कितनी स्थिति रही? क्या दरवाजे पर ठहरा? अरे दरवाजेसे निकला इसका नाम ही आना है। ऐसे ही आत्मामें रागादिक भाव होते हैं, वे

ठहरते हैं और वे निकल रहे हैं, निकलनेका नाम ही आना कहलाता है। जैसे सूर्यका आना, सूर्यका उदय होना--इसका अर्थ सूर्यका निकलना है। निकलनेको ही आना कहा जाएगा। कहीं एक सेकेण्डको भी तो सूर्य खड़ा हो जाए, कहीं खड़ा नहीं होता है। यों ही रागादिक भाव भी निकलते हैं--ये निकलकर कहीं पर कुछ समय बैठ जायें, रह जायें--ऐसा इनका स्वरूप ही नहीं है। फिर परिणमन किसका नाम है? फिर तो कोई ध्रुव भाव बन जाएगा। परिणमन तो कभी भी दूसरे समय नहीं टिकता। निकलनेका नाम परिणमन है और जो हमें बाहरसे दिखता है कि ये अनेक परिणमन टिके हुए हैं। जैसा कल था, वैसा ही आज है, सो ऐसी बात नहीं है। कोई भी एक परिणमन दूसरे समयमें नहीं रहता, किन्तु कोई परिणमन मोटे रूपसे सदृश ही सदृश हो जाये तो उसमें यह ख्याल जम जाता है कि यह तो जो कल था, वही आज है। यह सब कुछ बदला ही कहा है? परिणमन तो चलता रहता है और वस्तु वहीं बनी रहती है। ये सब तो औदयिक भाव प्रकट मलिन परिणाम हैं, ये आत्मस्वरूप नहीं हैं।

पारिणामिक भाव-- अब रहा पंचम भाव-पारिणामिक भाव। सो जीवके पारिणामिक भाव तीन बताए गए हैं--जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। उनमें से भव्यत्व और अभव्यत्व अशुद्ध पारिणामिक भाव हैं अर्थात् कर्मोंके उदय उपशम, क्षायिक व क्षायोपशमसे नहीं होते हैं। इस कारण भव्यत्व व अभव्यत्व पारिणामिक हैं, फिर भी उनमें यह दृष्टि बनी है कि जो रत्नत्रयरूप होनेकी योग्यता रखे, उसे भव्य कहते हैं और जो रत्नत्रयरूप होनेकी योग्यता न रखे उसे अभव्य कहते हैं। ऐसी भवितव्यता पर, सम्भावना पर ये भाव आधारित हैं। इसलिए ये पूर्ण निरपेक्ष नहीं हैं, इन्हें अशुद्ध पारिणामिक भाव कहते हैं। जीवत्व भाव दो प्रकारका है--दस प्राणों करिके जीना और चैतन्यस्वभाव करके जीना। इसमें दस प्राणोंकरिजीनारूप जीवत्व भाव अशुद्ध भाव है। वर्तमानमें दस प्राणोंकर जी रहा है--ऐसी बात अशुद्धताका कथन है। भावीकालमें जीवेगा--यह भी अशुद्धताका कथन है और जब जीव शब्दका अर्थ सिद्धोंमें सिद्ध करने जाते हैं तो वहां अर्थ लगाना पड़ता है कि जो दस प्राणों करके जिया था, उसे जीव कहते हैं। लो मर मिटे, सिद्ध हैं, भगवान् हैं और अब भी थापा जी रहा है अथवा ये दस प्राणोंसे जीते थे, इसलिए इसका नाम जीव है। ऐसे जीवत्वका आशय अशुद्ध आशय है, निरपेक्ष आशय नहीं है। केवल चैतन्य स्वरसकर वृत्ति होना यह ही शुद्ध पारिणामिक भाव है।

शरणभूत अन्तस्तत्त्व – शुद्ध पारिणामिक भावस्वरूप कारणपरमात्मा ही अपना आत्मा है और इसे अन्तस्तत्त्व कहते हैं तथा जीवादिक ७ पदार्थ अथवा ९ पदार्थ—ये सब बहिस्तत्त्व कहलाते हैं। जो कल्याणमय भव्य जीव हैं, उनको ऐसे निज परमात्माको छोड़कर ऐसे कारणसमयसारस्वरूप तत्त्वको छोड़कर अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है। जीव क्या कर सकता है? केवल दृष्टि कर सकता है। हाथ पर तो इसके हैं नहीं कि कोई क्रिया करे। यह तो दृष्टि भर करता है। जिसपर दृष्टि डाले, वही इसका उपादेय कहलाता है। निकटभव्य जीव इस कारणसमयसारमें ही अपनी दृष्टि रखते हैं। उनको यह कारणपरमात्मतत्त्व ही उपादेय है। अन्य बहिस्तत्त्व, औदायिक भाव, कल्पना—ये सब ज्ञानस्वभावकी प्रतीतिमें ही रखने योग्य नहीं हैं, ये सब हेय हैं। इसकी सूचना इस निम्नलिखित गाथा में आयी है और शुद्ध भावोंका स्पष्ट स्वरूप भी इस गाथामें बता दिया गया है।

नियमसार ग्रन्थमें वक्तव्य तत्त्व— इस नियमसार ग्रन्थमें किसके बारेमें चर्चा की जा रही है? यह जब तक सामने न आए तो चर्चा समझमें आ नहीं सकती। जैसे किसी पुरुषके बाबतमें कुछ कहा जा रहा हो और उस पुरुषका नाम या परिचय न मालूम हुआ हो तो सारे दास्तान सुनकर भी श्रोता कुछ ग्रहण नहीं कर पाता है। जब कोई चर्चा चलती है, किसी आदमीके बारेमें और उसका पता न हो सुनने वालेको तो वह पूछता है कि किस आदमीकी यह बात है? जब वह बता देगा कि फलाने चन्दकी यह बात है, तब उसे रस आने लगेगा इस गल्पमें, निन्दामें और जब तक न मालूम हो, तब तक रस नहीं आता है। ऐसी ही प्रशंसाकी बात है। जैसे प्रशंसा की जा रही है और न मालूम हो कि किसके बाबतमें की जा रही है? सारे दास्तान सुनकर भी उसको रस नहीं आता, क्योंकि उस व्यक्तिको पता नहीं है और जहा नाम ले लिया, तब सुनने वाला भी हां में हां मिलाकर अपनी तरफसे कुछ और चर्चा उठाकर उसमें रस लेने लगता है। इसी तरह यह बात जो कुछ कही जा रही है, यह किसके बाबत कही जा रही है? उसका पता न हो तो यह सब कुछ निरर्थकसा ही मालूम पड़ेगा।

लोकके व धर्मके बालकोंका श्रवण— जैसे किसी कहानीकी गोष्ठीमें छोटे बालक केवल कहानीका नाम सुनकर घुटने टेककर सुननेको बैठ जाते हैं, पर उन बालकोंको केवल इतनी ही चाह है कि हम सुन रहे हैं, पर उन्हें यह बात विदित नहीं हो पाती है। इसी तरह इस ज्ञानकी गोष्ठीमें जहां

लक्ष्यका परिचय करने वाले कहते या सुनते हों, वहां कोई अपरिचित बालक भले ही अपनी मुद्रासे कुछ सुननेको बैठे, परन्तु केवल इतना ही उस को आनन्द है कि हां हम सुनते हैं, पर उसे कुछ भी रस नहीं आ पाता है। कष्ट इतना ही किया जा रहा है—आना, सुनना, बैठना, उठना, समय लगाना और कामका भी छोडना। थोडा मनोयोग सभाल कर कुछ लक्ष्य की पहिचान करते तो यह बड़ी बात ऐसी मालूम पडेगी कि हां एक एक वचन सत्य है—यह ठीक तो कहा जा रहा है।

कारणसमयसारका लक्ष्य—भैया! इस नियमसारमें आद्योपांत एक ही लक्ष्य रखा गया है और वह लक्ष्य है उस नियमकी दृष्टि करना, जिस नियमकी दृष्टिसे नियमसार प्रकट होता है अथवा उस नियमसारकी दृष्टि करना जिसकी दृष्टिसे नियम चलता है अर्थात् कारणसमयसारकी दृष्टि करना जिससे कार्यसमयसार प्रकट होता है। अपने आपके आत्मामें जो बात गुजर रही है, चाहे वह भली गुजर रही हो, चाहे बुरी गुजर रही हो, इस समस्त गुजरने वाले तत्त्वको ओझल करके जिस ज्ञानस्वभाव पर ये तरंगें चलती हैं उस ज्ञान स्वभावको लक्ष्यमें लेना। जो कुछ यहां प्रशंसा गायी जा रही है, वह तो अनादि अनन्त अहेतुक चित् स्वभावकी प्रशंसा गायी जा रही है ऐसे भव्य-जीवों को यह अपना अंतस्तत्त्व उपादेय होता है।

समयसारके प्रति कल्याणवाद—अहो यह समयसार जयवंत हो। अपनी विजयपताका फहराता हुआ निरर्गल विहार करो, ऐसे भव्य जीव इस सरल तत्त्वकी महिमा जानकर अपने हृदयके उद्गार प्रकट करते हैं। जैसे कोई भिखारी किसी दातारको आशीर्वाद देता है अथवा कोई भक्त भगवान्को जयवंत हो, तुम्हारा जय हो, ऐसे आशीर्वाद वचन कहता है इसी प्रकार इस कारणसमयसारके उपासक भव्यजीवको इतना आल्हाद हुआ है कि इसका जयवाद आशीर्वाद देता है। आशीर्वाद देना बडेका ही काम नहीं है। यह तो अपने-अपने भावप्रसंगकी बात है। कहीं बड़ा छोटे को आशीर्वाद देता है तो कहीं छोटा बडे को आशीर्वाद देता है। आशीर्वादका अर्थ है कल्याणवाद। पर भाव जुदा जुदा है। न किसी की महिमा हृदयमें पूरी नहीं समा पाती है। हृदयसे बाहर भी महिमा आती है तो उस छोटे उपासक की ऐसी आवाज निकलती है कि यह जयवंत हो। कभी कोई सरल अपने ज्ञान ध्यानकी धुनिमें रहने वाला कोई त्यागी मिलता है तो गृहस्थ भी तो उस त्यागीको चाहे मुखसे आशीर्वाद न दे, पर हृदयसे आशीर्वादके वचन निकल ही पड़ते हैं। बहुत सरल है बेचारा, खूब प्रगति

करे। तो छोटे बड़ोंके प्रति आशीर्वाद देते हैं और बड़े छोटोंके प्रति आशीर्वाद वचन बोलते हैं।

कारणसमयसारकी भक्ति, सेवा— यहां भव्य आत्मा इस महान् विराट् पंचमभाव, पारिणामिकभाव, कारणसमयसारके प्रति अपनी भक्ति प्रकट करता है कि हे समयसार तुम जयवत हो। तुम समस्त तत्त्वोंमे एक सारभूत हो। असार-असार सब निकल भागते हैं, ठहर नहीं पाते हैं पर हे कारणसमयसार! तुम तो वहीके वही अनादि अनन्त ज्योंके त्यों स्वभाव रूपसे विराजमान् रहते हो। सार बात डोलती नहीं फिरती है। सार तो अपना ज्ञानमात्र स्वभाव ही है। उसीका महान् चमत्कार दिख रहा है। जो असार हो, नकल हो, औपाधिक हो वही डोला करता है। यह कारण-समयसार सर्वतत्त्वोंमें एक सारभूत है। जो समस्त विपदाओंसे दूर हैं, निरापद हैं। उसकी ही दृष्टि करके तो आपत्ति मिटाई जा सकती है।

प्रभुता— प्रभुता अरहत देवमें है और प्रभुता प्रत्येक जीवमें है। प्रभुकी प्रभुता का ध्यान अपनी प्रभुताको समझानेके लिए है। और अपनी प्रभुताका आश्रय अभेद रत्नत्रय प्रकट करने के लिए है। यह प्रभुता निरापद है। अरहत सिद्धकी प्रभुता प्रकट व्यक्त है और हम आप सबमें वह प्रभुता स्वभावसे है। उसके ही दृढ़ रुचिया बनें, उसके ही दीवाना बनें, पागल बने दूसरी बात ही न सुहाये, वही अन्तरमें प्रकट दीखे, सर्व चीजें अहित हैं, असार हैं, नष्ट होने वाली हैं। इन भिन्न पदार्थोंमें अपने उपयोग में गड़नेसे अपने आत्मीय ढगसे तत्त्व कुछ न मिलेगा। ये सब अन्य समस्त जीवोंके भेद भिन्न हैं। निरापद तो मेरे आत्माका यह अंतस्तत्त्व है। जो चित् स्वभावमय है, अचल है, आनन्दनिधन है। अपने आपके ज्ञानके द्वारा ही अपने ज्ञानमें आ सकने योग्य है। ऐसा यह चैतन्य चमत्कार जो चकचकायमान है, ऐसा यह कारणसमयसार जयवत हो।

सर्वत्र समयसारके जयवादकी भावना— किसीसे द्वेष हो तो उससे बदला लेनेके दो तरीके हैं। एक तो लट्ठमार तरीका, जैसा चाहे बोल दिया मारने लगा, आक्रमण कर दिया। इससे तो विवाद बढ़ता है, विजय हासिल नहीं होती हैं और एक ऐसा बर्ताव या प्रेक्टिकल व्यवहार करना जिससे कि उसके चित्तमे बैरभाव ही न रहे, मित्र बन जाय, यह भी बदला लेनेका तरीका है। तो परिवारजन हों, अन्य जन हों, मित्र जन हों, विद्वेषी जन हों, सर्वजीवोंमें एक कारणसमयसार जयवत हो। तब हमारे लिए सब एक समान हैं। जगतमें कोई जीव न तो विद्वेषी है, न विरोधी है, न वैरो है और न मित्र है, किन्तु उनकी चाल चलन व्यवहार ही कुछ

स्वभावविरुद्ध है और इसकी कल्पनाके प्रतिकूल है तो वह विरोधका व्यवहार माना जाता है। यदि ज्ञान यह जयवत प्रवर्ते तो सब जीव एक समान हैं, फिर वहां द्वैतभाव नहीं रह सकता। यह कारणसमयसार सर्व विपदावोंसे दूर है, सर्वदोषोंसे मुक्त है, किन्तु इसका सर्वत्र जयवत होकर प्रवर्तना विश्वके लिए लाभदायक है। इस समयसारकी दृष्टिसे भव्य लोग काम, क्रोध, मान, माया, लोभ कषायोंसे दूर हो जाते हैं।

काल्पनिक बन्धनका कष्ट— जीवोंको दुःख है केवल कषायका और कोई दूसरा कष्ट नहीं है। पशु, पक्षी यत्र, तत्र सर्वत्र विचरते हैं। पशु पक्षी यहांसे वहां उड़ जाते हैं। कहांके उड़े कहां गये, क्या कष्ट है? थोड़ा कभी पासमें बैठे हुए समानजातीय पक्षीसे झगड़ा हो गया तो थोड़ी चोंचे मिलाकर एक सेकेण्डमें भिड़कर भाग जाते हैं। वे पक्षी बिल्कुल स्वतन्त्र हैं, पर ये मनुष्य पक्षी कितने विचित्र हैं कि ये लड़ भिड़कर अलग नहीं हो पाते हैं, अथवा ये कहींसे कहीं उड़ नहीं पाते। न खूंटेका बन्धन है, न सांकलका बन्धन है, फिर भी इतना तेज बंधा हुआ है कि यह इस बंधनसे मुक्त नहीं हो पाता। देखनेमें अचरज होता है, स्वतन्त्र है, अपनी हदमें रहता है, शरीरमें है, स्वरूपमें है, कहो तो बंधे नहीं। न पैरोंकी ओरसे कुछ बंधन दीखे, न सिरकी ओरसे कुछ बंधन दीखे किन्तु अन्तरमें कल्पनाओंका ऐसा दृढ़ बन्धन है कि न खूंटा होते हुए भी बंधा हुआ है। न गिरामा होते हुए भी गिरमा बना हुआ है। ये कहीं उड़ नहीं पाते, कहीं भाग नहीं पाते।

अन्तर्भावनाकी अनुसारिणी शुद्धि— भीतरमें जैसी जिसने ज्ञानभावना की है उसके उतनी शुद्धता बढ़ी है। बाह्य भेष रख लेनेसे या बाह्य अपनी कुछ करनी दिखा देने मात्रसे अन्तरमें अन्तर नहीं पड़ता है। जैसे श्यामको सजा देने से उसमें शूरता तो न आ जायेगी या शेर पर कोई शृङ्गार न हो तो उसकी वीरतामें अन्तर तो न आ जायेगा। यों ही जिसके ज्ञानभावना नहीं है, कारणसमयसारकी दृष्टि नहीं है, रात दिनके जीवनमें किसी भी क्षण इस सरल क्रोधरहित ज्ञायकस्वभावमय आत्माके अंतरतत्त्वकी दृष्टि नहीं जगती है वह बाहरमें शरीरकी क्रियावोंका शृङ्गार सजा ले अथवा शरीरके वेषभूषाका शृङ्गार सजा ले तो अन्तरमें अन्तर तो न आ जायेगा, और एक गृहस्थ जो फंसा है अनेक कार्योंमें, परिजनका कार्य है, दुकानका कार्य है, समाज देश धर्मके अनेक कार्य हैं उनमें पड़ा है फिर भी उसे वे कार्य सुहाते नहीं हैं। कुछ थोड़ी ऐसी प्राकृतिकता भी है, नियम तो नहीं है पर पास चीज न हो तो ललचाहट आ ही जाती है और पास

चीज हो तो ललचाहट नहीं होती है। इस कुछ प्राकृतिकताके कारण इस ज्ञानी गृहस्थको उस समागममें ललचाहट नहीं है, रुचि नहीं है और उसके ज्ञानभावना चलती हो, अपने फंसाव पर और गृहस्थी पर पछतावा बना हुआ हो तो उसका कोई श्रृङ्गार ऊपरसे नहीं है, वेषभूषा नहीं है, लेकिन धन्य है ज्ञानप्रभावना, भगवती प्रज्ञा, जिसके प्रसादसे वह मोक्षमार्गमें स्थित है।

दृष्टिके अनुसार स्वाद—एक छोटासा कथानक है कि राजा व मन्त्री दरबारमें बैठे थे। बड़ा दरबार तो न था, पर प्रथम श्रेणीका दरबार था, जिसमें कुछ ही मित्रजन थे। उस गोष्ठीमें राजाने मन्त्रीसे मजाक किया—मन्त्री ! आज रातको मुझे एक स्वप्न हुआ कि हम और तुम दोनों घूमने चले जा रहे थे तो रास्तेमें पास-पास खुदे हुए दो गड्ढे मिले। एकमें तो गोबर मैल आदि भरा था और एकमें शक्कर भरी थी। मन्त्री जी ! तुम तो गिर गये गोबर मैलके गड्ढेमें और हम गिर गए शक्करके गड्ढेमें। अब मन्त्री बोला कि महाराज ! ऐसा ही स्वप्न मुझे आया। न जाने हमारा और तुम्हारा दिल एक ही है कि जो कुछ तुमने स्वप्नमें देखा, वही मैंने देखा। हमने भी यही देखा कि हम तो गिर गए गोबर मैलके गड्ढेमें और आप गिर गए शक्करके गड्ढेमें, पर इससे आगे थोड़ासा और देखा कि आप हमें चाट रहे थे और हम आपको चाट रहे थे। बताओ भैया ! वहा क्या बात हुई ? राजाको तो चटाया गोबर मैल, क्योंकि मन्त्री मैल गोबरके गड्ढेमें पड़ा हुआ था और मन्त्रीने चाटा शक्कर, क्योंकि राजा शक्करके गड्ढेमे पड़ा हुआ था। तो ऐसा ही हाल हो जाता है कि गोबर मैलके स्थानीय जो गृहस्थीका फंदा है, उसमें पड़ा हुआ ज्ञानी गृहस्थ कहो ज्ञानरसको चाट रहा हो और कहो बडे बडे क्रियाकाण्ड करने वाला शरीर की चेष्टाए करके धर्मवेश धारण करने वाला कहो अज्ञानविष चाट रहा हो, ऐसा भी तो सम्भव है।

ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिकी प्रधान कर्तव्यता—भैया ! कोई किसी भी अवस्थामें हो, प्रधानता देनी चाहिए अपनी सुदृष्टिको कि मैं अपने आपमें बसे हुए इस गुप्त कारणसमयसारको देखूं और इसकी उपासनामें बर्तूं, इसके समक्ष अन्य सब बातें असार हैं। यह कारणसमयसार पापवृक्षको उखाड़ देनेमें कुल्हाडेकी तरह है। जहा निजज्ञायकस्वभावकी दृष्टि होती है, वहा कर्म ठहर नहीं पाते। इसमें ही शुद्धबोधका अवतार होता है। ज्ञान कहा प्रकट होता है ? एक इस निजअन्तस्तत्त्वमें। आनन्दामृत भी भरा हुआ है इसी अन्तस्तत्त्वमें। कार्य सरल भी है और कठिन भी है अथवा

यों कहो कि कार्य सुगम है या असंभव है, कठिन नामकी बात नहीं है। जब दशा अज्ञानकी है, तब ऐसा अनन्दामृत पा सकना उस दशामें असम्भव है और जब ज्ञानावस्था है तो ऐसे आनन्दामृतका पान कर लेना वहां सुगम ही है। यहां ज़बरदस्तीका सवाल नहीं है।

विद्याकी शरीरबलपर अनिर्भरता— बचपनकी बात है कि एक बार हमसे एक पहलवान विद्यार्थीका झगड़ा हो गया। था वह सहपाठी। हम कक्षामें सबसे छोटे थे; कोई तो ४ वर्ष बड़ा, कोई ५ वर्ष बड़ा। वह हमसे ५ वर्ष बड़ा था। उस झगड़ेमें बलप्रयोग तो हम कर नहीं सकते थे, शरीरमें बल न था; किन्तु उस समय हम तो बातोंसे मुकाबिला किए रहते थे। तो जब बहुत ही झगड़ा हो गया। था वह लड़का कुछ मूर्खसा, अच्छे नम्बर न आते थे। तो एक किताब खोलकर उस पर मैं हाथ मारने लगा। जैसे कि पहलवान लोग कुश्तीमें पहलवान पर हाथ लगाते हैं—ऐसे ही हमने उस पुस्तकपर हाथ मारकर कहा कि हमें विद्या आएगी क्यों नहीं। वह समझ गया कि यह हमको लक्ष्य करके कह रहा है। वह शरम करके झगड़ा छोड़ कर उधेड़बुनमें लग गया। तो विद्या कोई जबरदस्तीकी चीज नहीं है और इस सहजस्वभावकी दृष्टि जबरदस्तीकी बात नहीं है कि जबरदस्तीकरके बना लो। यह तो जब बनता है तो झट बनता है और जब नहीं बनता है तो वहां उसका आसार ही नहीं रहता। उद्यम जरूर किया जाता है, पर यह प्रकट कठिनाईसे नहीं होता, यह सुगमता से होता है, सहजक्रिया से होता है।

अमोघ औषधि— यह कारणसमयसार समस्त क्लेशविपत्तिसे दूर है, यह समस्त कष्टोंके मिटानेकी अचूक दवा है। बाकी सब दवाएं कहो कि कभी काम दे जायें, कभी न काम करें; पर यह बड़ी अचूक दवा है उन समस्त क्लेशोंके दूर करनेकी। आयें संकट, कितने आयेंगे, किन किनके नाम संकट हैं। एक भजन है—प्यारी विपदाओं आवो। प्रतिनिद्रामें सोये जनको बारम्बार जगावो। आवो कष्ट! कितने आवोगे? रागकी निद्रामें सोये हुएको बारम्बार जगाओ अर्थात् खूब आवो। कौन-कौनसा नाम लें कष्टोंका। टोटा पड़ गया, स्त्री गुजर गयी, इकलौता बेटा बहुत ही अधिक बीमार है, पैसा नहीं रहा, समाजके लोग पूछते नहीं हैं, और भी जितने कष्ट हो सकते हों, उन सबको संभावना करके अपने पास रख लो और अपने उपयोगको भीतर स्वरूपमें लगाकर ऐसा दर्शन करो कि यह तो केवल चैतन्यस्वरूपमात्र है। इतनी दृष्टि करते ही वे सारे क्लेश उड़ जाते हैं, एक भी क्लेश वहां नहीं ठहरते हैं। यह अचूक दवाकी बात कही जा

रही है, जिससे करते बने, वह करके स्वस्थ हो जाता है और जिससे न करते बने, वह इसके चाहनेकी कोशिश करे।

अन्तस्तत्त्वकी अनुपलब्धिपर पठितमूढोंकी छलभरी चतुराई—न कुछ पा सके तो सब बातें ही बातें हैं। कोई करके तो दिखावे—ये सब तो पुस्तकोंकी बातें हैं—ऐसी बात कहकर स्वच्छन्दतापूर्वक लगे रहना और विषयपोषनेकी वृत्ति बनाना, इससे कुछ लाभ नहीं होता है। भले ही लोग जानें कि हम बड़ी चतुराईका काम कर रहे हैं। सो यह ऐसी बात है कि जैसे लोमड़ी अगूरोंको पकड़ नहीं सकी, कितना ही प्रयत्न करने पर जब अगूर न पा सकी तो ये अगूर खट्टे हैं—ऐसा कहकर अपना मन तुष्ट कर लिया उस लोमड़ीने, क्योंकि चतुराई करनेसे उस लोमड़ीको कुछ भी न मिला।

औषधि और पथ्य— भैया! सकटमुक्तिकी एक ही दवा है—सनातन अहेतुक कारणसमयसारकी दृष्टि करना। इस उपायको कुछ तो महत्त्व दीजिए। इसकी उपासनासे पापोंका क्षय हो जाता है, पुण्य उदीर्ण होकर सामने आता है और जो चाहे, वही उपलब्ध हो जाता है। इसके साथ निर्वाञ्छकताका पथ्य होना चाहिए। भगवान्की सेवा करनेसे धन व वैभव कुटुम्ब सब जैसा चाहो, मिल जाता है—यह बात सच है, गलत नहीं है, मगर कोई इस ही भावसे भगवान् की सेवा करे, पूजा करे कि मुझे धन व परिजन अच्छे मिलें तो उससे कुछ लाभ न मिलेगा, यह तो गोरखधधा है। तो ऐसा यह कारणसमयसार है, जिसकी उपासनासे सर्वक्लेश दूर हो जाते हैं।

इस कारणसमयसारकी कैसी स्थिति है? इस सम्बन्धमें कुन्दकुन्दाचार्य देव निषेधपरक पद्धतिसे यह बतलावेंगे कि इस कारणसमयसारमें ये परतत्त्व नहीं हैं।

णो खलु स्वभावठाणा णो माणवमाणभावठाणा वा।
णो हरिसभावठाणा णो जीवस्साहरिस्सठाणा वा॥३६॥

शुद्ध जीवास्तिकायके विभावस्वभावस्थानोंका अभाव— इस आत्मतत्त्वमें स्वभाव स्थान नहीं है। स्वभावस्थान शब्दसे अर्थ लेना है कि विभावस्वभाव स्थान नहीं है। ऐसा ग्रहण करनेका कारण यह है कि स्वभावमें तो स्थानभेद होता ही नहीं है। स्वभाव अखण्ड अहेतुक सनातन एकस्वरूप होता है। फिर स्वभावस्थान जब होता ही नहीं है तो मना करने की आवश्यकता ही क्या है? पर जीवमें परउपाधिका निमित्त पाकर इसके खुदके परिणमनके जो विभाव होते हैं, उन विभावोंके असंख्यात

स्थान है, वे सब विभावस्थान इस अंतस्तत्त्वमें नहीं हैं। आत्माका जो अंतस्तत्त्व आत्मा है उसमें यह कोई स्थान नहीं है। यह अंतस्तत्त्व त्रिकाल निरुपाधि स्वरूप है, स्वभावमें उपाधि नहीं होती है।

आत्मस्वरूपमें स्वभावविभावस्थानोंका निषेध— स्वभाव कहते हैं शक्तिको। व्यक्तिका नाम स्वभाव नहीं है। चाहे कहीं स्वभावके अनुरूप व्यक्ति हो जाय पर स्वभाव नाम है शक्तिका और शक्ति होती है पदार्थ का प्राणभूत। शक्तिका ही यदि आवरण होने लगे तो द्रव्यका अभाव हो जावेगा। इस कारण यह द्रव्यस्वभावरूप जो अंतस्तत्त्व है इसके विभाव स्वभाव स्थान नहीं होते हैं। यह बतला रहे हैं आधार आधेय भावके ढंग से; इस कारण इस जीवको अस्तिकायके रूपमें निरख करके उसे आधार मानकर फिर इस स्थानका निषेध किया जाय। जैसे पहिली गाथामें यह वर्णन था कि गुण पर्यायों से यह अंतस्तत्त्व रहित है। वहां कारणसमय-सारकी मुख्यतासे अथवा जीवास्तिकायकी मुख्यतासे उसमें निषेध किया गया है। यह विभावस्वभावों का निषेध हुआ ना, और भी जो आगे भाव कहेंगे उनका होनेका कुछ क्षेत्रदृष्टिकी मुख्यता रखकर आधार आधेयता मानते हुए, निषेध किया जा रहा है। तो यों कहना चाहिए कि शुद्ध जीवास्तिकायके विभावस्वभाव स्थान नहीं है।

जीवको ही पदार्थ, अस्तिकाय, द्रव्य व तत्त्वके रूपमें निरखनेकी दृष्टियां-- शुद्ध अंतस्तत्त्व, शुद्ध जीव द्रव्य, शुद्ध जीवास्तिकाय, शुद्ध जीव पदार्थ--ये चार बातें चार दृष्टियोंकी मुख्यतासे बतायी जाती हैं। द्रव्यदृष्टि की मुख्यतासे जीवपदार्थ नाम पड़ता है। द्रव्य कहते हैं गुण पर्यायके पिण्डको और पिण्डकी मुख्यतासे वस्तुकी जो निरख होती है वह प्रचलन व्यवहार और समझके आचरणके अनुसार पदार्थके रूपमें होती है। क्षेत्र दृष्टिसे यह जीव जीवास्तिकायके रूपमें निरखा जाता है, क्योंकि क्षेत्रका सम्बन्ध प्रदेशसे है और बहुप्रदेशिताका नाम अस्तिकाय है। कालदृष्टिसे जीवके निरखने पर यह जीवद्रव्य इस प्रकारसे निरखा जाता है, क्योंकि काल निरखता है पर्यायोंको। द्रव्य कहते हैं उसे जिसने पर्यायें पायीं, जो पर्यायें पा रहा है, पर्याय पावेगा उसे जीवद्रव्य कहते हैं। तो कालकी प्रमुखतामें इस जीवके निरखने पर जीवद्रव्यके रूपमें सम्मुख आता है, भावकी दृष्टिसे देखने पर यह जीव तत्त्वके रूपमें अंतस्तत्त्वके रूपसे यह निरखा जाता है। अभेदविवक्षामें कारणसमयसार कारणपरमात्मतत्त्व ज्ञायकस्वभाव चित्स्वरूप इस रूपमें निरखा जाता है। यहां यह कह रहे हैं कि इस शुद्ध जीवास्तिकायमें विभावस्वभावस्थान नहीं है।

आत्मामें सहज भावका सत्त्व व असहज भावका असत्त्व— इस शुद्ध जीवास्तिकायके मान और अपमानके भावस्थान नहीं है। जीवमें अपने आपकी ओरसे स्वरसतः जो बात होगी वह तो शुद्ध जीवास्तिकाय की मानी जायेगी और स्व रससे सहज अपने आपके ही मात्र कारणसे जो बातें नहीं होती हैं, कारण उपाधिका सन्निधान पाकर होती हैं, वे सब इस शुद्ध जीवास्तिकायके नहीं हैं। अपने आपको ही देखो जब ऊपरसे देखते हैं तो ये सारी इल्लतें अपने में लगी हैं। किसी का राग, किसीका विरोध, किसीका भला, किसीका बुरा, सक्लेश, विशुद्धि कितने कठिन अपने आपके ऊपर भार लदे हैं। जब अन्दर आकर स्वभाव और शक्ति को निरखते हैं तो स्वभावको निरखते हुए पर आप बडे उत्साह और वेगसे कह देंगे कि इस मुझ आत्मामें रागद्वेष मान अपमान, ये कोई स्थान नहीं हैं, दृष्टिकी बात है। कहा दृष्टि लगाकर क्या देखा जाता है और कहा दृष्टि लगाकर क्या मालूम पड़ता है ?

अपने भविष्यकी दृष्टिपर निर्भरता— भैया ! आत्माका सब कुछ भविष्य एक दृष्टि पर निर्भर रहता है। दृष्टिसे ही यह ससारमें रुलनेका साधन बना लेता है और दृष्टिसे ही यह ससारमें रुलनेका साधन दूर कर लेता है। शुभ और अशुभ सर्व प्रकारके मोह रागद्वेष भाव इस शुद्ध जीवास्तिकायमें नहीं हैं। इस कारण न तो मान अपमानके स्थान हैं हममें और न मान अपमानके निमित्तभूत कर्मोदयके स्थान हैं। यह तो सहज शुद्ध-ज्ञायकस्वरूप मात्र हैं। यहा वहा दृष्टि दी गयी है कि जिस अतस्तत्वके दर्शन पर यहाके सारे सकट एक साथ दूर हो जाते हैं।

अन्तरसे सकटकी कृत्रिम उद्भूति— भैया ! संकट माननेका ही तो है। परपदार्थसे वास्तविक कोई सकट नहीं है। पर मान्यता ही इतनी बेढब बना ली हो कि ये छोडे ही नहीं जा सकते। आखिर छूट तो जायेंगे, पर मरने पर छूटते हैं। सो भी ऐसा ऐब लगा है कि जिस भवमें जायेगा उस भवमे नवीन प्रकारकी ममता लगा लेगा। इतना साहस नहीं बनता कि जो चीज छूट जाती है, दो दिन बाद छूटेगी उसके प्रति ख्याल ही तो बना लिया, भावना ही तो दृढ करली। यहा मेरा कुछ नहीं है, अन्तरमें ऐसा उत्साह नहीं हो पाता है अज्ञान दशामें। इसका क्या तो सम्मान और क्या तो अपमान ?

अन्य प्राणी द्वारा आत्मस्वरूपके सन्मान अपमानकी अशक्यता— इस मुझ आत्मपदार्थका जो अमृत है, टकोत्कीर्णवत् निश्चल शुद्ध ज्ञायकस्वभाव है, इसका भला कोई सम्मान और अपमान कर सकता है ?

किसीमें ऐसी शक्ति ? कोई कुछ कहे। हम इस देहको ही आत्मा मान कर कहो ऐसी दृष्टि बनालें कि देखो मेरे को लोगों ने निम्न कैसे कह दिया अथवा लोगोंके समक्ष यह मुझे छोटा, तुच्छ, निंद्य बता रहा है। लो मान अपमानके भाव आ गए, किन्तु मैं तो यह हूं ही नहीं। मैं किसी वर्तमान परिणमन मात्र नहीं हूं। मैं एक शुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र हू, ऐसी प्रतीति होने के बाद फिर सब सरल हो जाता है, कठिन है तो यही अन्तर्दृष्टि है और कठिन भी नहीं है। जिसे होना है उसके लिए अत्यन्त सरल है, जिसे नहीं होना है उसके लिए वह उस कालमें असम्भव है।

अन्तस्तत्त्वमें असहजभावोंका अभाव—इस शुद्ध जीवास्तिकायमें किसी भी प्रकारका शुभ परिणमन नहीं है। उसका कारण इसमें कोई शुभ कार्य नहीं है और जब शुभ कर्म नहीं है तो संसारका सुख भी नहीं है। जब संसारका सुख भी नहीं है उस जीवके अंतस्तत्त्वके शुद्ध जीवास्तिकायके तो उसके हर्षके स्थान नहीं हैं। इस ग्रन्थमें किसको लक्ष्य करके चर्चा की जा रही है, यह ध्यानमें न रहे तो सारी बातें अटपट लगेंगी और वह लक्ष्य दृष्टिमें रहे कि किसका वर्णन किया जा रहा है तो बड़े उत्साह के साथ यह इसका श्रोता अथवा ज्ञाता समर्थन करता चला जायेगा। ओह बिल्कुल ठीक है। इस शुद्ध जीवास्तिकायके कोई मान अपमान हर्ष विषाद के स्थान भी नहीं हैं। न इसमें सुख दु ख हैं और उसीको ही लक्ष्यमें लेकर कहा जाता है कि यह जीव न खाता है, न पीता है, न चलता है न उठता है, न बैठता है और न संसारमें रुलता है, न जन्म लेता है, न मरण करता है। कहते जाइए सब। किसको लक्ष्यमें लेकर कहा जा रहा है यह ध्यानमें न रहे तो सारी बातें अटपट लगेंगी और ध्यानमें रहे तो ये सब उसे युक्तियुक्त प्रतीत हो जायेंगी।

विडम्बनावोंके अभावका उपाय विडम्बनारहित स्वभावका परिचय—जैसे इस शुद्ध जीवास्तिकायमें अथवा कारणसमयसारस्वरूप आत्माके इस अंतस्तत्त्वमें जैसे शुभ परिणमन भी नहीं है ऐसा ही इसका अशुभपरिणमन भी नहीं है। जब अशुभपरिणमन नहीं है तो अशुभ कर्म भी नहीं हैं। अशुभकर्म नहीं हैं तो दुःख भी नहीं है। जब दुःख ही नहीं है तो हर्षके स्थान कहांसे हों, विशादके स्थान भी कहांसे हों? इस जीवकी ऐसी आंतरिक दृष्टि नहीं होती और बाहर ही बाहर यह अपना स्वरूप निरख रहा है तो उसकी ही तो ये सब दशाएँ हैं, इनसे निवृत्ति कैसे हो? इसका उपाय इन विडम्बनाओं से रहित स्वभावका परिचय करना है। अपने आपका जैसा जब परिणमन हो रहा है तन्मात्र अपनी प्रतीति बनाए हैं तो वहांसे हटकर

स्वभावकी उपासनारूप मोक्षका उपाय करेगा कहांसे ?

अपनेको तुच्छ मानने पर पुरुषार्थका अभाव— एक देशमें कोई शत्रु आ घुसा तो राजाने उस पर चढ़ाई की और नगरमें घोषणा की कि जो जो भी युद्धमें आना चाहें उन्हें प्रवेश किया जायेगा। तो एक घरकी स्त्री अपने पतिसे बोली कि देखो सब लोग राष्ट्रके लिए अपने आपको समर्पण कर रहे हैं तो तुम भी राष्ट्रकी रक्षाके काम आवो अर्थात् सेनामें भरती हो जावो और अपने देशमें विजयपताका फहरावो। पति था डरपोक। सो वह बोला कि अरे हम कैसे जाए, वह तो युद्ध है, वहा बड़ी भयकर स्थिति होती है। वहा तो लोग मर ही जाया करते हैं तो स्त्रीने जतलामें चने दलकर दिखाए। तो उन चनोंमें से कुछके तो दाल निकल गई, दो दो टुकड़े-टुकड़े हो गए, कुछ भुसी हो गई और कुछ यों के यों हो समूचे निकल आए। तो स्त्री कहती है कि देखो युद्धमें सभी नहीं मारे जाते हैं, कितने ही मारे जाते हैं और कितने ही बच जाते हैं। देखो इस जतलामें ये चने ओरे गये हैं ना तो कितने ही चने साबुत निकल गए। तो जैसे ये सभी नहीं पिस जाते हैं ऐसे ही युद्धमें सब नहीं मारे जाते हैं। वह पुरुष कहता है कि जो साबित चने निकल आए उनमें हमारी गिनती नहीं है, हमारी तो गिनती उनमें है जो चूर बन गए हैं—ऐसे ही हम सब ससारी जीव अपने आपको परिणमनस्वरूप मानते रहते हैं, पर्याय मात्र; स्वभावका पता ही नहीं है। अपनेको स्वभावमात्र माननेका उत्साह बनाया तो वहा देखो तुरन्त ही आकुलताए दूर हो जायेंगी।

ज्ञातृत्वसे सहज योग्य व्यवस्था— भैया! आकुलता कोई बाहरकी बात नहीं है। अपने मनकी खोटी कल्पना है, जो मनको आकुलित बनाती है। यदि शुद्ध मन, शुद्ध विचार बनाया तो आकुलता दूर हो जाती है। कोई बाह्य पदार्थोंकी परिणतिमें अनुकूलता और प्रतिकूलताका लेखा जोखा बनाए रहते हैं उससे ऐसी कल्पना बनती है कि दुःखका कारण बन जाता है। बाहरका कहीं कुछ परिणमन हो उसके ज्ञाता द्रष्टा रहो। व्यवहारिक सम्बन्ध हैं किसी से तो उसे अपने से पृथक मानकर अपना कर्तव्य करते रहो, पर उनके प्रतिकूल होने पर क्षोभ क्यों करते हो ? राग और द्वेष करना तो गोरखधधेका काम है। जैसे कमेटियोंमे कोई पुरुष अधिकारी ईमानदारी है और सचाईसे कार्य करने वाला है, किसी भी प्रकारके गोरखधधे का काम नहीं है तो वक्त आने पर दूसरेके प्रतिकूल होने पर वह तुरन्त कह देता है कि भाई काम किया तो तेरे हितका है और न जचे तो यह रखा है तुम्हारा सब काम। तो ऐसे ही जो ज्ञानी पुरुष होते

हैं, गृहस्थ हों अथवा साधु जन हों जिनका जितना प्रसंग है उस प्रसगमें प्रतिकूल चलने वाले शिष्यको या कुटुम्बको समझता है, हित तुम्हारा इस में है; अहित की चाल मत चलो और न माने तो उसके ज्ञाता द्रष्टा होकर बरी हो जाता है। ऐसी प्रकृति किसीमें हो तो कुटुम्बके लिए, फिर तो जिसे कहते हैं हा हा करके मान जाय, यों व्यवस्था बन जायेगी।

मात्र गल्पवादसे अव्यवस्था— जैसे कभी घरमें झगड़ा हो जाता है तो पति भी अनेक धमकी देता है अथवा पत्नी अनेक धमकी देती है। हम ऐसे करेंगे, भाग जायेगी, गिर जायेंगे, ऐसा कहते हैं और करते कुछ नहीं हैं केवल बात करके क्योंकि त्यों हिलमिल करके रहते हैं। यह बात मालूम है इस लिए पचासों झगड़े हो जाते हैं। यदि यह विदित हो जाय कि जो यह कहते हैं सो करते हैं तो डर भी बना रहे कुटुम्बी जनों को। यदि यह विदित हो कि मेरा संरक्षक बड़े शुद्ध विचारोंका है। इसके राग-द्वेष नहीं, मोह ममता भी नहीं। हम प्रतिकूल चलेंगे तो किसी भी समय कोरा जवाब देकर छोड़ देगा। उसका विचार यह रहेगा तुम जैसी चाहे चाल चलो, हम तो ज्ञाता द्रष्टा हैं, प्रयोजन नहीं है, तो इस उदारवृत्तिको देखकर परिजन और अधिक व्यवस्थामें रहेगा और न रहा तो क्या, पर अपनी बात तो संभालनी चाहिए। साधुजन तो देखते हैं कि इसमें रागद्वेषका प्रसग हो जायेगा तो वे वहा तत्त्वचर्चा भी नहीं करते। अन्य बातें तो जाने दो। जैसे कहते हैं कि वह सोना किस कामका जो कान नाक फाड़ डाले। यह एक आहाना है। इसी तरह वह धर्मचर्चा, वह तत्त्व चर्चा भी किस कामकी है जिसके आलम्बनसे रागद्वेष घर कर जाय और अपने आपमें मलिनता उत्पन्न हो।

वीतराग विज्ञानकी रुचिका प्रताप— वीतराग विज्ञानकी रुचि रखने वाले ज्ञानी संत अतरमें आकुलित नहीं होते हैं। इस जीवके न शुभ अशुभ परिणमन हैं, न पुण्य पाप कर्म हैं, न ससारके सुख दुःख हैं और न हर्ष विशादके स्थान हैं। अतरङ्गमें ज्ञानस्वभाव स्वरूप अतस्तत्त्वकी बात कही जा रही है। जो प्रीति और अप्रीति रहित शाश्वत पद है, जो सर्वथा अन्तमुख और प्रकट प्रकाशमान् सुखमें बना हुआ है आकाशकी तरह अकृत्रिम है, सहज स्वभावरूप द्वारा ज्ञानमें गोचर ऐसे इस शुद्ध अतस्तत्त्व में तू रुचि क्यों नहीं करता है और पापरूप संसारके सुखोंकी वाञ्छा क्यों करता है? जो कल्याणस्वरूप है, श्रमसे रहित है, आनन्दामृतसे भर पूर है, ऐसे सहजस्वभावका अवलम्बन तो न किया जाय और जो अनेक दुःख सकटोंसे भरा हुआ है जिसमें अनेक पराधीनताएँ बसी हुई हैं, ऐसी

विषय सुखोंकी वाञ्छा की जाय, यह तो सब अज्ञान मोहका प्रसाद है। बड़े विवेक और उत्साहकी आवश्यकता है। जो चीज दो दिन बाद मिट जायेगी उस चीजमें यदि इस जीवनमें मोह न हो सका, ज्ञातृत्व ही रहे तो इसे लाभ नियमसे मिलेगा अन्यथा इस जीवको लाभ और कल्याणकी बात किसी भी समय प्राप्त नहीं होती।

आचार्यदेव द्वारा सम्बोधन— कुन्दकुन्दाचार्यदेव भव्य जीवोंको प्रेरणात्मक पद्धतिमें कह रहे हैं कि हे आत्मन्! तुम इस चेतनात्मक स्वरस से भरे हुए लयालय इस निज परमात्मतत्त्वमें बुद्धि क्यों नहीं करते हो और संसारके जो पाप कर्म हैं उनमें तुम सुखकी इच्छा क्यों करते हो? देखो यह आनन्दनिधान सर्वस्वशरणभूत परमात्मतत्त्व शाश्वतपदरूप है, प्रीति और अप्रीतिसे विमुक्त है, सर्वप्रकार अन्तमुख होकर अभेदभावमें जो अनाकुलताका सुख उदित होता है उससे यह निर्मित मानो। आकाश बिम्बकी तरह आकारमें रहता है अर्थात अमूर्त है—जो सम्यग्ज्ञानियोंके ज्ञानका विषयभूत है उसमें तुम बुद्धि नहीं करते और संसारके जो कर्म हैं, जिनका फल कटुक है उनकी तुम इच्छा करते हो। प्रीति और अप्रीतिके विकल्पोंको त्यागकर निर्विकल्प ज्ञायकस्वरूप इस तत्त्वका आदर करो। और भी देखो यह शुद्ध आत्मतत्त्व उज्ज्वल और केवल है।

णो ठिदिबंधट्ठाणा पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा।
णो अणुभागट्ठाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा ॥४०॥

जीवके बन्धोदय स्थानोंका अभाव— इस जीवके साथ विभावरूप अथवा विभावका कारणभूत ५ प्रकारका बन्ध व उदयसम्बन्धी स्थान व्यवहारनयकी दृष्टिमें लगा हुआ विदित होता है। प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध, प्रदेश बंध और उदयस्थान या बंध और उदयके स्थान—ये सब इस जीवके कुछ नहीं हैं। यह जीवस्वरूप कारणसमयसार सहज आत्म-स्वभाव नित्य है और नित्यनिरुपराग निजस्वरूप है। इसमें अन्य कोई तत्त्वकी लपेट नहीं है। भले ही उपाधिका निमित्त पाकर इसमें उपराग रंग आये, पर इसके स्वभावसे स्वरससे इसमें किसी प्रकारका उपराग नहीं है। वस्तु अपने सत्त्वके द्वारसे उसही रूप है जैसा स्वभावरूप वह शाश्वत रहता है।

जीवके स्थितिबन्धस्थानोंका अभाव— यह अंतस्तत्त्व जो कि भव्य जीवोंके लिए उपादेयभूत है वह नित्य है और निरुपराग स्वभाव है, जिसमें किसी प्रकारका अञ्जन नहीं है, द्रव्यकर्मका प्रवेश नहीं है ऐसे निज परमात्मतत्त्वके स्थितिबंध स्थान नहीं हैं। यह बद्ध कर्म, जघन्यस्वरूपको लिए

हुए हैं, मध्यमस्थितिको भी लिए है और उत्कृष्ट स्थिति वाला भी है ऐसा कुछ है तो रहा कर्ममें। वे कब तक रहते हैं कर्मरूप और कब कर्मरूप नहीं रह पाते हैं, यह बात उन कार्माणवर्गणावोंमें है। और भले ही यह बात जीवके भावका निमित्त पाकर हुई है पर इसके स्वरूपसे निरखें तो यह स्थितिबंध स्थान इस निज परमात्मतत्त्वमें कहीं नहीं है। यह तो निज सहज ज्ञायकस्वरूपसे ही निर्मित है।

प्रकृतिबन्धस्थान— इस प्रकार उन कर्मोंमें प्रकृति पड़ी हुई है, अमुक वर्गणाएँ ज्ञानके आवरणमें निमित्त होंगी, अमुक दर्शन गुणको प्रकट न होने देनेमें निमित्त हैं, कोई जीवके सुख अथवा दुःखके वेदनमें निमित्त है, कोई इसकी दृष्टि विपरीत करनेमें और कोई इसकी वृत्ति विरुद्ध बनानेमें निमित्त है, कोई कर्म इस जीवको शरीरमें बनाए रहनेके लिए निमित्तभूत हैं, कोई कर्म इस जीवके शरीरकी रचनावोंमें निमित्तभूत हैं, कोई ऊँच नीचका वातावरण बनानेमें निमित्त है, कोई योग्य, मनचाही अभीष्ट हितकर तत्त्वकी प्राप्तिमें विघ्न करनेमें निमित्त हैं, ऐसी उनमें जो प्रकृति पड़ी हुई है, ऐसी चीज जो कुछ भी हो वह प्रकृतिकर्ममें है।

जीवके प्रकृतिबन्धस्थानोंका अभाव— कर्मद्रव्य अचेतन है, जीव चेतन है। जीवका कुछ गुण पर्याय कर्ममें नहीं जा सकता। कर्मका गुण पर्याय जीवमें नहीं जा सकता। अत्यन्ताभाव है दोनोंका परस्परमें। निमित्तनैमित्तिक भाव उनमें अवश्य है, पर निमित्तनैमित्तिक भावके सम्बन्धके कारण उनमें कोई बंधन या गुणप्रवेश जैसी कोई बात हो जाय, यह नहीं हो सकता। भले ही उनमें प्रकृतिबंधके स्थान पड़े हैं, पड़े रहो, किन्तु वे इस निज परमात्मतत्त्वके कुछ नहीं हैं। ज्ञानावरणादिक ८ प्रकार के कर्म हैं, उन कर्मोंमें उस-उस प्रकारके योग्य पुद्गल द्रव्योंका अपने आकार में बन जाना अर्थात् स्वभाव बन जाना यह प्रकृतिबंध है और वे प्रकृतिबंध नाना प्रकारके हैं। प्रकृति मूलमें ८ प्रकार की हैं और फिर उत्तर में और अनेक भेदोंकी प्रकृति हैं और सूक्ष्मतासे तो असंख्यात प्रकारकी प्रकृति है। ये प्रकृतिबंधके स्थान इस निज परमात्मतत्त्वमें नहीं होते हैं।

जीवके प्रदेशबन्धस्थानोंका अभाव— इस ही प्रकार कार्माण-वर्गणावोंमें प्रदेश उनके स्वयके हैं और यह जीव स्वयंके प्रदेशमें है। जीवके प्रदेश तो ज्ञानादिक गुणोंके विस्ताररूप हैं, अमूर्त हैं और इस कार्माण-वर्गणाके प्रदेश ये मूर्तिक हैं। इनका यद्यपि इस अशुद्ध अंतरतत्त्वके साथ परस्पर प्रदेशका अवगाह है, एकक्षेत्रावगाह है, तथापि ऐसा उभयप्रदेशबंध

अथवा उन कर्मोंके परमाणुओंका परस्परमें बंध हो जाना इत्याकारक उनके द्रव्यप्रदेश बंध – ये दोनोंके ही दोनों इस शुद्ध निज परमात्मतत्त्वमें नहीं हैं अर्थात् जीवका अपने सत्त्वके कारण जो स्वभाव है उस स्वभावरूप अतस्तत्त्वके ये प्रदेशबंध स्थान नहीं हैं।

स्वभावदृष्टि होने पर स्पष्ट समझ— इस प्रकार कर्मोंमें जो बंध पड़ते हैं वे बंध कर्मोंसे हैं और निमित्तनैमित्तिक भावसे ये जीवके विभाव के निमित्तसे हुए हैं। और इनके साथ बंध हो गया है इतने पर भी जीव किस रूप है उस पर दृष्टि देकर सोचा जाय तो यह स्पष्ट ज्ञानमें आ सकता है बुद्धि बलके द्वारा कि इस जीवके स्वरूपके ये कुछ नहीं हैं। जीव तो जैसा है सो ही है, अपने आप अपने सहज स्वभाव वाला है। भले ही अनादिसे ही इसके साथ रागविराग चला आ रहा हो, तिस पर भी इस जीव के ये बंधस्थान आदिक ये कुछ नहीं हैं।

कार्माणवर्गणाओंमें अनुभागबन्ध— इस प्रकार इन कर्मप्रकृतियोंमें अनुभाग बंध भी होता है। अनुभागबंधका अर्थ यह है कि उन कर्मवर्गणाओंमें ऐसी योग्यता पड़ी हुई है, ऐसी स्थिति है कि उनका उदय आए तो वह उदय किस प्रकारके किस डिग्रीके फलको देनेमें समर्थ होगा निमित्त होगा। ऐसा अनुभाग बंध पड़ा है। यह अनुभाग बंध कर्मोंमें कर्मों की योग्यतासे है। भले ही जीवका निमित्त पाकर यह सब कुछ हुआ है फिर भी अनुभागरूप पर्याय अर्थात् जीवको अमुक प्रकारकी भक्तिमें फल पानेके निमित्त हो सकने रूप अनुभाग बंधन यह पुद्गलका पुद्गलमें है।

अनुभागकी निमित्ततापर एक लोकदृष्टान्त— जैसे कोई खूब मजबूत चौकी या तखत है, वह बैठनेसे नहीं टूटता है तो ऐसी शक्ति वाला वह पुष्ट तखत मान लो कि बैठनेका निमित्तभूत है, किन्तु यह पुष्टि ऐसी मजबूती तखतमें तखतकी ही पर्यायसे है बैठने वालेकी पर्यायसे नहीं है। पर ऐसा निमित्तनैमित्तिक मेल देखा जाता है कि आदमी बैठ सकता है तो उसकी पुष्टि उस तखतका निमित्त पाकर बैठ सक रहा है। सड़ियल तखत हो अथवा कपड़ा ही तानकर फर्श कर दिया गया हो तो वह तखत क्या बैठनेका निमित्त हो पाता है? तो ऐसा पुष्ट तखत हमारे बैठने आदिका निमित्त है, इतने मात्रसे कहीं बैठने वालेका इसमें सम्बन्ध नहीं जुड़ गया। उसकी पर्याय उसका गुण कुछ यहां नहीं आया, तखतकी बात तखतमें हैं, पर ऐसा देखा जाता है कि इतना पुष्ट तो हो तखत जिस पर मानलो बैठा करते हैं, यह बैठनेका निमित्त हो पाता है यहां कुछ अन्वयव्यतिरेक रहित कारणता है, पर इस द्रव्यकर्मका अनुभाग बंधन

जो हुआ है और उसही अनुभाग बंधको लिए हुए उदयमें आयेगा तो वहां अन्वयव्यतिरेक बराबर है। इतने पर भी जीवमें जो परिणाम हुआ है वह जीवके कारण है। पर इस कार्माणवर्गणामें जो अनुभाग बंधन हुआ है वह कार्माणवर्गणाके कारणसे है। वे सब अनुभाग बंध स्थान भी इस जीवके कुछ नहीं हैं।

अनुभागका विपाक-- इस अनुभागका यह काम है, यह कह लीजिए अर्थात् ऐसे ये निमित्तभूत हैं कि जब ये झड़नेका अपना समय पाते हैं तो सुख अथवा दुःखरूप फलके प्रदान करनेकी शक्तिसे युक्त हैं अर्थात् निमित्तभूत हैं। ये कर्म कब फल देते हैं जब ये मिटनेको होते हैं, जब इनकी निर्जरा होनेको होती है। फल देकर झड़ना इस ही का नाम उदय है और बिना फल दिए झड़ना इसका नाम है हम लोगोंके प्रयोगमे आने वाली मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत निर्जरा। जैसे गोष्ठीमें होते हैं ना कोई दुष्ट अभिप्रायके लोग, सो जब संग छोडनेको होते हैं तो वे कोई ऊधम मचाकर कष्ट देकर मिटा करके भागा करते हैं और जब तक गोष्ठी में सम्मिलित रहते हैं तब तक कुछ भी बात नहीं करते हैं। ऐसी ही इन कर्मोंकी बात है जब तक ये कर्म जीवके साथ बधे हुए हैं, सत्त्वमे पडे हुए हैं, चुपचाप हैं तो इनकी ओरसे कुछ भी ऊधम नहीं होता। रहें न रहें बराबरसे हैं, जीवको कष्टके कारणभूत नहीं हैं, किन्तु जब इनके छूटनेका समय होता है, उदयकाल होता है तो इनमें ज्ञान तो है नहीं। अगर ज्ञान होती तो अपन यों कह सकते थे कि ये ऐसा दुष्ट आशय रख रहे हैं कि हम तो मिटने ही वाले हैं, इनको बरबाद करके क्यो न मिटें, सीधे-सीधे क्यों मिटे ? फिर भी यों ही समझ लो, ये उदय कालके झडने के समयमे नाना प्रकारके शुभ अशुभफल प्रदान करके मिटा करते हैं। और ऐसे फलके देनेमें जो निमित्तभूत हैं वे हैं अनुभाग बंध।

जीवमें अनुभागबन्धस्थानोंका अभाव-- अनुभाग बंधके स्थान को भी इस निजपरमात्मतत्त्वमें अवकाश नहीं है। जैसे कोई धातु है, सोना है अथवा पीतल है, उसके ऊपर मिट्टी चढ़ी हो, काईसी लगी हो या जो भी लेप हो सकता हो, होने पर भी ज्ञानी जानता है कि इस धातुमें मैल नहीं है। यह ऊपरका प्रसंग है। सोनेमें जरा जल्दी समझमें आ जाता है, पीतलमें भी, कुछ-कुछ समझमें आता है, ऐसी समझ उनके है जो उस धातुके स्वभावपर दृष्टि देते हैं। उसके अन्दर उन्होंने केवल उस धातुके स्वभाव पर दृष्टि दी है। वह कहते हैं कि इसमें मैल नहीं है। पानीमें रंग घोल दिया जाय तो पानी रंगीला हो जाता है लेकिन भेददृष्टि वाला

वहा भी यह समझ रहा है कि पानीमें रंग नहीं है। रंग रंगकी ही जगह है। रंगमें ही रंग है, पानीमें ही पानी है। रंग और पानी हैं दोनों अलग अलग, पर देखनेमें पानी और रंग अलग-अलग नहीं दिख रहे हैं। पानी में रंग ऐसा व्यापकर फैला हुआ है कि उसे अलग कोई नहीं बता सकता। इतने पर भी ज्ञानी पुरुष जानता है कि रंग यह पानीमें नहीं है। पानी तो अपने सहजस्वरूपमय है। रंगरंगमें है। यों ही निज परमात्मतत्त्वके सम्बन्धमें भी ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि इस परमात्मतत्त्वमें ये किसी प्रकारके बंधस्थान नहीं हैं।

जीवमें उदयस्थानका अभाव— जब इनका उदय आता है उस कालमें जो द्रव्यकर्ममें बात बनती है वह और भावकर्ममें याने जीवविभाव में जो बात बनती है—ये दोनों प्रकारके उदयस्थान भी इस निजपरमात्म-तत्त्वमें नहीं है यह आत्माका अंतस्तत्त्व अपने ही सत्त्वके कारण जैसा है स्वरूप है। केवल उस स्वभावको देखकर कहा जा रहा है कि इस जीव न बंधस्थान हैं—और न उदयस्थान है।

स्वभावमें अस्वभावकी अप्रतिष्ठा— किसी मा का बेटा बड़ा सीधा सादा सज्जन आज्ञाकारी धर्मात्मा विनयशील है और किसी गलत लड़के के संगसे कुछ उसमें ऊधमकी बात आ गयी है जुवा वगैरह या उसमें कुछ ऐसी आदत पड़ गयी है तो अब भी उसकी मा यही कहती है कि मेरे लड़के में तो ऐब है ही नहीं। अरे कैसे नहीं है ऐब, चलो हम दिखा दें। जुआरीके बीचमें बैठा है या नहीं और जुवा भी खेलता है कि नहीं? हां हमें मालूम हो गया कि कुछ जुवा भी खेलने लगा है, मगर यह आदत अमुक लड़के की लग गयी है। मेरे बेटेमें तो कोई ऐब नहीं है। वह मा अब भी दम भर कर कह रही है क्योंकि उसने तो १०—१५ वर्ष तक अपने बच्चेकी सर्वप्रकारकी सज्जनता देखली है ना, तो ऐब लग जाने पर भी उस ऐबको अपने बेटेमें नहीं माना, क्योंकि जो उसका स्वरूप था उस स्वरूपमें ही उसे तक रही है। यह तो एक मोटे लोकदृष्टान्तकी बात है पर यहां तो जब उसके स्वभावको तका जा रहा है अपने आपके स्वरूपको तो वहा तो गुञ्जाइश ही नहीं है कि उसमें उदयस्थान या बंधस्थान बताया जा सके।

स्वभावके उपयोगमें द्रष्टव्य— वह आत्मतत्त्व अबद्ध है, स्व परिपूर्ण है, उसमें दूसरे तत्त्वकी चर्चा ही नहीं है, यद्यपि विभाव किसी पर्वतके शिखर पर खड़े होकर बोला जा रहा है, इसको न जाय तो यह बात समझमें न आयेगी। यह आत्मस्वभाव

त्त्व अपने ही सत्त्वके कारण जैसा अपना सहजस्वभाव हो सकता है उसको दृष्टिमें रखकर कहा जा रहा है। इसमें न बंधन है, न स्पर्श है, न अन्य चीज इसके साथ लगी है या न अन्य भावोंका यहां पर उदय चल रहा है। वे तो सब इसके स्वभावके बाहर ही बाहर तैरने वाले तत्त्व हैं। ये इस स्वभावमें प्रतिष्ठा नहीं पा सकते। ये द्रव्यकर्मके बंधन चाहें कि हम आत्मस्वभावका आलम्बन ग्रहण करलें और इस स्वभावमें एकमेक हो जायें तो यह बात नहीं होती।

निष्कर्ष और उद्बोधन-- भैया! तब फिर ऐसा ही आत्मवस्तुके सम्बन्धमें अनुभव करो ना, अनुभव तो अपने अंतःस्वरूपका भी किया जा सकता है और अपने बाह्यस्वरूपका भी किया जा सकता है। अब यह अपनी छांटकी बात है। अज्ञानीजन बाह्यतत्त्वोंमें ही अपना अनुभव लगाते हैं जब कि ज्ञाता पुरुष बाह्यतत्त्वको अनात्मतत्त्व जान कर अपने अंतस्तत्त्वमें दृष्टि लगाया करते हैं। एक उस ही सर्व ओरसे प्रकाशमान् अनादि अनन्त अहेतुक चित्स्वभावका ही अनुभव ये क्यों नहीं करते हैं? यदि परमात्मतत्त्व का ही अनुभव करें तो वे मोहसे दूर होकर इस सम्यक् स्वभाव को नियमसे पा लेंगे। एक यह ही महान् कर्तव्य है कि जो नित्य शुद्ध है, चिदानन्दस्वरूप है, सर्व समृद्धियोंका निधान है, विपदावोंका जहां रंच भी स्थान नहीं है ऐसे इस उत्कृष्ट पदका ही संचेतन किया करो। ऐसे निज परमात्मतत्त्वके स्वभावकी दृष्टिमें सर्वविशुद्धता निरखकर ज्ञानीजन मात्र निज शुद्धस्वरूपका ही अनुभवन करते हैं।

विधिविपाकविविक्तभावना-- इस गाथामें बंधस्थान और उदयस्थानोंका निषेध किया गया है। यह स्थान निज परमात्मतत्त्वमें नहीं होता है। बंधस्थानका तो बंध जाना और उन स्थानोंमें बंधा रहना, यह कार्य है और उदयस्थानका कार्य है जीवमें शुभ अशुभ सुख दुःख नाना प्रकारके परिणमन होना। ज्ञानी जीव उदयस्थानके प्रसंगमें यह चिंतन करता है कि ये कर्मरूप विषवृक्षसे उत्पन्न हुए ये नाना फल जो आत्माके स्वरूपसे विलक्षण हैं उनको छोड़कर सहज चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वको ही मैं भोगता हूं, सेवता हूं, इस प्रकार जो भावना रखता है और निजतत्त्वके अभिमुख होता है वह बहुत ही शीघ्र मुक्तिको प्राप्त करता है, इसमें कोई संशय नहीं है। इस विभावस्थानका निषेध करनेका प्रयोजन अपने आपको शुद्धस्वभावमय अनुभव करना है। इस जीवको इस लोकमें किसी भी समय अन्य कोई शरण नहीं है। केवल आत्माका यह आत्मा ही अपने आपको शरण है। अब इसके बाद अन्य स्थानोंके सम्बन्धमें भी कुन्दकुन्दाचार्य देव

कहते हैं—

णो खइयभावठाणा णो खयउवसमसहावठाणा वा।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा ॥४१॥

इस निज परमात्मतत्त्वमें न क्षायिक भावके स्थान हैं, न क्षायोपशमिक भावके स्थान हैं, न औदयिक भावके स्थान हैं और न औपशमिक भावके स्थान हैं। जीवके निजतत्त्व ५ बताये गए हैं अर्थात् जो जीवमें हों वे जीवके स्वतत्त्व हैं। इसमें यह कैद नहीं है कि कोई शाश्वत हो तब तत्त्व हो। चाहे वह शाश्वत हो चाहे वह कदाचित हो, जो जीवमें परिणाम होते हैं वे जीवके स्वतत्त्व कहे जाते हैं। उन पाचोंमें से पारिणामिक भाव तो आत्माका सहज शाश्वत तत्त्व है और शेषके चार भाव आपेक्षिक तत्त्व हैं। जीवका स्वभाव किसी परवस्तुके सद्भाव या भावके कारण नहीं होता। जीवमें जो स्वरूप है वह जीवमें है, जीवके कारण है वह किसी पदार्थके सद्भावके निमित्तसे अथवा अभावके निमित्तसे नहीं होता। वह तो सत्त्वके साथ सहज शाश्वत है। इस कारण अन्तस्तत्त्वमें चारों भावोंके स्थान नहीं हैं। अब उनका विवरण सुनिये।

जीवके क्षायिकभावस्थानोंका अभाव— इस निज परमात्मतत्त्वमें क्षायिक भावके स्थान नहीं हैं। कर्मोंका क्षय होने पर जो बात बनती है वह क्षायिक भाव है। यद्यपि उपाधिभूत कर्मोंके अभावमें आत्माके स्वभाव वाली बात ही बनती है तथापि यह कर्मोंके अभावसे हुआ है ऐसी दृष्टिमें उस भावके प्रति आपेक्षिकता है और किसी भी परिणमनवश कोई भी भाव स्वभाव, स्वरूप अपेक्षित नहीं होता है। इस कारण जीवमें क्षायिक भावके स्थान भी नहीं हैं। इस सम्बन्धमें एक बात और जानना है कि क्षायिक भाव कर्मोंके क्षयके समयमें ही कहा जाता है। इसके बाद क्षायिक भाव कहना यह नैगमनयकी अपेक्षा कथन है। पूर्व समयकी अवस्था का स्मरण करके कहा जाता है कि केवलज्ञान क्षायिकभाव है। क्षयके कालके बाद तो उन्हें इस तरह देखना चाहिए कि जैसे धर्मादिक द्रव्योंमें द्रव्यत्वके ही कारण केवल कालद्रव्यका निमित्त पाकर अपने स्वभावसे परिणमन हो रहा है। जैसे धर्म अधर्म द्रव्यके आकाशकाल द्रव्यके परिणमनको क्षायिक परिणमन नहीं कहा, इस ही प्रकार शुद्ध आत्माका परिणमन है।

क्षायिकभावके व्यपदेशकी अनौपचारिकता व औपचा[illegible]— आत्माके शुद्ध परिणमनका जब आदि हुआ था उस कालमें क्षायि[illegible] पना था। कर्मोंके अभावके निमित्तसे जो भाव हो[illegible] वह क्षायि[illegible] है यद्यपि वस्तुत ऐसी बात है तथापि जैसे जीव[illegible] परि[illegible]

राज जाननेके लिए जीव और पुद्गलकी उस विलक्षण परिणमनशक्तिका नाम विभावशक्ति रख दिया गया है—ऐसे ही शुद्धात्मपरिणमनका पूर्वीय राज जाननेके लिए क्षायिक नाम रखा है। जीव व पुद्गलमें भावकी शक्ति वह एक ही है। विभावशक्ति नाम उसका वस्तुत नहीं है अन्यथा स्वभावशक्ति भी माननी चाहिये, तब इस जीवमें या पुद्गलमें दो शक्तियां मान ली जायेगी—एक स्वभावशक्ति और एक विभावशक्ति। जब जीवमें ये दो शक्तियां मान ली जाये तो सदा और काल इन दोनों शक्तियोंका परिणमन भी युगपत् होते रहना चाहिए, किन्तु ऐसा कहा हुआ कि एक ही काल में स्वभावपरिणमन भी हो और विभावपरिणमन भी हो। कोई शक्ति बिना परिणमनके नहीं रहती, तब वहा वास्तविक बात क्या है? जैसे सभी द्रव्योंमे परिणमनशक्ति पायी जाती है, इस ही प्रकार जीव और पुद्गल में भी भावशक्ति मानी गई है, किन्तु यह जाननेके लिए केवल ६ जातिके द्रव्योंमें से केवल जीव और पुद्गल ही ऐसे द्रव्य हैं कि जो उपाधिका सन्निधान पाकर स्वभावके विरुद्ध भी परिणम सकते हैं। इस विशेषताको साफ झलकानेके लिए उस शक्तिका नाम विभावशक्ति रखा गया है। यो ही यह भावकर्मोंके क्षयसे प्रादुर्भूत हुआ था, यह बताने को अब भी क्षायिकभाव उसे कहते हैं।

क्षायिक व्यपदेशकी आपेक्षिता— अब यों समझ लीजिए कि विभावशक्तिके दो परिणमन माने गये हैं—एक विभावशक्तिका विभावपरिणमन और एक विभावशक्तिका स्वभावपरिणमन। छः प्रकारके द्रव्योंमें से सिर्फ जीव व पुद्गलमें विभावपरिणमन हो सकता है। केवल इस विशेषताका द्योतन करनेके लिए ही विभावशक्ति शब्द डाला है। अर्थ वहा भी यह निकलता है कि भावशक्तिके दो परिणमन है—विभावपरिणमन और स्वभावपरिणमन। जैसे उस भावशक्तिको कुछ और विशेषतासे समझाने के लिए विभावशक्तिका नामकरण किया वैसे ही व्यवहारमें यों समझिये कि सिद्धप्रभुके अनन्तकाल तक प्रवर्तने वाले उस शुद्ध परिणमनको क्षायिकभाव यों बोलते हैं कि उसका सारा राज भी एक शब्दसे मालूम हो जाये, परन्तु परमार्थसे जैसे उदयके कालमें औदयिकभाव है, क्षयोपशमके काल में क्षायोपशमिकभाव है, उपशमके कालमें औपशमिकभाव है—ऐसे ही क्षय हो रहे के कालमे क्षायिकभाव है। ये क्षायिकभावके स्थान इस आत्मतत्त्वमे नहीं हैं। होते हैं—स्वभावरूप हैं, फिर भी ऐसे आपेक्षिकता जीवके स्वभावमें नहीं है।

जीवमें क्षायोपशमिभावस्थानोंका अभाव— इसी प्रकार कर्मोंका

क्षयोपशम होने पर जो परिणाम होता है, वह इस कारणपरमात्मतत्त्वमें नहीं होता है। यह उपयोग चैतन्यमें कैसा प्रतपन कर रहा है, जिसके आश्रयके प्रतापसे भव-भवके संचित कर्म लीलामात्रमें क्षयको प्राप्त होते हैं। जो जहा की कुञ्जी होती है, जो जहाका पेच होता है, उसको छोड़कर यहा वहा कुछ भी यत्न किया जाय तो वह यन्त्र नहीं चलता है। इस ही प्रकार मोक्षकी तो कुञ्जी है स्वभावदृष्टि और स्वभावदृष्टिकी निरन्तरता को छोड करके अन्य अन्य मन, वचन, कायकी क्रियायें की जायें तो इससे यह मोक्षकी उपलब्धि नहीं होती है। ये बाह्य क्रियाए भीतरके ज्ञानप्रकाशके साथ कीमत वाली हैं। जैसे बड़े आदमीके साथ छोटे आदमीकी कीमत पाते हैं, यों ही इस ज्ञानविकासके रहते सते इस ज्ञानी पुरुषके जो शरीरादिककी प्रवृत्तिया होती हैं—व्रत, तप संयम आदिक वे सब भी मूल्य रखने लगते हैं।

अन्तस्तत्त्वके परिचय बिना मोक्षमार्गका अभाव— जैसे एकका एक अङ्क हो तो उसके ऊपर जितने भी शून्य रखे जायेंगे, वे १०-१० गुणा मूल्य बढ़ा देंगे।। एक पर एक बिन्दी रखें तो १० गुणा हो गया याने १०। १० पर एक बिन्दी रखे तो उसका १० गुणा हो गया याने १००। १०० पर एक बिन्दी रखें तो उसका १० गुणा हो गया याने १०००। एकके होते संते बिन्दीको रखते ही १० गुणा मूल्य बढ़ता है और एकका अक न रहे तो इन बिन्दियोंका रखना एक अपना समय खोना है और व्यर्थका श्रम करना है। बिना एकके अकके उन बिन्दियोका मूल्य कुछ नहीं निकलता है। इस ही प्रकार निजआत्मतत्त्वके सम्बन्धमें श्रद्धान् हो, ज्ञान हो और अन्तरमें ऐसा ही स्वरूपाचरण चलता हो, उस ज्ञानी जीवके जो मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति होती है, वह सब भी व्यवहारमें मूल्य रखती है और उसीके सहारे एक धर्मतीर्थ चलता है और धर्मका मूर्तरूप संसारमे चला करता है। एक यह ज्ञानभाव ही न हो गाठमें तो ये सब क्रियाएँ भी शून्यकी तरह कीमत नहीं रखती हैं।

मुक्तिकी प्रयोजनकता— भैया! कोई कहे कि न हो ज्ञान तो उन व्रत, तप आदिकसे कोई स्वर्ग तो न छुड़ा लेगा, स्वर्ग तो मिल ही जाएगा, यह बात ठीक है। यदि मन्दकषाय हो तो व्रत, तप आदिक क्रियाओंसे स्वर्ग मिल जाएगा ज्ञानके भाव वालेको भी, किन्तु कषायसे ही व्रत, तप किया जा रहा हो तो वहां तो स्वर्ग भी नसीब नहीं है। [illegible] हो जाए स्वर्ग, लेकिन वह प्रयोजन तो है ही नहीं, जिस प्रयो[illegible] है। जहा प्रयोजन नहीं है, वहा मूल्य भी कुछ नहीं है।

चुपचाप ही अपने आपमें अपने आपकी साधना कर लें। यह बात ऐसी गुप्त है कि जैसे वोट देने वाले गुप्त हुआ करते हैं। अब वहां नाराजी किस पर की जाए? इसी तरह यह अन्तरकी साधना ऐसी गुप्त है कि इसको सुनकर किसीको नाराज न होना चाहिए कि हमको कुछ झूठा कहा जा रहा हो या विपरीत कहा जा रहा हो। यह तो अपने आपके अन्तरमें गुप्तरूप से ही अपने आपसे करनेकी बात है। कर लिया जाए तो सिद्धि मिल ही जाएगी। न कर सके तो यह दृष्टि बनाओ कि हमको यह करना है, इसको किए बिना अन्य कुछ करना कुछ भी मूल्य नहीं रखता है। यह इस परमात्मतत्त्वकी बात कही जा रही है कि जिसमें दृष्टि आने पर सर्ववैभव स्वयमेव मिल जाता है।

मूलतत्त्वकी दृष्टि— एक राजा गया परदेश। बहुत दिन हो गए, पर न आ सका घर। राजाने सब रानियोंको सूचना भेजी कि अब हम हफ्तेभर बाद आयेंगे। जिस रानीको जो चीज चाहिए पत्रमें लिख दे। किसी रानी ने लिखा कि बङ्गलौरकी साड़ी, किसी रानीने लिखा कोई चमकदार गहना, किसी रानीने कुछ आभूषण मांगे। छोटी रानीने केवल एक १ का अङ्क ही लिखकर अपने हस्ताक्षर कर दिये। जब राजाने सभी पत्र खोले तो सभी पत्रोंको तो पढ लिया, पर छोटी रानीका पत्र कुछ समझमें न आया। तो राजाने मन्त्रीसे इसका अर्थ पूछा। मन्त्रीने बताया कि महाराज! और रानियां तो साड़ियां व गहनें इत्यादि चाहती है, पर छोटी रानी केवल एक आपको ही चाहती है। एक हफ्ते बाद जब राजा महलमें गए तो जिस रानीने जो कुछ मांगा था, उसके महलमें वह चीज पहुचा दी और स्वय छोटी रानीके महलमें पहुच गए। अब यह बताओ कि सारा वैभव किसको मिला? अरे! सारा वैभव, सारी सेना और साराका सारा राज्य उस छोटी रानीको ही तो मिला। तो जिसकी एक पर ही दृष्टि है, उसको तो ये सभी वैभव मिल जाते हैं। वह एक वैभव है कि अपने सहज ज्ञानस्वभाव की दृष्टि होना।

जीवमें औदयिक भावस्थानोंका अभाव— यह सहजस्वभावमय परमात्मतत्त्व इस क्षायिक आदि चारों भावोंकी साधनासे परे है। इस आत्मा में जैसे क्षायोपशमिक भावोंके स्थान नहीं हैं, इसी प्रकार औदयिक भावके स्थान भी इस आत्मतत्त्वमें नहीं हैं। कर्मोंका उदय होने पर जो परिणाम होते हैं, उन्हें औदयिकभाव कहते हैं। अब समझ जाइए जहा यह बात कही जा रही है कि इस आत्माके क्षायिकभावके स्थान नहीं हैं, क्षायोपशमिक भावके स्थान नहीं हैं और विचार, विकल्प आदिक औदयिकभावोंके

भी स्थान नहीं हैं, वहां कुटुम्ब और धनवैभवकी चर्चा करना तो बड़े ही अप्रसंगकी बात है।

अत्यन्त भिन्न पदार्थोंकी चर्चा एक अनमेल प्रसंग— जैसे कोई मंदिरमें पूजा करता ही करता कहने लगे कि भूख लगी है रोटी लावो तो यह कैसी बेमेल बात लगेगी ? ऐसे ही जहा यह कथनी हो रही हो, इस आत्माके ये क्षायिक आदिक स्थान भी नहीं हैं तब फिर कुटुम्ब परिवार धन वैभव, देह इन सबके विकल्पोंमें लगना कि यह तो मेरा है, ये बेमेल अप्रासंगिक बातके अटपट विकल्प समझिये। मगर मोहकी लीला भी इतनी गजबकी है कि इस चर्चाके प्रसंगमें भी किसी-किसीका ख्याल आ ही जाता होगा। अपनी दुकान घर आदिका ख्याल आ ही जाता होगा किसी का ख्याल न आता हो और हमने चर्चा छेड़ दी तो शायद आ गया होगा और इतने पर भी न आए तो आपका काम अच्छा है और हमने खोटी बात छेड दी या यों समझ लीजिए।

जीवमें औपशमिकभाव स्थानोंका अभाव-- इस जीवके जैसे औदयिक भावके स्थान भी नहीं हैं, इस ही प्रकार कर्मोंके उपशम होने पर जो औपशमिक भाव होता है आत्माके अल्पकालकी स्वच्छतामें होता है उस स्वच्छताके स्थान भी इस आत्मामें नहीं हैं। वह तो एक सहज सत् है। यदि यह आत्मा कभी केवल होता और बादमें यह भाव लग जाता औदयिक आदिक तो यह बात जरा शीघ्र समझमें आ जाती कि इस आत्माके ये औदयिक औपशमिक आदिक स्थान नहीं हैं, लेकिन अब प्रज्ञाका बल विशेष लेना पड़ रहा है क्योंकि इस आत्मामें अनादिसे ही ये भावस्थान उतरते चले आ रहे हैं और हम इन्हें मना करें इसमें प्रज्ञावल की विशेष आवश्यकता है, जैसे बाजारमें ऐसे वृक्षोंके चित्रके कार्ड मिलते हैं--दो तीन पेड़ोंकी चित्रावली उसमें बनी होती है। उसमें इस तरहसे शाखापत्ती आदि बने होते हैं कि जहा कुछ नहीं लिखा गया वहा कभी गधेके आकार, कभी बैलके आकार, कभी पक्षीके आकार बन जाते हैं। देखनेमें शीघ्र नहीं जान सकते कि इसमें सिंहका चित्र है पर एक बार परिचय हो जाय तो देखते ही तो तुरन्त सिंह चित्र दिख जायेगा। ऐसे ही इस आत्मामें नाना चित्रावली पड़ी है। उस चित्रावली के होते हुए भी अन्तरमें स्वभाव अत प्रकाशमान् जो शाश्वत तत्त्व है, उसकी जिन्हें दृष्टि नहीं हुई उन्हें तो इस चित्ररूप ही अपना सर्वस्व नजरमें आ रहा है और जिसे उस स्वभावका परिचय हुआ है उसने तो जब चाहे, दृष्टि की और दर्शन किये, जो कि स्वाभाविक पारिणामिक भावस्वरूप आत्मतत्त्व

की चर्चा है। तो आत्मामें ये चारों प्रकारके स्थान नहीं हैं।

क्षायिकभावके भेद— भैया! उन्हें और विशेषतासे जानना हो तो इसके भेद प्रभेदके द्वारा इसका स्वरूप विस्तार जान लो। जैसे क्षायिक भाव ९ प्रकारके बताये गए हैं—क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र। अब इन सबके निमित्तोंको भी जानो।

केवलज्ञानभाव— केवलज्ञान ज्ञानावरणके क्षयसे होता है, हुआ है, पर अनन्त काल तक अब जो वर्तेगा वहा आत्माका वह स्वभावपरिणमन चल रहा है यो देखो। यदि यों ही देखते रहोगे कि किसी समय इस आत्मामें कर्म लगे थे, उन कर्मोंका क्षय हुआ है तब यह केवलज्ञान हुआ है, फिर यहा तो ऐसा हाल हुआ कि गये तो हम भगवान्की स्तुति करने और भगवान्के पूर्वके अपराध गाने लगे। इन भगवान्के पहिले कर्म लगे थे। जब उन कर्मोंसे छुटकारा हुआ तब यह स्वभाव पाया। स्वभावके अनुरागी पुरुषोंको स्वभावपरिणमन ही दिखेगा। भैया! वहा तो ज्ञानी की ऐसी वृत्ति कि वर्तमान भी अपराध हो तो वे उन्हे भी नही देखना चाहते। फिर पूर्वकालके अपराध ख्याल करके भगवान्के गुण गाये इसमें अनुरागकी क्या प्रबलता मानी जाय? भगवान्के अब क्षायिक भाव हैं यह ऐसे ही कहा जा सकता है जैसे कि पूर्वकृत अपराधोंका ख्याल करते हुए कहा जाय। अरे जैसे अब धर्म अधर्म आकाश काल द्रव्य हैं वैसे ही तो समस्या उनकी है कि कुछ अन्तर है। जैसे ये शुद्ध पदार्थ शाश्वत शुद्ध अपने स्वभावपरिणमनरूप परिणमते हैं ये सिद्ध प्रभु अब उन्हीं द्रव्योंकी भांति ही तो अपने स्वभावके परिणमनसे परिणमते चले जाते हैं। अब वहा क्षायकभावक स्थान तकना यह स्वरूपके अनुरागीक योग्य काम नहीं।

स्वरूपका अनुराग— जैसे लोग कहा करते हैं जब दूलहा सजकर गावसे जाता है बरातके साथ तो अंमें दुलहाकी मा दरवाजे पर खड़े होकर कुछ गीत भी गाया करती है—जुवा आदिमें कहीं भी न अटक जाना, इस बरातमे सफल होकर आना, असफल होकर न आना। जब तक वह दुलहा अपने घर नहीं पहुंचता तब तक उसकी मा उसके आनेकी बाट जोहती है। जब वह दुलहा अपने घर पहुच जाता है तो उसकी मा बड़ी हर्षित हो जाती है। फिर वह मा अपने मनमें कोई विचित्र कल्पना नहीं उठाती अथवा जैसे आपत्तियोंमें फसा हुआ कोई बालक संकटोंसे छूट कर जब मांके पास आता है तो उस समय वह मां उस बालकके गुणोंका

अवलोकन करती हुई पूर्वकी सब बातोंको भूलकर निर्दोष निगाहमें उस बालकको देखती है। यों ही स्वरूपका अनुरागी पुरुष प्रभुके वर्तमान स्वभाव परिणमनकी एक विचित्र छटा को ही निरखता है, उसका स्तवन करता है। ये चारों प्रकारके भावस्थान इस आत्मतत्त्वके नहीं हैं।

कैवल्य अपरनाम पवित्रता— इस शुद्ध भावाधिकारमें इस चित्‌स्वभावकी शुद्धताको प्रकट किया जा रहा है। किसी भी पदार्थकी शुद्धता का अर्थ यह है कि उसके संगमें कोई परपदार्थ नहीं रहना चाहिए। जैसे चौकी पर कबूतरकी बीट पड़ी हो तो उसे अशुद्ध कहते हैं, तब किसी भाई से यह कहा करते हैं कि इस चौकी को शुद्ध कर दो, तो वह क्या करता है कि बीटका नाम मात्र भी न रहे ऐसी स्थिति बनाता है, पानीसे धो देता है। अब चौकी केवल चौकी रह गयी, अब बीटका अंश नहीं है इसी के मायने हैं चौकी शुद्ध हो गयी। कपड़ा पहिन लिया तो पहिनने से वह अशुद्ध हो गया। शरीरके अणु, जीवाणु, गंदगी, पसीना उस कपड़े से लग गया, कपड़ा अशुद्ध हो गया तो कहते हैं कि यह तो कपड़ा अशुद्ध है इसे शुद्ध करो। तो क्या करना कि शरीरसे सम्बन्ध होनेके कारण जो उसमें अशुद्धिकी बात आयी है उसे दूर कर दो। उसका उपाय क्या है कि पानीसे खूब धोलो। अब वह कपड़ा कपड़ा मात्र रह गया, उसके साथ गंदगी पसीना ये सब कुछ नहीं रहे। यही तो कपड़ेका शुद्ध होना है। आत्माका शुद्ध होना क्या कहलाता है? आत्माके साथ जो मल लगा है, सम्बन्ध जुटा है, शरीरका सम्बन्ध है, द्रव्यकर्मका सम्बन्ध है, भावकर्मका समवाय है, इतने परभाव इसके साथ लगे हैं उन्हें हटा दीजिए इसीके मायने आत्मा शुद्ध हो गया है। और शुद्ध आत्माका नाम भगवान है।

स्वभावकी व्यक्ति अपरनाम शुद्धता— भैया! भगवान् होने पर कुछ उनमें बढ़ोतरी नहीं हो जाती है। भगवान्‌से अधिक बढ़ोतरी तो संसारी जीवमें है (हंसी)। देखो इस संसारी जीवके साथ तो शरीर है। भगवान् शरीरसे हाथ धो चुके हैं, अब उन्हें शरीर मिलता कहा है? इस संसारी जीवने तो एक शरीर छोड़ा और नया शरीर पाया तो भगवान्‌से अधिक बढ़ोतरी इस ससारी जीवमें है ना। भगवान्‌में तो वे ही अकेले हैं, उनके साथ कोई दूसरी कुछ चीज नहीं है और यहा संसारी जीवके साथ शरीर भी लगा है, द्रव्यकर्म भी साथ है, भावकर्म भी विविध है। भगवान् तो शुद्ध हो गए, अब वे एकरूप ही परिणमक रहे हैं वे ऐसी हजारों कलाए खेल नो लें, भगवान् भला खेल तो लें इस तरह, नहीं खेल सकते हैं। ये संसारी जीव पेड़ बन सकते, कुत्ता, गधा आदि बन सकते

तो शुद्धतामें बाहरी चीजोंका संग हटता है लगता कुछ नहीं है। प्रभु शुद्ध हैं तो बाहरी संग प्रसंग हट गए।

सहजविकास-- अब यह देखते हैं कि उनमें अनन्तज्ञान हो गया, अनन्तदर्शन हो गया। अरे ! हो गया तो उसमे उनका क्या है ? जब बाह्य चीजें न रहीं तो यह अपने आप हो जाता है। कला तो इस ससारी जीव के हैं कि जो इसमें नहीं बसा, वह भी करके दिखाए, पर भगवान् प्रभुमें यह कला नहीं है। आखिर सब भगवान् ही तो हैं। बिगड़ जाये तो भी चमत्कार दिखा दे और शुद्ध हो जाएँ तो वहा स्वभावका चमत्कार दिखा दे। परद्रव्यका और परभवका सम्बन्ध न रहे तो ऐसा शुद्ध अन्तस्तत्त्व जब बनायेंगे, तब उन सब बातोंका निषेध करना होगा, जो परद्रव्य है या परभाव है, आपेक्षिकभाव है। उसी प्रसंगमें यहा यह चल रहा है कि इस शुद्ध अन्तस्तत्त्वरूप आत्माके न क्षायिकभावके स्थान हैं, न क्षायोपशमिक स्थान हैं, न औदयिक भावके स्थान हैं।

क्षायिक भावोंमें प्रथम प्रगट होने वाला भाव--क्षायिक भावके भेद ९ हैं, उनमें से प्रथम तो क्षायिकसम्यक्त्व है अर्थात् क्षायिकसम्यग्दर्शन पहिले प्रकट होता है। क्षायिकभावमे सर्वप्रथम प्रकट होने वाला भाव है तो क्षायिकसम्यक्त्व है। अनन्तानुबन्धी, क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति—इन सात प्रकृतियोंके क्षय होनेसे क्षायिकसम्यक्त्व प्रकट होता है।

सम्यक्त्वघातक क्रोध-- अनन्तानुबन्धी क्रोध वह है जहां अपने ही स्वभावकी रंच भी स्मृति नहीं है और पर्यायको ही आत्मस्वरूप माना जा रहा है। इस स्थितिमें जो जो भी क्रोध हो, वह सब अनन्तानुबन्धी क्रोध है। इस क्रोधसे यह जीव अपने स्वरूपकी बरबादी करता है और खुदका बिगाड़ करता है। कषायोंसे दूसरोंका बिगाड़ नहीं होता है। खुद ही अपनी बरबादी किया करता है।

सम्यक्त्वघातक मान-- इसी प्रकार मान कषाय स्वरूपविस्मरण सहित जो घमण्डकी परिणति है, वह सब अनन्तानुबन्धी मान है। मानमें यह अपनेको भूल जाता है। जो कुछ है, सो मैं ही हू। चाहे वह मानी पुरुष भगवान्की भी पूजा करे, फिर भी महत्ता अपनी ही अपनेको जचेगी यहा तो यह जंचेगा कि होता है कोई भगवान, पर चतुराई महत्ता सब मेरी है। जो अपने आगे भगवान्को भी विशेष नहीं समझता, वह दूसरोंको तो जानेगा ही क्या ?

सम्यक्त्वघातक माया-- मायाकषायमें भी स्वरूपविस्मरण है। यह

अन्तरमें बड़ा जाल पुर रहा है, क्योंकि किसी अभीष्ट विषयकी सिद्धि करना उसके मायाका प्रयोजन है। वह मायाको ढीला नहीं कर सकता। ज्ञानी जीव तो सोच सकता है कि अजी हो वह काम तो, न हो तो। माया प्रपञ्चमें क्यों पड़ें ? किन्तु अज्ञानी पुरुषमें, अनन्तानुबन्धी मायावान् पुरुषोंमें सकल्पित इष्टकार्यकी सिद्धिमें वह अधीर होकर हठ करता है, इसे अपनी सिद्धि करना ही है, चाहे कुछ भी उपाय करना पडे, मायाचार करता है।

सम्यक्त्वघातक लोभ— लोभकषाय अनन्तानुबन्धी लोभ, स्वरूप-विस्मरणसहित लोभका परिणाम हो, वह अनन्तानुबन्धी लोभ है। कोई पुरुष अपने परिवारके लिए बड़ा आराम दे, खूब खर्च करे, उनके लिए ही सर्वस्व सौंप दे और वह डींग मारे कि मुझे लोभ बिल्कुल नहीं है। घरमें देखो तो उच्चकोटिका रहन सहन है, भोजन उत्तम है, उत्तम मकान है, देखो लोभ हमारे बिलकुल नहीं है। अरे लोभके लिए ही तो खर्च किया। आराम, रहन-सहन, कुटुम्बका लोभ और मोह जिसमें बसा है, उन कुटुम्बी-जनोंके अतिरिक्त अन्य कार्योंमें अन्य पुरुषोंके लिए उदारता न बने तो कैसे कहा जा सकता है कि इसके लोभ नहीं है। ये सब कषायें इन प्रकृतियोंके उदय होने पर होती हैं।

सम्यक्त्वघातक प्रकृतियोंका क्षयक्रम— सबसे पहिले क्षायिक सम्यग्दर्शनके लिए उद्यमी जीव इन चार कषायोंका तिरस्कार करता है। ये चारों कषायें बड़ी बलवान् हैं। ये सीधे सीधे नष्ट भी नहीं होती हैं। सो अप्रत्याख्यानावरणरूप होकर इनकी छुट्टी हो पाती है, फिर अन्तर्मुहूर्तमें विश्राम करता है। फिर तो तीनों करण किए जाते हैं, जैसे कि विसयोजनके लिए किए थे, तब मिथ्यात्व प्रकृति सम्यक्मिथ्यात्वरूप होती है। सम्यक्मिथ्यात्व सम्यक्प्रकृतिरूप और अन्तमें उसका भी सर्वगुण सक्रमण हो करके क्षय हो जाता है और तब इसके क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होता है।

क्षायिकभावोंमें द्वितीय प्रकट होने वाला भाव— दूसरा क्षायिक भाव है क्षायिकचारित्र। शेष बची हुई २१ कषायोंके क्षय होनेसे जो चारित्र प्रकट होता है, उसे क्षायिकचारित्र कहते हैं। उन २१ प्रकृतियोंमें अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ—इन ८ प्रकृतियोंका ९वें गुणस्थानमें एक साथ पहिले क्षय होता है, पश्चात् नपुंसक वेदका क्षय होता है, पश्चात् स्त्रीवेदका क्षय होता है, पश्चात् हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा—इन ६ प्रकृ-

निद्राका क्षय होता है, पश्चात् पुरुषवेदका क्षय होता है, पश्चात् संज्वलन क्रोधका क्षय होता है, पश्चात् संज्वलन मानका क्षय होता है। इस प्रकार ९वें गुणस्थानमें ३२ प्रकृतियोंका क्षय होता है तथा शेष बची हुई संज्वलन लोभप्रकृतिका क्षय १०वे गुणस्थानमें होता है। इसके अनन्तर ही १२वें गुणस्थानमें पहुंचना होता है, वहा क्षायिकचारित्र होता है।

अन्तिम ७ क्षायिकभाव— इसके पश्चात् अब शेष सातों भाव केवलज्ञान, केवलदर्शन और ५ लब्धियां आदि एक साथ प्रकट होती हैं। केवलज्ञान ज्ञानावरणके क्षय होने पर प्रकट होता है। केवल दर्शन दर्शनावरणके क्षय होने पर प्रकट होता है और अतराय कर्मके क्षयसे क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य प्रकट होता है। ये पृथक पृथक अरहत अवस्था तक तो कुछ ज्ञानमें आते हैं, पर सिद्ध अवस्था होने पर वहा केवल एक क्षायिक वीर्य विदित होता है और बाकी सब वीर्यमें गर्भित हो जाता है। जैसे ज्ञानावरणके क्षय होने पर, पांचों ज्ञानावरणकी प्रकृतियोंके क्षय होने पर ज्ञान प्रकट होता है, किन्तु एक केवलज्ञान प्रकट होता है इसी प्रकार अतराय कर्मके क्षयसे एक क्षायिक वीर्य प्रकट होता है और वह सिद्ध भगवान्में भी रहता है।

अरहंतदेवमें दान लाभ भोग उपभोगकी विशेषताका कारण— भैया! अरहंत अवस्थामें चूँकि उनके समारोह बहुत है और सर्वथा पूर्ण विविक्त भी जीव नहीं होता है सो किन्हीं अपेक्षावोंसे इस कारण उनका विहार, दिव्यध्वनि होती है। वे यहां रहते हैं। वे सबको पूजने के लिए मिलते हैं इसलिए उनके दान, लोभ, भोग, उपभोगकी बातें पायी जाती हैं क्षायिक रूपसे। सिद्ध भगवान् ये नहीं मिल पाते हैं। उन्हें न मनुष्य पा सकते हैं, न तिर्यञ्च पा सकते हैं और न देव पा सकते हैं। उन सिद्ध भगवान्का कहीं विहार होता नहीं, कहीं उनका उपदेश सुननेको मिलता नहीं। कुछ भी तो बात उनसे यहां नहीं होती। वहां दान, लोभ आदिककी कल्पनाएं नहीं हैं। वे पूर्ण शुद्ध धर्म आदिक द्रव्योंकी तरह अगुरु लघुत्व गुण द्वारसे षट्स्थानवर्ती गुण हानिसे वे अपने गुणमें निरन्तर परिणमते रहते हैं, ये क्षायिक भावके स्थान इस जीवके शुद्धस्वरूपमे नहीं हैं।

स्वभावदृष्टिमें क्षायिक भावोंकी विविक्तता— भैया! स्वभावकी दृष्टि रखना है, परिणमन भी नहीं देखा जाना है। यहां केवल स्वभावमात्र शुद्ध अतस्तत्त्वको देखा जा रहा है और परिणमन की भी उपेक्षा है। सिद्धोंमें हैं इन गुणोंके पूर्ण शुद्धपरिणमन, परन्तु वे क्षायिक हैं कर्मोंके क्षय होनेसे हुए हैं, ऐसी कहनेमें उपेक्षा आ गयी। ये कर्मोंके क्षयसे प्रकट होते

हैं ऐसी अपेक्षा निश्चयसे वस्तुगत स्वरूपमें नहीं है और यहां तो पारिणामिक भावमय शुद्धजीवकी चर्चा है। इस कारण कहा गया है कि इस शुद्ध जीवास्तिकायके क्षायिक भावके स्थान भी नहीं हैं।

अपने क्षायोपशमिकभावकी चर्चा-- इसके बाद बताया गया है कि क्षायोपशमिक भावके स्थान भी नहीं हैं। कर्म प्रकृतिके क्षयोपशम होनेपर जो भाव प्रकट होते हैं उन्हें क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। ये तो हम आपमें पाये जा रहे हैं। कोई कभी है कोई कभी है। यह अपनी ही चर्चा है। जैसे आपसे कहा जाय कि आपकी जेबमें जो कागज रखे हैं वे आपके पास हैं ना, तो यह जल्दी समझमें आ जायेगा और अगर कोई नोट वगैरह होगा तो उसे देख भी लेंगे एक तरफसे कि रखा है या नहीं। आपकी यह चीज आपको खूब विदित है ना, उससे भी ज्यादा निकट सम्बन्ध वाली बात है क्षायोपशमिक भाव। यह आपके पास है, इसे कोई चुरा भी नहीं सकता। उन कागजोंको कोई हड़प भी सकता है।

क्षायोपशमिक ज्ञान और अज्ञान— क्षायोपशमिक भाव १८ प्रकारके होते हैं, चार प्रकारके ज्ञान— मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान। ये अपने-अपने आवरक कर्मके क्षायोपशम होने पर प्रकट होते हैं, और इसी तरह इनमें से तीन ज्ञान सम्यक्त्वके अभावके कारण कुज्ञान भी कहलाते हैं, उनके नाम हैं कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधि ज्ञान। इन कुज्ञानोंमें उल्टी समझ होती है। जैसे नरकोंमें माता और पुत्र भी एक जगह नारकी बन जायें तो पुत्र मा के जीवको देखकर प्यार न करेगा। वह पुत्र खुद ही सोच लेगा कि इसने मेरी आखमें सलाई डाल कर आखें फोड़नेकी चेष्टा की। चाहे वहा मा ने अपने पुत्रके अंजन ही लगाया हो। यह सब खोटा ज्ञान है।

कुश्रुतज्ञानमें अहितकर सूझ— आविष्कारक लोग क्या करते हैं कि अणुशक्तिको और और प्रकारके अस्त्रशस्त्रोंको प्रयोग करके रखते हैं व उनका उन्नति करनेमें दत्तचित्त रहते हैं। आविष्कार करनेका मुख्य लक्ष्य यह रहता है कि किसी युद्धमें हमारी विजय हो लाभ हो। एक अणु बम चलाया जाय तो उससे हम हजारों लाखोंकी सेनाको मार सकें व विजय पा सकें, यह दृष्टि उनकी रहती है। उन अणुशक्तियोंसे चाहें तो कपड़ेकी मिल चला दें और-और यंत्र चला दें, देशका बड़ा लाभ हो, पर यह ध्यान नहीं रहता। ध्यान तो खोटी बातोंका है। जो भी आविष्कार किया जाता है दूसरोंके सहारके लिया या अपने विषयोंको बड़ी बल से भोग सकें, इसके लिए आविष्कार होते हैं, क्योंकि कुश्रुत ज्ञान है ना। इस

तरह ४ ज्ञान और ३ ज्ञान ये ७ भेद क्षायोपशमिक भावके हुए।

अन्य ११ क्षायोपशमिक भाव— तीन दर्शन क्षायोपशमिक हैं चक्षुदर्शन, अचक्षुर्दर्शन, और अवधिदर्शन। दर्शनमें कल्पना नहीं होती है विकल्प नहीं होता है इसलिए यह सम्यग्दृष्टिके हो तो, मिथ्यादृष्टिके हो तो इसमें भेद नहीं पड़ा कि यह तो है भला दर्शन और यह है खोटा दर्शन। अंतरायकर्मका क्षयोपशम होने पर ५ लब्धियां प्रकट होती हैं—दान, लोभ, भोग, उपभोग और वीर्य। जैसे क्षायिक सम्यक्त्व ७ प्रकृतियोंके क्षयसे बताए गए हैं यों ही उन ७ प्रकृतियोंका क्षयोपशम होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह भी क्षायोपशमिक भाव है और अप्रत्याख्यानावरण कषायके क्षयोपशमसे जो चारित्र होता है वह क्षायोपशमिक चारित्र है। उसीमें एक संयमासंयम भी है। वह भी क्षायोपशमिक भाव है। ये १८ प्रकारके क्षायोपशमिक भाव और सूक्ष्मतासे असंख्यात प्रकारके क्षायोपशमिक भावके स्थान इस शुद्ध जीवास्तिकायमें नहीं होते हैं।

अफसोस और साहस— भैया! अपनी चर्चा यहां चल रही है कि मैं हूं कैसा? इसकी समझके बाद इसको अफसोस होगा कि हूं तो ऐसा और बन बैठा कैसा? जैसा मैं हूं उसका लक्ष्य करके उस पर दृष्टि दे, उसमें ही स्थिर हो जाय तो कल्याण कहा कठिन है? एक साहस की ही तो आवश्यकता है और इसके साथ सत्संग और स्वाध्यायकी बहुत अधिक आवश्यकता है। कारण यह है कि हमारे संस्कार वासनाएं विषय, कषायमें पड़े हुए हैं। सम्यक्त्व हो जाने पर भी ये वासनाएँ संस्कार फिर भी इसे विचलित करनेको तत्पर रहते हैं। उनसे अवकाश पानेके लिए सत्संग और स्वाध्याय इनकी बहुत आवश्यकता है। कोई कहता हो कि धर्ममार्ग बड़ा कठिन है। कषायोंका जीतना, अच्छे विचारोंपर दृढ़ रहना, अन्याय न करना और अपना सत्य आत्मसुख पानेका यत्न रखना यह तो कहनेकी बात होगी, कोई की जाने वाली बात न होगी। अपनेमें तो यह बात प्रकट नहीं हुई है। अरे उपाय तो किया नहीं सुगमतासे कैसे विदित हो?

सत्संग— अपने आपमें यह देखा जाय कि हम सत्संगमें कितने समय रहते हैं और रागीद्वेषी मोही अज्ञानी पुरुषोंके संगमें कितने समय तक रहते हैं? हिम्मत हो और असत्संगसे छुटकारा पाये तो ही भला है। करना भी पड़े प्रयोजनवश, गृहस्थी हैं, आजीविका करनी है, दुकान पर बैठना है, पर कभी ऐसा ख्याल तो बने कि अहो मैं तो सबसे विविक्त ज्ञान मात्र हूं, मेरा ज्ञानके सिवाय अन्य कोई काम ही नहीं है— ऐसा ख्याल बनने पर वहां मनमाना प्रवर्तन न होगा। कहीं हंसी मजाककी बातें होत

हैं तो वहां बोलना पड़ता है, बोल देता है, पर अन्तरमें यह भाव बना ही रहेगा कि कब इस झंझटसे अवकाश पायें ? असत्संग व्यर्थ है, इसे न करना चाहिए। लालसा रखनी चाहिए सत्संगकी। ज्ञान और वैराग्यमें जिनका चित्त सुवासित है— ऐसे पुरुषोंका संग करना, उनके निकट अधिक बैठना आदि सब सत्संग कहलाते हैं। सत्संगकी महिमा अन्य सम्प्रदायोंमें यहांसे भी अधिक पायी जाती है। वहां तो संतोंके पास बैठना, उनके प्रवचन सुनना आदि सभी बातोंका सत्संग नाम रखा है। कहां जा रहे हो भाई ? सत्संग करने जा रहे हैं, सत्संगकी बहुत महिमा है।

हितकी सात बातें— पूजा करते हुए आप रोज बोल जाते हैं ७ बातें मांगते हुए— शास्त्रका अभ्यास, जिनेन्द्र स्तवन, श्रेष्ठ पुरुषोंकी संगति और गुणियोंके गुण बोलना, दोषोंके कहनेमें मौन रखना, सबसे प्यारे [illegible] के वचन बोलना और आत्मतत्त्वकी भावना करना— ये सात बातें हैं। कहनेमें, सुननेमें ये बड़ी मीठी लग रही हैं और करनेमें यदि [illegible] तो उसका स्वाद वही पाएगा। इसमें श्रेष्ठ [illegible] ी संगति भी आई [illegible] संग और स्वाध्यायमें हम अधिक समय [illegible] रें। अन्य [illegible] ज्ञानभावना बनाए तो वे सब बातें जो [illegible] नी पुरुषोंके सब अपनेको विदित होने लगेंगी।

औदयिकभावके स्थान और [illegible] व— भावका वर्णन करने वाले इस [illegible] गया क्षायिकभावस्थान नहीं है और [illegible] भी औदयिकभावके स्थान भी नहीं हैं, [illegible] के निमित्तसे उत्पन्न होने वाले औदयिकभाव २१ तरहके होते हैं [illegible] मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, [illegible] दृष्टिसे असंख्यात भेद व स्थान हैं। [illegible] जीवमें नहीं हैं। जीवका [illegible] मलिनता प्रकट होती है, वह [illegible]

जीवमें ना [illegible] जीव नरकगतिमें जन्म [illegible] भाव रहता इस जी [illegible] वानका है। द्रव्य [illegible] स्वरूप है, किन्तु अ [illegible] अपने आपको वैसा [illegible]

है। और हम अपने आपका विरुद्ध अनुभव करते हैं। जो मेरा स्वरूप नहीं है उसरूप अपनेको मानते हैं। इसी कारण भगवान्में और अपनेमे इतना महान् अन्तर पड़ गया है, और इस अन्तरके फलमें अपन सब दुर्दशाएं भोग रहे हैं।

जीवमे मनुष्यभावका अभाव— मनुष्य हो गए तो क्या हुआ? मनुष्य अवस्थामे भी तो अनेक चिताएं, अनेक दुर्दशाए, अनेक विडम्बनाए पशु पक्षियोंकी भांति विषयोंके भोगनेमें प्रवृत्ति सभी कुछ इल्लतें तो चल रही हैं। मनुष्य हो गए तो कौनसा बड़ा लाभ पा लिया और मान लो कुछ अच्छे ढगसे भी रहे तो मृत्यु तो सामने आयेगी ही। मृत्यु सदा अपने केशोंको पकड़े ही खड़ी है। किसी भी समय झकझोर दे उसी समय विदा होना पडेगा। किसी का दिन नियत नहीं है कि इतने दिन अवश्य रहेग। यद्यपि कुछ व्यवस्थावोंसे कुछ ऐसा जानते हैं कि अभी और जीवित रहेंगे पर जानते हुए जैसे विवाह शादियोंमें निमत्रण भेजा करते हैं इसी तरह मृत्युका निमत्रण नहीं होता। मृत्युमें ऐसा नहीं होता कि अमुककी मृत्यु अमुक दिन इतने समय पर होगी सो जब लोग आना। हां जन्मका तो करीब करीबके दिनोंका विश्वास रहता है कि ८ महीनेका गर्भ है, एक महीनेमें होगा, पर मृत्युके विषयमें ऐसा नहीं है। तो मनुष्यगति नामक कर्मके उदयसे जो मनुष्यपर्याय मिली है और मनुष्योंके लायक भाव हुआ करते हैं वह भव भी जीवका स्वरूप नहीं है।

सहजमुक्तस्वभावके परिचय बिना मुक्तिका अनुद्यम— भैया! अपने आपका सहज यथार्थस्वरूप जाने बिना छुटकारा नहीं हो सकता है। छूटना किसे है उसको ही न जाने तो छुटकारा किसे हो? छूटना किसे है? वह स्वरूप छूटा हुआ ही है ऐसा ज्ञानमें न आए तो छूट नहीं सकता। जैसे गाय गिरमासे बधी है, पर छोरने वाले को यह विश्वास है अन्तरमें कि यह गाय तो पहिले से ही छूटी हुई है। अपने स्वरूपमें केवल गिरमाके एक छोरका दूसरे छोरसे सम्बन्ध है, इसका तो मुक्त स्वभाव है। अब वह बाहरी बंध टूट गया कि गाय जैसी छूटी थी वैसी छूटी हुई अब और प्रकट हो गई। इसी प्रकार जीवके स्वरूपको जब हम निहारते हैं तो यह जीव तो स्वय मुक्त ही है, अपने स्वरूप मात्र है, किसी दूसरेके स्वरूपको ग्रहण किए हुए नहीं है। ऐसा सहज मुक्त अनादि मुक्त आत्माके स्वभावको जाने बिना मुक्त होनेका कोई उद्यम नहीं कर सकता।

जीवमें तिर्यग्भावका अभाव— जैसे इस जीवमें मनुष्य गतिका स्वभाव नहीं है, वैसे ही तिर्यञ्च गति नामक नामकर्मके उदयसे जीव

हैं तो वहां बोलना पड़ता है, बोल देता है, पर अन्तरमें यह भाव बना ही रहेगा कि कब इस झंझटसे अवकाश पायें ? असत्संग व्यर्थ है, इसे न करना चाहिए। लालसा रखनी चाहिए सत्संगकी। ज्ञान और वैराग्यमें जिनका चित्त सुवासित है— ऐसे पुरुषोंका संग करना, उनके निकट अधिक बैठना आदि सब सत्संग कहलाते हैं। सत्संगकी महिमा अन्य सम्प्रदायोंमें यहासे भी अधिक पायी जाती है। वहां तो संतोंके पास बैठना, उनके प्रवचन सुनना आदि सभी बातोंका सत्संग नाम रखा है। कहां जा रहे हो भाई ? सत्संग करने जा रहे हैं, सत्संगकी बहुत महिमा है।

हितकी सात बातें— पूजा करते हुए आप रोज बोल जाते हैं ७ बातें मांगते हुए— शास्त्रका अभ्यास, जिनेन्द्र स्तवन, श्रेष्ठ पुरुषोंकी संगति और गुणियोंके गुण बोलना, दोषोंके कहनेमें मौन रखना, सबसे प्यारे हित के वचन बोलना और आत्मतत्त्वकी भावना करना— ये सात बातें हितकी हैं। कहनेमें, सुननेमें ये बड़ी मीठी लग रही हैं और करनेमें यदि आ जाए तो उसका स्वाद वही पाएगा। इसमें श्रेष्ठ पुरुषोंकी संगति भी आई। सत्संग और स्वाध्यायमें हम अधिक समय व्यतीत करें। अन्य उपायोंसे भी ज्ञानभावना बनाए तो वे सब बातें जो सुनते हैं, ज्ञानी पुरुषोंके कथनमें वे सब अपनेको विदित होने लगेंगी।

औदयिकभावके स्थान और उनका जीवमें अभाव— जीवके शुद्ध भावका वर्णन करने वाले इस प्रकरणमें यह बताया गया है कि जीवके क्षायिकभावस्थान नहीं है और क्षायोपशमिकभावस्थान भी नहीं है। अब औदयिकभावके स्थान भी नहीं हैं, यह बात प्रकट कर रहे हैं। कर्मोंके उदय के निमित्तसे उत्पन्न होने वाले भावोंको औदयिक भाव कहते हैं। ये औदयिकभाव २१ तरहके होते हैं--चार गति, चार कषायें, तीन लिंग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्ध और ६ लेश्या। इनके अनुभागोंकी दृष्टिसे असंख्यात भेद व स्थान हैं। ये सभी औदयिक भावके स्थान इस जीवमें नहीं हैं। जीवका स्वभाव ज्ञानानन्द है। कर्म उपाधिके निमित्तसे जो मलिनता प्रकट होती है, वह मलिनता जीवका स्वरूप नहीं है।

जीवमें नारकभावका अभाव— नरक गतिनामक नामकर्मके उदयसे जीव नरकगतिमें जन्म लेता है। नरकगतिमें जन्म लेना और नरक जैसे भाव रहना इस जीवका स्वभाव नहीं है। जीवका स्वभाव वह है जो भगवान्‌का है। द्रव्यदृष्टिसे भगवान्‌में और अपनेमें अन्तर नहीं है, क्योंकि स्वरूप है, किन्तु अन्तर जो पड़ा है, वह पर्यायदृष्टिका अन्तर है। प्रभु अपने आपको वैसा ही अनुभव करते हैं, जैसा कि जीवका सहजस्वरूप

है। और हम अपने आपका विरुद्ध अनुभव करते हैं। जो मेरा स्वरूप नहीं है उसरूप अपनेको मानते हैं। इसी कारण भगवान्में और अपनेमें इतना महान् अन्तर पड़ गया है, और इस अन्तरके फलमें अपन सब दुर्दशाए भोग रहे हैं।

जीवमें मनुष्यभावका अभाव— मनुष्य हो गए तो क्या हुआ? मनुष्य अवस्थामें भी तो अनेक चिताएं, अनेक दुर्दशाए, अनेक विडम्बनाएं पशु पक्षियोंकी भांति विषयोंके भोगनेमें प्रवृत्ति सभी कुछ इल्लतें तो चल रही हैं। मनुष्य हो गए तो कौनसा बड़ा लाभ पा लिया और मान लो कुछ अच्छे ढगस भी रहे तो मृत्यु तो सामने आयेगी ही। मृत्यु सदा अपने केशोंको पकड़े ही खड़ी है। किसी भी समय झकझोर दे उसी समय विदा होना पड़ेगा। किसी का दिन नियत नहीं है कि इतने दिन अवश्य रहेंगे। यद्यपि कुछ व्यवस्थावोंसे कुछ ऐसा जानते हैं कि अभी और जीवित रहेंगे पर जानते हुए जैसे विवाह शादियोंमें निमत्रण भेजा करते हैं इसी तरह मृत्युका निमत्रण नहीं होता। मृत्युमें ऐसा नहीं होता कि अमुककी मृत्यु अमुक दिन इतने समय पर होगी सो जब लोग आना। हां जन्मका तो करीब करीबके दिनोंका विश्वास रहता है कि ८ महीनेका गर्भ है, एक महीनेमें होगा, पर मृत्युके विषयमें ऐसा नहीं है। तो मनुष्यगति नामक कर्मके उदयसे जो मनुष्यपर्याय मिली है और मनुष्योंके लायक भाव हुआ करते हैं वह भव भी जीवका स्वरूप नहीं है।

सहजमुक्तस्वभावके परिचय बिना मुक्तिका अनुद्यम— भैया! अपने आपका सहज यथार्थस्वरूप जाने बिना छुटकारा नहीं हो सकता है। छूटना किसे है उसको ही न जाने तो छुटकारा किसे हो? छूटना किसे है? वह स्वरूप छूटा हुआ ही है ऐसा ज्ञानमें न आए तो छूट नहीं सकता। जैसे गाय गिरमासे बची है, पर छोरने वाले को यह विश्वास है अन्तरमें कि यह गाय तो पहिले से ही छूटी हुई है। अपने स्वरूपमें केवल गिरमाके एक छोरका दूसरे छोरसे सम्बन्ध है, इसका तो मुक्त स्वभाव है। अब वह बाहरी बंध टूट गया कि गाय जैसी छूटी थी वैसी छूटी हुई अब और प्रकट हो गई। इसी प्रकार जीवके स्वरूपको जब हम निहारते हैं तो यह जीव तो स्वय मुक्त ही है, अपने स्वरूप मात्र है, किसी दूसरेके स्वरूपको ग्रहण किए हुए नहीं है। ऐसा सहज एक अनादि मुक्त आत्माके स्वभावको जाने बिना मुक्त होनेका कोई उद्यम नहीं कर सकता।

जीवमें तिर्यग्भावका अभाव— जैसे इस जीवमें मनुष्य गतिका स्वभाव नहीं है, वैसे ही तिर्यञ्च गति नामक नामकर्मके उदयसे जीव

तिर्यञ्च होता है अर्थात् तिर्यञ्च शरीरसे जन्म लेता है और तिर्यञ्च भवके योग्य भावोंको करता है। आज यह जीव मनुष्य है तो मनुष्यके योग्य परिणाम करता है। मनुष्योंमें बैठना, मनुष्यों की जैसी बात करना और जैसे श्रृङ्गार परिग्रह सचय या अन्य प्रकारके सम्बन्ध व्यवहार जैसे मनुष्यभवमें करते हैं वैसे परिणाम बनाता है और मरकर तिर्यञ्च बन गया तो कोई तिर्यञ्च श्रृङ्गार तो नहीं करता। कोई तिर्यञ्च परिग्रहका सचय नहीं करता। जैसे मनुष्य परस्पर में रिश्तेदारीका व्यवहार रखते हैं क्या वैसा सम्बन्ध तिर्यञ्चोंमें नहीं होता? होता है। जैसे ये मनुष्य सम्बन्ध मानते हैं वैसे ही तिर्यञ्चोंमे भी होता है, किन्तु वहा रिश्तेदारी का व्यवहार नहीं है। तिर्यञ्चोंमें तिर्यञ्च जैसा भाव है। गाय, बैल हो गए तो गाय बैलमें ही ममत्वका भाव होगा। गाय, बैल जैसा भोजनका परिणाम होगा। तिर्यञ्चके भाव होना, तिर्यञ्चगतिमे जन्म होना यह सब भी जीवका स्वरूप नहीं है।

जीवमे देवगतिका अभाव--देवगति नामक नामकर्मके उदयसे जीव देवदेहको धारण करता है। वहां सर्वसिद्धि ऋद्धि रहती हैं, भूख प्यासकी वेदनाए नहीं होतीं, देवागनावोंमें उनका रमण होता और उनके योग्य वहा भाव चलता है किन्तु वह कुछ भी इस जीवका स्वरूप नहीं है। जीव तो सहज अपने सत्वके कारण जैसा स्वरूप रखता है वह जीव है। इतनी झलक किसी क्षण हो जाय तो बेड़ा पार है। इतनी झलक हुए बिना जीवको सारी विडम्बनाए हैं और व्यर्थ ही परिग्रह सचय करके चेतन अचेतनका ममत्व करके अपना यह समय गुजार रहा है। तो चारों प्रकार की गतियोंके भावोंके स्थान भी जीवके नहीं हैं। यह औदयिक भाव है।

जीवकी कषायभावोंसे विविक्तता— यह प्रकरण चल रहा है जीवके शुद्ध भावका। जीवका वास्तविक स्वरूप क्या है, उसका उसके ही कारण से कैसा स्वरूप है उसे बताते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि जीवके न क्षायिक भावके स्थान हैं, न क्षायोपशमिक भावके स्थान हैं, न औदयिक भावके स्थान हैं और न औपशमिक भावके स्थान हैं। चारों कषाय औदयिक भाव हैं। जीवके स्वरूप हों तो जीवको शांतिके ही कारण बनें। जीव का स्वरूपजीवको अशांतिका कारण नहीं होता। किसी भी पदार्थका स्वरूप उस पदार्थको बरबाद करने के लिए नहीं होता। स्वरूप तो पदार्थका अस्तित्व बनाए रखनेके लिए है अथवा है, दूसरी बात यह है कि कषाय भाव अस्थिर भाव हैं।

जीवमे कषायभावोंकी अप्रतिष्ठा— कोई क्रोध बहुत समय तक नहीं

कर सकता। कोई घण्टाभर लगातार क्रोध करे—ऐसा तो नहीं देखा जाता है। कभी कोई क्रोधमें बना भी रहे तो भी सूक्ष्मवृत्तिसे उसके अन्दर नम्बर बदलता रहता है। क्रोध, मान, माया व लोभ—इन चार कषायोंमें से कोई एक कषाय भी अन्तमुहूर्तसे ज्यादा नहीं टिक सकती। कोई क्रोध कर रहा होगा तो अन्तमुहूर्तमें ही क्रोधपरिणाम बदल जाएगा, मान आदिक हो जायेंगे। किसी भी कषायमें हो, वह कषाय अन्तमुहूर्तसे ज्यादा नहीं चलती है, किन्तु ज्ञानभाव यह सदा चलता रहता है। कोईसी भी कषाय हो, ज्ञान सदा रहता है। इससे यह सिद्ध है कि कषाय जीवका स्वरूप नहीं है, किन्तु ज्ञान जीवका स्वरूप है। क्रोध गुस्सेका नाम है, मान अहंकारका नाम है, माया छल कपटको कहते हैं और लोभ परको अपनानेको कहते हैं। यह मेरा है अथवा उसकी तृष्णा लगी हो, यह सब लोभ है। ये चार कषायें क्रोध, मान, माया, लोभ नामक मोहनीय कर्मकी प्रकृतिके उदयसे होती हैं। इस कारण कषायभावोंके स्थान भी जीवके स्थान नहीं हैं।

जीवमें वेदभावका अभाव— लिङ्ग भाव अर्थात् पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद। परिणाम भी वेदनामक मोहनीय कर्मके उदयसे होते हैं, ये परिणाम दुःखके लिए होते हैं, स्वरूपविस्मरणके कारण हैं, जीवको अपने शीलसे चिगाकर कुशीलकी स्थितिमें बनाए रखता है। ये जीवके स्थान नहीं हैं।

मिथ्यात्वकी विभावमूलता— मिथ्यादर्शन तो सर्वबरबादियोंका मूल है। इन सब विभावोंकी उच्चसत्ता मिथ्यात्व है। जीव अपने स्वरूपको भूले और किसी परपदार्थमें अपना स्वरूप माना करे बस, इस भ्रम पर ये सर्वक्रोधादिक कषाय और सर्व विभाव इस मिथ्यात्वकी भित्तिपर खड़े हुए हैं। जहां मिथ्यात्व हटा कि केवल कषाय भावकी फिर स्थिति नहीं रहती है, वह मिटनेके ही सम्मुख रहता है। भले ही संस्कारवश कमाए जानेके कारण कुछ काल मिथ्यात्वके अभावमें भी रहे, किन्तु वे कषायें अब आत्मामें प्रतिष्ठा नहीं पातीं। कषाय भी हैं, किन्तु वह ज्ञानी उन कषायोंसे विविक्त सहज चिदानन्दस्वरूप अपने आत्मामें आत्मत्वकी प्रतीति रखता है। जैसे कोई दूसरा विपत्तिका कारण तब बनता है, जब उसे अपनाएं। इसी तरह ये कषाय भाव विपत्तिके कारण तब बनेंगे, जब कि कषाय भावको अपनाएं। ज्ञानी पुरुष उदयमें आई हुई कषायोंको अपनाता नहीं है, किन्तु वियोग बुद्धिसे उन्हें भोगता है। ये आए हैं कषाय भाव निकलने के लिए, सो निकल जाओ।

जीवमें मिथ्याभावका अभाव— भैया ! मब ज्ञानकी महिमा है। गुप्त सरल सहज अपने स्वरूपरूप जो ज्ञानवृत्ति है, उसकी ही सारी मंगलमय महिमा है, किन्तु वे ही किए जा रहे हैं, पर माना अपने आपको कुछ और है। बैंकोंमें करोड़ों रुपयोंका हिसाब रखने वालोंके द्वारा उनकी रक्षा की सब बातें की जा रही हैं, किन्तु वहां बैंकरको यह भ्रम नहीं होता कि यह सब मेरा स्वरूप है, मेरी चीज है, मेरा वैभव है। वह अपनेको तो जानता है लोकपद्धतिमें, उतना ही विश्वास बनाए हुए है। पर रक्षा उसी प्रकार से है, जैसे धनी मालिकके द्वारा होती है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव कहीं गृहस्थमें अव्यवस्था नहीं मचा डालता है। जब तक घरमें रहता है, तब तक सब व्यवस्था बनाए रहता है, किन्तु उपने शुद्धभावकी ओर ही है कि मैं तो इन सबसे न्यारा केवल ज्ञानमात्र हूं—ऐसे ज्ञानीसंतके उपयोगमें आए हुए निजअन्तस्तत्त्वके यह औदयिक भाव स्थान नहीं है—ऐसी प्रतीति में पड़ा हुआ है।

जीवमें औदयिक अज्ञानभाव और असिद्धित्वभावका अभाव—ज्ञानके कम होनेका नाम अज्ञान है। यह औदयिक अज्ञान है। क्षायोपशमिक अज्ञानके खोटे ज्ञानका नाम कुज्ञान है और ज्ञानकी कमीरूप औदयिक अज्ञानका नाम औदयिक अज्ञान है। यह ज्ञानभाव १२वें गुणस्थान तक होता है। यह ज्ञानकी कमीरूप, अभावरूप अज्ञान भी जीवका स्वरूप नहीं है। असंयम—संयमरूप प्रवृत्ति न होना, विषयोंमें निरर्गल बने रहना—ऐसी जो विषयकषायोंकी वृत्तियां हैं, वे असंयम कहलाती हैं। असंयमभाव जीवका स्वभाव नहीं है, स्वरूप नहीं है। असिद्धभाव—सिद्ध न होना, संसारमें बने रहना अथवा कर्मसहित रहना आदि भी जीवका स्वभाव नहीं है। यह असिद्धिपना १४ वें गुणस्थान तक माना गया है। जब तक कर्म कुछ भी शेष हैं, तब तक उसे असिद्ध माना है।

उपाधिवश लेश्याओंका लेप— ६ लेश्याएं कृष्ण नील, कापोत, पीत, पद्म, और शुक्ल लेश्या, ये परिणाम भी जीवके स्थान नहीं हैं, जीवके स्वभाव नहीं है। ऐसा सोचते हुए यह भाव करना [illegible] यह लेश्या मेरा भाव नहीं है। होती हैं। जैसे सिनेमा का पर[illegible] सफेद है पर उपाधि जब सामने आती है, [illegible] सामने पर्दे पर वे चित्र विचित्र सब रंग [illegible] आए, नहीं है कि वह चित्रित हो जाय। [illegible] चित्रित है। इसी तरह यह आत्मस्वरू[illegible] [illegible] है, सन्निधान है तब इस जीवमें ना[illegible] पायोंके

विषयकषायोंके परिणाम जीवके स्वभाव नहीं हैं। जो पुरुष अपने आपको स्वरूपदृष्टि करके अभी भी मुक्त निरख सकते हैं। वे ही जीव पर्याय अपेक्षा भी मुक्त हो सकेंगे। जो यह जानते हों कि मै तो ऐसा ही मलिन तुच्छ हूं, यह मलिन ही रहा करता है। जिसे अपने स्वभावकी उत्कृष्टताका पता नहीं है, वह स्वभाव विकास नहीं कर सकता।

पराश्रयतामें क्लेशकी अनिवार्यता— स्वभावाश्रयका काम करना हम आप लोगोंको पड़ा है और सच पूछो तो इसी लिए हम आप मनुष्य हैं—ऐसा भाओ। कामके लिए मनुष्य नहीं है और काम तो चार दिनकी चांदनी फिर अन्धेरी रात है। मिल रहे हैं ये और मानों इस ही भवमें बड़े धनी थे, अब धनी नहीं रहे—ऐसी भी स्थिति आ जाए तो भी उससे क्या बिगड़ा? पहिले साधारण थे, अब धनिक हो गए तो इससे अपनी महिमा नहीं जाननी चाहिए, अपनेमें हर्षमग्न न होना चाहिए। ये सुख दु ख और, सम्पत्ति विपत्ति तो एक समान बेड़ी हैं। चाहे लोहेकी बेड़ी पड़ी हो, चाहे सोनेकी बेड़ी पड़ी हो, परतन्त्रता दोनोंमें समान है। आप यहीं देख लो कि चाहे लाखोंका वैभव हो और चाहे १०० रु० वाला खोमचा लगाकर गुजर बसर करता हो, परतन्त्रता दोनों पुरुषोंमें एक समान है। ये लखपति पुरुष क्या स्वतन्त्र नहीं हैं? नहीं। क्या वे स्त्री-पुत्र, धन-वैभव आदिकसे कल्पनाओ द्वारा बधे नहीं हैं? क्या ये दूसरोंके प्रसन्न रखनेकी चेष्टा नहीं करते हैं? करते हैं। गरीबोंसे भी अधिक करते हैं। परतन्त्रता सर्वत्र ही समानरूपसे विद्यमान है। चाहे कुछ भी सुख हो, दु'ख हो, सम्पदा हो या वैभव हो।

आत्माश्रयताके अर्थ मानवजन्म— भैया! अब तो समझो कि हम इस गुजारेके लिए मनुष्य नहीं हुए हैं, किन्तु अपने आत्माकी स्वभावदृष्टि को दृढ़ करके उसमे स्थिरता बनाकर अपना कर्मभार दूर कर लें। जो काम अन्य भवोंमे नहीं किया जा सकता वह काम मनुष्यभवमें करलें। अन्य सब काम तो अन्य भवोंमें भी किए जा सकते हैं। बच्चोंका प्यार क्या गाय बनकर नहीं किया जा सकता, क्या पक्षी बनकर नहीं किये जा सकता? रही यह बात कि ये दो पैरके पक्षी हैं। अरे! तो जैसे बच्चे होंगे, उन्हींमें ही प्रेम करने लगेगा। क्या उदरपूर्ति, खाना-पीना, मौज करना, डकार लेना और पैर पसारकर सोना आदि क्या पशु बनकर नहीं किया जा सकते? पशुओंसे बढ़कर हममें कौनसी बात हो गई है? इस पर जरा ध्यान तो दें, वह हो सकती है रत्नत्रयकी होने वाली बात। समागममें आए हुए सब जीवोंको उनके ही भाग्य पर छोड़ दें, अन्तरङ्गके विश्वासके साथ

अर्थात् उनसे अपना भार न माने। आप उनके पालनेके कारण भी हो रहे हों। यदि वे यह जाने कि भार इनका मुझ पर कुछ नहीं है। इनका उदय ही है, इसलिए यह सब हो रहा है। यों अपनेको निर्भार मानकर जो निज-स्वरूपकी सेवामें रहेगा, उसे उजाला मिलेगा, प्रभुस्वरूपका दर्शन होगा, वे अपने आपकी प्रगति कर सकेंगे। जो अपने स्वरूपको भूले हुए हैं और जो बाह्यको ही सब कुछ मान रहे हैं, उन सबका कुछ सुधार नहीं हो सकता है।

जीवमें लेश्यान्त सर्वऔदयिक भावोंका अभाव-- ये छहों प्रकारकी लेश्याएं क्या हैं ? ये बाह्यपदार्थविषयक कुछ परचना ही तो हैं। कृष्णलेश्या में पुरुष क्रोधी, बकवाद करने वाला, गालीगलौच देने वाला सबका अप्रिय बनता है। नीललेश्यामें यह यह जीव अपने विषयोंका तीव्र अनुरागी रहता है। कपोतलेश्यामें यह जीव मान, प्रतिष्ठा, यशकी धुनि बनाए रहता है। पीत शुक्ललेश्यामें शुभ भाव होते हैं, किन्तु ये सभी के सभी भाव उदय-स्थान हैं। कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर हुए हैं। ये जीवके स्वभाव भाव नहीं हैं।

जीवमें औपशमिकभावस्थानोंका अभाव-- इसी प्रकार औप[illegible] भाव दो प्रकारके होते हैं—औपशमिक सम्यक्त्व औ[illegible]
यद्यपि ये जीवकी निर्मलताके भाव हैं, फिर भी [illegible]
पाकर होते हैं और रह भी नहीं सकते। इसलि[illegible]
शमिक भावके स्थान भी जीवके नहीं हैं। [illegible]
शुद्धपरिणामिक भावरूप है, अपने ज्ञानान[illegible]
जिसे पहिचाना है, वह अपनेको आनन्द[illegible]
दूर होता है।

जीवकी शुद्धपारिणामिकभावस्व[illegible]
चार तत्त्वोंका वर्णन हुआ है—औ[illegible]
क्षायोपशमिक। अब पंचम भाव जो [illegible]
हैं। जीवके भाव कहनेसे भावके दो [illegible]
भाव तो सब पर्यायरूप ही थे, वे [illegible]
गुणरूप हैं और उनमें से भी शुद्ध [illegible]
जीवत्व, भव्य[illegible] [illegible]मिक
त्व भाव उसे [illegible] सके
जीवित रहे अ[illegible]
यह जीव १० [illegible]

भव्यत्व भाव रत्नत्रयके पानेकी योग्यताको व अभव्यत्वभाव रत्नत्रयके प्राप्त करनेकी योग्यता न होनेको कहते हैं। इनमेंसे जीवत्व नामका पारिणामिक भाव भव्य और अभव्य दोनोंमें एक समान रूपसे रहता है। भव्यत्व नामक पारिणामिकभाव भव्य जीवोंके ही होता है और अभव्यत्व नामक पारिणामिक भाव अभव्यजीवोंके ही होता है। इस प्रकार पारिणामिक भावका भी संक्षेपमें वर्णन हुआ।

क्षायिकभावकी कार्यसमयसाररूपता— अब इन ५ भावोंमें से यह विचार करें कि मोक्षका कारण कौनसा भाव है? क्षायिकभाव तो मोक्ष स्वरूप है, कार्यसमयसार रूप है वह तो मोक्षका कारण नहीं है किन्तु मोक्ष रूप है। उसमें जो पहिली अवस्थाके भाव हैं जब कि सभी क्षायिक भाव नहीं उत्पन्न हुए किन्तु जैसे क्षायिक सम्यक्त्व हुआ है तो वह मुक्तिका कारणरूप भाव है। यह कार्यसमयसाररूप क्षायिक भाव केवलज्ञानी पुरुषों के होता है, तीर्थंकर प्रभुके होता है, जो तीन लोकके जीवोंमें आनन्दकी खलबली मचा देने वाला तीर्थंकर नामक प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ है ऐसे केवलज्ञानसहित तीर्थनाथके भी क्षायिकभाव हैं और सामान्यकेवलीके भी क्षायिकभाव है और भगवान् सिद्धके भी क्षायिक भाव है।

क्षायिकभावकी सावरणयुक्तता— यह क्षायिक भाव सावरण जीवों में होता है अर्थात् आवरणसहित जीवोंमें क्षायिकभाव होता है। पूर्ण निरावरण सिद्ध भगवान् हैं। सिद्ध भगवान्में क्षायिकभाव कहना नैगमनय की अपेक्षा है, साक्षात्में क्षायकको नहीं कह सकते क्योंकि क्षायिकका वास्तविक अर्थ यह है कि कर्मोंके क्षयका निमित्त पाकर जो भाव उत्पन्न होता है उसे क्षायिकभाव कहते हैं। तो कर्मोंके क्षयका तो एक ही समय है नहीं, सिद्ध भगवान्में क्या कर्मोंका क्षय हो रहा है? वहां कर्म हैं ही नहीं और अरहंत भगवान्में भी एक बार घातियाकर्मोंका क्षय होनेके बाद क्या उनके घातियाकर्मोंका निरन्तर क्षय होता रहता है? नहीं होता है। तो क्षयका निमित्तमात्र पाकर होने वाले भावका नाम क्षायिक भाव है। सो क्षायिक भावका नाम वास्तवमें क्षयके निमित्त होनेके समय है। पश्चात् भी क्षायिकभाव कहना यह नैगमनयसे कहा जाता है। चूँकि पहिले क्षायक हुआ था और उस क्षयके कारण यह भाव प्रकट हुआ, वही सदृश परिणमता हुआ चला आ रहा है अतः क्षायिक है, ऐसा उपचारसे कहा जाता है और जिस कालमें क्षायक भाव उत्पन्न हो रहा है उस कालमें यह जीव आवरण सहित है। चार अघातिया कर्मोंका आवरण लगा है, देहका आवरण लगा

अर्थात् उनसे अपना भार न मानें। आप उनके पालनेके कारण भी हो रहे हों। यदि वे यह जाने कि भार इनका मुझ पर कुछ नहीं है। इनका उदय ही है, इसलिए यह सब हो रहा है। यों अपनेको निर्भार मानकर जो निजस्वरूपकी सेवामें रहेगा, उसे उजाला मिलेगा, प्रभुस्वरूपका दर्शन होगा, वे अपने आपकी प्रगति कर सकेंगे। जो अपने स्वरूपको भूले हुए हैं और जो बाह्यको ही सब कुछ मान रहे हैं, उन सबका कुछ सुधार नहीं हो सकता है।

जीवमें लेश्यान्त सर्वऔदयिक भावोंका अभाव-- ये छहों प्रकारकी लेश्याएं क्या हैं ? ये बाह्यपदार्थविषयक कुछ परचना ही तो हैं। कृष्णलेश्या में पुरुष क्रोधी, बकवाद करने वाला, गालीगलौच देने वाला सबका अप्रिय बनता है। नीललेश्यामें यह यह जीव अपने विषयोंका तीव्र अनुरागी रहता है। कपोतलेश्यामें यह जीव मान, प्रतिष्ठा, यशकी धुनि बनाए रहता है। पीत शुक्ललेश्यामें शुभ भाव होते हैं, किन्तु ये सभी के सभी भाव उदयस्थान हैं। कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर हुए हैं। ये जीवके स्वभाव भाव नहीं हैं।

जीवमें औपशमिकभावस्थानोंका अभाव-- इसी प्रकार औपशमिक भाव दो प्रकारके होते हैं—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिकचारित्र। यद्यपि ये जीवकी निर्मलताके भाव हैं, फिर भी ये कर्मके उपशमका निमित्त पाकर होते हैं और रह भी नहीं सकते। इसलिए औदयिकके समान औपशमिक भावके स्थान भी जीवके नहीं हैं। जीव तो इन चारों भावोंसे परे शुद्धपरिणामिक भावरूप है, अपने ज्ञानानन्दस्वरूप है। सो अपने आपकी जिसे पहिचान है, वह अपनेको आनन्दसे भोगता है और कर्मोंके भारसे दूर होता है।

जीवकी शुद्धपारिणामिकभावस्वरूपता-- जीवके निज तत्त्वोंमें से चार तत्त्वोंका वर्णन हुआ है—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। अब पचम भाव जो पारिणामिक है, उसका वर्णन करते हैं। जीवके भाव कहनेसे भावके दो अर्थ लेना--गुण और पर्याय। चार भाव तो सब पर्यायरूप ही थे, वे गुणरूप नहीं हैं। पारिणामिक भाव तो गुणरूप हैं और उनमें से भी शुद्ध जीवत्व शुद्धगुणरूप है और अशुद्ध जीवत्व, भव्यत्व और पारिणामिक आदि पर्यायोंकी योग्यतारूप हैं। जीवत्व भाव उसे कहते हैं कि जिसके कारण यह जीव चैतन्यस्वरूप करके जीवित रहे अथवा व्यवहार जीवत्व उसे कहते हैं कि जिस भावके कारण यह जीव १० द्रव्य प्राणोंकर जीवित था, जीवित है अथवा जीवित रहेगा।

भव्यत्व भाव रत्नत्रयके पानेकी योग्यताको व अभव्यत्वभाव रत्नत्रयके प्राप्त करनेकी योग्यता न होनेको कहते हैं। इनमेंसे जीवत्व नामका पारिणामिक भाव भव्य और अभव्य दोनोंमें एक समान रूपसे रहता है। भव्यत्व नामक पारिणामिकभाव भव्य जीवोंके ही होता है और अभव्यत्व नामक पारिणामिक भाव अभव्यजीवोंके ही होता है। इस प्रकार पारिणामिक भावका भी सक्षेपमें वर्णन हुआ।

क्षायिकभावकी कार्यसमयसाररूपता— अब इन ५ भावोंमें से यह विचार करें कि मोक्षका कारण कौनसा भाव है? क्षायिकभाव तो मोक्ष स्वरूप है, कार्यसमयसार रूप है वह तो मोक्षका कारण नहीं है किन्तु मोक्ष रूप है। उसमे जो पहिली अवस्थाके भाव हैं जब कि सभी क्षायिक भाव नहीं उत्पन्न हुए किन्तु जैसे क्षायिक सम्यक्त्व हुआ है तो वह मुक्तिका कारणरूप भाव है। यह कार्यसमयसाररूप क्षायिक भाव केवलज्ञानी पुरुषों के होता है, तीर्थंकर प्रमुक होता है, जो तीन लोकके जीवोंमें आनन्दकी खलबली मचा देने वाला तीर्थंकर नामक प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ है ऐसे केवलज्ञानसहित तीर्थनाथके भी क्षायिकभाव हैं और सामान्यकेवलीके भी क्षायिकभाव है और भगवान् सिद्धके भी क्षायिक भाव है।

क्षायिकभावकी सावरणयुक्तता— यह क्षायिक भाव सावरण जीवों में होता है अर्थात् आवरणसहित जीवोंमें क्षायिकभाव होता है। पूर्ण निरावरण सिद्ध भगवान हैं। सिद्ध भगवान्में क्षायिकभाव कहना नैगमनय की अपेक्षा है, साक्षात्मे क्षायकको नहीं कह सकते क्योंकि क्षायिकका वास्तविक अर्थ यह है कि कर्मोंके क्षयका निमित्त पाकर जो भाव उत्पन्न होता है उसे क्षायिकभाव कहते हैं। तो कर्मोंके क्षयका तो एक ही समय है नहीं, सिद्ध भगवान्में क्या कर्मोंका क्षय हो रहा है? वहां कर्म हैं ही नहीं और अरहंत भगवान्में भी एक बार घातियाकर्मोंका क्षय होनेके बाद क्या उनके घातियाकर्मोंका निरन्तर क्षय होता रहता है? नहीं होता है। तो क्षयका निमित्तमात्र पाकर होने वाले भावका नाम क्षायिक भाव है। सो क्षायिक भावका नाम वास्तवमें क्षयके निमित्त होनेके समय है। पश्चात् भी क्षायिकभाव कहना यह नैगमनयसे कहा जाता है। चूँकि पहिले क्षायक हुआ था और उस क्षयके कारण यह भाव प्रकट हुआ, वही सदृश परिणमता हुआ चला आ रहा है अतः क्षायिक है, ऐसा उपचारसे कहा जाता है और जिस कालमें क्षायक भाव उत्पन्न हो रहा है उस कालमें यह जीव आवरण सहित है। चार अघातिया कर्मोंका आवरण लगा है, देहका आवरण लगा

है, तो ऐसे आवरणसहित जीवोंमें क्षायिक भाव होनेके कारण यह भी मुक्तिका कारण नहीं है। यहा मुक्तिका कारणरूप भाव मुक्त होनेसे एक समय पहिले ले लो।

मुक्तिकारणता— औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव तो ससारी जीवोके ही होते हैं। मुक्त जीवोंके तो होते नहीं है। मुक्त जीवोंके उपचारसे भी औपशमिक भाव नहीं कहा गया है। एक दृष्टिसे ये चारों भाव मुक्तिके कारण नहीं हैं किन्तु एक पारिणामिक भाव जो उपाधि रहित है, निरावरण है, आत्मस्वभावरूप है, निरञ्जन है, उत्कृष्ट है, ऐसा जो चित्स्वभावरूप, जीवत्वरूप जो पारिणामिक भाव है, उसकी भावना करनेसे यह जीव मुक्तिको प्राप्त होता है। तब एक दृष्टिसे मुक्तिका कारण कोई भी भाव नहीं रहा। पारिणामिक भाव तो अपरिणामी है, कार्यकारण के भेदसे रहित है, उसे मुक्तिका कारण नहीं कहा जा सकता है। शेष जो चार भाव हैं, वे सावरण जीवोंके होते हैं। तब फिर निर्णय क्या करना कि पारिणामिकभावकी भावना मोक्षका कारण है और यह भावना औपशमिक क्षायिक और क्षयोपशमिक भावरूप होते हैं, सो इस दृष्टिसे ये तीन भाव मोक्षके कारण हैं।

स्वभावाश्रयकी मुक्तिकारणता— औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भावकी मुक्तिकारणताका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि अपने आपका जो सनातन अहेतुक चैतन्यस्वभाव है, उस चैतन्यस्वभावकी आराधना मुक्तिका कारण है। अपना उपयोग बाह्यपदार्थोंमें न चले और रागद्वेषका कारण न बने तो यह उपयोग अपने स्वभावमें लग सकता है। जहा उपयोग अपने स्वभाव को छोड़कर खुदको भी समान्यरूप कर डाले। बस ! ऐसे उपयोगकी सामान्य वर्तना मुक्तिका कारण है। इन संकटोंसे छूटना है व ये सकट बाह्यपदार्थोंमें दृष्टि गड़ानेसे आते हैं। सकट वास्तवमें कुछ हैं ही नहीं। सकटमात्र इतना ही है कि हम बाह्यपदार्थोंकी परिणतिको देख करके अपने आपमें गुन्तारा लगाया करते हैं। ये इष्ट अनिष्टकी भावनासे दुःखी हो रहे हैं।

अज्ञानहठके परिहारमें हित— जैसे कभी कोई बालक ऐसी हठ कर बैठता है कि यह अमुक यहां नहीं बैठे। अरे ! उस बालकका क्या बिगड़ गया ? किन्तु तब तक वह चैन नहीं लेता, जब तक वह उठ कर उस स्थान से चला न जाए। जैसे जिससे कोई सम्बन्ध नहीं है, उस वस्तुके प्रति वह अज्ञानी बालक हठ करता है। इसी तरह यह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि भी परपदार्थोंकी परिणतिया निरखकर अपनी हठ बनाए रहता है और उसमें

दुःखी होता रहता है। केवल अपने स्वरूपको निरखें और धारणामें यह रखें कि मैं तो सबसे न्यारा स्वतन्त्रस्वरूप सत्तामात्र परिपूर्ण तत्त्व हू। इस को फिर करनेका क्या काम है?

ज्ञानानन्दात्मक आत्मस्वरूपके आश्रयका प्रताप-- भैया! अपना परिपूर्ण भाव जो अपनेमे सनातन सत् अहेतुक स्वभाव विराजमान है, उसके आलम्बनसे मुमुक्षु जीव पञ्चमगतिको प्राप्त होते हैं, प्राप्त होंगे और प्राप्त हुए थे। इस कारण परमआनन्दके निधान इस पञ्चमगतिकी प्राप्ति की जिन्हें वाञ्छा है, उनका एक ही मात्र स्वभावाश्रयका मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञानानन्दमात्र हू। ज्ञान और आनन्द दोनों परस्परमें अविनाभावी हैं। यदि यह कह दिया जाए कि मैं ज्ञानस्वरूप हू तो भी उसका अर्थ यह है कि मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हू और कभी यह कह दिया जाए कि मैं आनन्दस्वरूप हूं तो भी उसका अर्थ यह है कि मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हू। इसकी साधना करने वाले पञ्चआचारोंके पालनहार आचार्य उपाध्याय और साधु परमेष्ठी होते है। ये तो परिपूर्ण अधिकारी होते हैं, किन्तु जो गृहस्थजन हैं, वे भी इस पारिणामिक भावकी दृष्टिके अधिकारी होते हैं।

सहजसत्यन्याय— अहो! कैसा यह न्याय है अपने आपके अन्तर का कि जहा दृष्टि मुड़ी और सबसे भिन्न ज्ञानमात्र अपने आपको तका कि वहा इसके सकट दूर हो जाते हैं और बाह्यपदार्थोंमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि हुई कि यह सकटोंसे घिर जाता है? सर्वसकटोंसे मुक्त होनेके लिए एकमात्र यह उपाय है कि अपने आपके स्वभावकी दृष्टि रक्खें। अभी कोई दुष्ट पुरुष किसी बड़े घरानेके आदमीको गाली देता हो और वह भी कुछ गाली देनेको तैयार हो तो लोग समझाते हैं कि तुम बड़े कुलके हो, तुम्हारे कुल का ऐसा स्वभाव नहीं है कि दुष्टके साथ दुष्ट बन जाओ। इसी प्रकार से ज्ञानीजन अपने आपको समझाते हैंकि तुम्हारा तो भगवानकी तरह चैतन्य-स्वभाव है, तुम ज्ञायकमात्र हो, तुम्हारा स्वभाव ही ऐसा है। बाह्यपदार्थोंमें इष्ट और अनिष्टकी बुद्धि बनाते फिरना तुम्हारा स्वभाव नहीं है। ससार मे रुलने वाले जीव इष्ट अनिष्ट भावोंमें बहे जा रहे हैं।

परमार्थशरणका शरण स्मरण—भैया! हम सब जीवोंको शरण है तो अपना स्वभावपरिज्ञान शरण है। जैसे जिस सिंहको स्वभावविस्मरण हो गया। बचपनसे ही गडरियोंकी भेड़ोंके बीचमें पलता रहा है। इस कारण जब तक उसे अपने स्वभावका विस्मरण है, तब तक गडरियेके वश मे है। वह गडरिया जहां चाहे कान पकड़कर उसे बांध देता है, किन्तु ज्यों

ही उसे किसी कारणसे स्वभावका स्मरण हो आया, दूसरे सिंहको दहाड़ते हुए देख लिया, छलांग मारते हुए देख लिया किसी भी प्रयोगसे उस सिंह को स्वरूप स्मरण हो जाए तो फिर वह परतन्त्रतामें नहीं रह सकता। वह छलांग मारकर स्वतन्त्र हो जाता है। इसी प्रकार संसारी जीवको अपने स्वभावका विस्मरण है, इस कारण वह परतन्त्र है। इसे बैठे ही बैठे कुछ भीतर आता जाता कुछ नहीं है बाहरसे, किन्तु अपने आप ही कल्पनाएं मचाकर दुःखी हुआ करता है। सो आकिञ्चन्य भाव बनाकर अपने आप में विराजमान् अपनी प्रभुताके दर्शन करके उसकी ही दृष्टि रखकर मुक्ति का मार्ग अपना बनाना चाहिए।

विधिनिषेधसे अनवस्थित और अवस्थित वस्तुनिर्णय-- वस्तुका निर्णय सप्रतिपक्ष भावमें होता है। किसी भी वस्तुको जब हम आंखोंसे देखते हैं तो भीतरमें यह श्रद्धा रहती है कि यह पदार्थ यह है, यह पदार्थ अन्यरूप नहीं है। बोलने चालनेका भी मौका नहीं पड़ता है। अगर कोई विवाद करे तो बोला जाता है, पर प्रत्येक पदार्थको देखते ही उसके सम्बन्धमें अस्ति और नास्तिकी पद्धतिसे परिज्ञान होता है। जब मैं अपने बारे में अस्तिसे सोचता हू तो मैं ज्ञानमात्र ही ध्यानमें रहता हू। जब नास्तिसे सोचता हू तो मैं देहसे न्यारा, रागद्वेषसे न्यारा और मन वचनसे न्यारा, सर्वसे विविक्त हू—ऐसा अपने आपके ध्यान करनेके लिए और अधिक शब्द न सोचे जायें तो इतना ही सोचा जाए कि मैं देहसे भी न्यारा ज्ञानमात्र हू" इसे बड़ा अध्यात्म मन्त्र समझिये।

मुमुक्षुका अन्तर्भावनाविहार-- अपने आपके मर्म तक पहुचनेके लिए सुगम भावना है तो यही है कि मैं देहसे भी न्यारा ज्ञानमात्र हू। कोई विरुद्ध भावना न भायी जाये और ऐसा ही अपने आपको निरखा जाय तो देहसे न्यारा हू—ऐसी देहकी भी चर्चा छूटकर केवल ज्ञानमात्र हू, केवल ज्ञानमात्र हू—ऐसी भावना रहेगी। वह नास्ति वाला पक्ष दूर हो गया। अब केवल अस्ति वाला पक्ष रहा। मैं ज्ञानमात्र हू, पर जैसे जैसे इस ज्ञान की अनुभूतिमें प्रवेश होता है तो मैं ज्ञानमात्र हू—ऐसी भी धारणा उसकी छूट जाती है और वहा फिर ज्ञानानुभवका ही आनन्द अनुभवा जाता है। यों अपनेमें आकिञ्चन्य भाव बढ़ाकर और ज्ञानमात्र हू, इस प्रकारकी भावना करके पारिणामिक भावकी उपासना करे तो इस पारिणामिक भावकी उपासनाके प्रसादसे इन समस्त मुमुक्षु जीवोंको मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

शुभ भावोंकी शिव व विषम परिस्थितियां— दान, पूजा, उपवास

शील, व्रत, तप ये मनकी प्रवृत्तियां हैं। ये शुभ प्रवृत्तियां हैं ये अशुभ भावोंको पछारने वाली प्रवृत्तिया है। इन शुभ भावोंमें लगने वाले पुरुष को विषयोंकी इच्छा और अन्य पदार्थविषयक कषाय नहीं उत्पन्न होता है। तो तीव्र कषायोंसे और विषयवाञ्छावोंसे बचाने वाली, इस आत्माकी रक्षा करने वाली परिणति है शुभ भावोंकी परिणति। सो शुभ भाव तो हमें पापों से बाधा देते हैं, किन्तु वे शुभ भाव भोगियोंके भोगके कारण हैं। उन भावोंसे पुण्य बंध होता है, जब पुण्यका उदय आया तो इसे भोग के साधन प्राप्त होते हैं। उस कालमें यदि विवेक है, सावधानी है, ज्ञान सजग है तब तो इसकी कुशलता है और विवेक न रहा तो भोगोंको पाकर अधोगति होती है। भोगों में आसक्त रहने वाला पुरुष सम्यक्त्वको प्राप्त नहीं कर सकता बल्कि ७ वें नरकका नारकी सम्यक्त्वको प्राप्त कर सकता है। धर्मकी दृष्टिमें भोगोंमें आसक्ति हुआ मनुष्य सप्तम नरकके नारकोंसे भी पतित है।

शुद्धभावमें सर्वत्र निरापदता— भैया! पुण्यका उदय आने पर यदि ज्ञान नहीं रह सका तो इसकी दुर्गति होती है। तो शुभ भावोंकी तो ऐसी कहानी है। अशुभ भावोंकी कहानी स्पष्ट ही है। पापके परिणाम हों, विषय भोगोंके भाव हों, दूसरोंको नष्ट करनेका परिणाम होता हो तो यह साक्षात् पापरूप भाव हैं। वर्तमानमें भी तीव्र क्षोभ है और इसके उदयकाल में भी तीव्र क्षोभ है और इसके उदयकालमे भी उसे तीव्र क्षोभ होगा। पर एक धर्मभावकी परिणति अर्थात् पारिणामिक भावरूप परमतत्त्वके अभ्यास की परिणति ऐसी शुद्धपरिणति है कि इस भावकी भावनामें निष्णात हो जाय कोई योगी तो वह संसारसे मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस कारण शुभकर्म भी छोड़ने योग्य हैं और अशुभ कर्म भी छोड़ने योग्य हैं। एक शुद्ध सहज क्रिया सहज स्वभावकी दृष्टि और उस ही के रमणरूप क्रिया ही एक उपादेय है।

भावोंका दान उपादान-- शुभ अशुभ परिणति छूटने का यह क्रम है कि पहिले अशुभ भाव छूटता है फिर शुभ भाव छूटता है और शुद्ध तत्त्वका आश्रय होता है। पश्चात् उस शुद्ध तत्त्वका आश्रय करनेरूप भी अतःश्रम नहीं रहता है। फिर धर्म आदिक द्रव्योंकी तरह स्वयमेव ही शुद्ध आत्मावोंमें स्वभावपरिणमन चलता है। यहां प्रकरण चल रहा है कार्यसमयसार और कारणसमयसारका। कार्यसमयसार तो है अरहंत और सिद्धदेवका परिणमनरूप शुद्ध विकास और कारणसमयसार है वह चैतन्यस्वरूप, जो चैतन्यस्वरूप ही तो अरहंत और सिद्धके शुद्ध-

विकासको प्राप्त हुआ है। वह कारणसमयसार सब जीवोंमें निरन्तर अंत' प्रकाशमान् है। काई इसको देख सके तो देख ले, कोई नहीं देख सकता तो न देखे, मगर कारणसमयसार अर्थात् आत्माका स्वरूप चित्स्वभाव निश्चल है।

कार्यसमयसार व कारणसमयसारकी उपासना— भैया! अपनेमें दोनों समयसारोंका आराधन करना है। कार्यसमयसार अर्थात् अरहंत सिद्ध देवके अंतरङ्ग परिणति, उसकी भी सेवा करना, उसकी भी पूजा प्रतीति करना और कारण समयसारकी भी पूजा करना—इन दोनोंमें भी कारणसमयसार की उपासना तो इस जीवका स्वयंका सब कुछ स्वरूप है। कारणसमयसार भी यह स्वयं है और कारणसमयसारकी उपासना भी यह स्वयं है, किन्तु कार्यसमयसार तो प्रभु है, पर विषय है और उनकी उपासना करना, यह एक अपना परिणमन है और यह भेदरहित है। पूजने वाला यह मैं और पुजने में आया हुआ है अरहंत सिद्धरूप परद्रव्य। सो अरहत सिद्धकी जो पूजा है वह वास्तविक मायनेमें अपनी पूजा है। उस पूजाके द्वारा अपने आपके स्वरूपको पहिचान कर कारणसमयसारका साधक बन जाय और वैसा कारणसमयसार कार्यसमयसारकी कल्पनासे रहित केवल एक ज्ञान सामान्यरूप अपना परिणमन करें।

गृहस्थोंका धार्मिक कर्तव्य— अपना कल्याणमय परिणमन बनाने के लिए कर्तव्य यह है कि दोनों समयसारोंकी हम पूजा करें और इसमें भी गृहस्थावस्थामें जो ६ आवश्यक कर्तव्य बताए गए हैं उन ६ आवश्यक कर्तव्योंमें बराबर सावधान रहें।

देवपूजा— देवपूजा प्रात' उठ कर स्नान कर शुद्ध होकर जिसको जितनी फुरसत जैसी सुविधा मिले उसके अनुसार दर्शन करे, पूजन करे। दर्शन तो एक स्वाधीन पूजन है अथवा निरालम्ब पूजन है। द्रव्य सालम्बन पूजन है और भावमात्रसे पूजन करें तो वह निरालम्ब पूजन है। द्रव्यका आश्रय इस कारण लिया जाता है कि उसमें समय अधिक व्यतीत हो और उस प्रकारकी पूजामें अधिक समय तक हम प्रभुकी याद रख सकें और इतने अधिक समय तक धर्ममय जीवन चले। तो जिसको जैसी सुविधा हो वह वैसी और उतनी पूजा करे।

गुरूपास्ति, स्वाध्याय व संयम— दूसरा कर्तव्य है गुरुओंकी उपासना करना। जैसे उनके चित्तका प्रसाद बन सके उस प्रकार वैयावृत्ति करना, उनसे शिक्षा ग्रहण करना यह सब है गुरूपासना। स्वाध्याय— ग्रन्थ पढ़कर, ग्रन्थ सुनकर अथवा उपदेश देकर अथवा पाठ याद करके किन्हीं

भी विधियोंसे ज्ञानकी वृद्धि करना सो स्वाध्याय है। संयम अपने भोजन-पान आदिक कार्योंमें कुछ न कुछ संयम बनाए रहना जिससे स्वच्छन्द होकर न भूले। प्राणियोंकी रक्षा करना, देखकर चलना, किसी जीवका घात न हो जाय, न्यायसे रहना, किसी मनुष्यपर अन्याय न करना, अपने इन्द्रिय विषयोंमें स्वच्छन्द न प्रवर्तना यह सब सयम है।

तप और दान— समय समय पर जितना जब ख्याल रहे, जितना बन सके अपनी इच्छा तोडना। जैसे कोई इच्छा हुई कि आज हमें खीर खाना है तो उसके बाद ही यह नियम करे कि आज हमारा खीरका त्याग है, क्यों ऐसी विरुद्ध इच्छा हुई? अरे जो भोजन मिल गया ठीक है। उसके लिए उद्यम करना, परिश्रम करना और फिर फल इतना है कि स्वाद लिया, थोड़ा पेट भरा। एक उदाहरणकी बात कही है। विषयोंके सम्बन्ध में कोई इच्छा जगे तो उसका नियम कर लेना, क्यों ऐसी इच्छा जगी? अथवा गृहस्थके दो तप हैं। जो आय हो उसके भीतर ही व्यवस्था बनाकर गुजारा करके धर्मवुद्धिमें प्रवर्तना और अधिक सचयकी इच्छा न करना। दूसरे जिस समय सयोग है उस संयोगके कालमें भी ऐसी भावना रखना कि इनका कभी न कभी वियोग होगा। ये दो तप गृहस्थोंके लिए बताये हैं और अंतिम कर्तव्य है दान। योग्य कार्यमें, उपकारमें अपना धन व्यय करना। ये ६ कर्तव्य गृहस्थों के हैं। इनसे पाप कटते हैं, शुभ भाव बनते हैं और शुद्ध दृष्टि करनेकी पात्रता बनती है।

चउगइभवसभमणं जाइजरामरणरोग-सोका य।
कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो सन्ति ॥४२॥

क्या हू और क्या हो गया— इस जीवके चार गतियोंका भ्रमण नहीं है। न जन्म है, न बुढ़ापा है, न मरण है, न रोग है, न शोक है, न कुल है, न योनि है, न इसके योनिस्थान है, न मार्गणा स्थान है। यहां इस बात पर ध्यान दिलाया जा रहा है कि अपने आपमें यह सोचें कि ओह मैं क्या तो था और क्या हो गया? मैं अपने स्वरूपसे अपने आप की शक्तिके कारण एक शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हू, किन्तु अनादिकाल से पर-उपाधिके सम्बन्धमें क्या हो गया हू, इसकी विडम्बना हो रही है। मनुष्य बनना, तिर्यञ्च बनना और नाना प्रकारके शरीर पाना यह क्या मेरी वृत्ति है, क्या मेरा स्वभाव है? मैं तो जाननहार एक अमूर्त आत्म-तत्त्व हूं। क्या तो हू और क्या हो गया हू—इस बात पर दृष्टि देना है। भगवान्की भक्ति भी हम इस लिए करते हैं कि हमको यह साक्षात् स्मृत हो जाय कि हे प्रभु! मै क्या तो था और क्या हो गया? जिस शरीरको

देखकर हम अहंकार किया करते हैं। जिस शरीरमें आत्मबुद्धि करके हम बाहर ही बाहर उपयोग को घुमाते रहते हैं क्या ऐसी दौड़धूप करना, ऐसी आकुलताए और क्षोभ मचाना मेरा स्वरूप है। अपने स्वरूपकी स्मृतिके लिए भगवंतका स्मरण किया जा रहा है।

जीवमें सर्वविकारोंका अभाव— इस गाथामें कुछ परतत्त्वोंका निषेध किया गया है। उपलक्षणसे यह अर्थ लेना कि इस जीवमें किसी भी प्रकारका विकार नहीं है। देखिए विकार भी है और जीवका यह विकार परिणमन है, पर जैसे गर्मीके दिनोंमें तालाब ऊपरसे गरम हो जाता है। उसमें तैरने वाला तैराक पुरुष ऊपरकी तह पर यदि तैरता है तो उसे गरम जल लगता है और डुबकी लगाकर नीचेकी तहमें पहुचता है तो उसको जल ठंडा मालूम होता है। इसी प्रकार इस जीवके ऊपरी तह पर अर्थात् औपाधिक रूप पर, विभाव परिणमन पर जब हम दृष्टि रखते हैं तो ये सारी विडम्बनाएं हैं और भोगनी पड़ती हैं। जब इस तहके और भीतर चलकर अपने शुद्ध सत्त्वमात्र स्वरूपको निरखते हैं तो वहां केवल वह ज्ञानप्रकाश मात्र ही अनुभवमें होता है। कहां देह है, कहां भ्रमण है, कहां बुढापा है, कुछ भी दृष्ट नहीं होता। उस शुद्ध जीवास्तिकाय पर दृष्टि रखकर इस ग्रन्थमें यह वर्णन चल रहा है और उसी दृष्टिसे इस ग्रन्थ में प्रारम्भसे लेकर अंत तक होता रहेगा।

चर्च्यपरिचयकी आवश्यकता— भैया! जिसकी चर्चाकी जा रही है उसका नाम न मालूम हो तो उस चर्चाका अर्थ क्या? जैसे कोई आपस में गप्पेंकी जा रही हों और वहां उसकी सारी बातें बखानी जा रही हों, किन्तु व्यक्तिका नाम न लिया जा रहा हो तो उसकी चर्चा का अर्थ क्या? इसी प्रकार ग्रन्थमें सारी चर्चाकी जाय, पर किसकी चर्चा है? लक्ष्यभूत सहजस्वभावकारण समयसार उसका परिचय न हो तो यह चर्चा कुछ माने नहीं रखती। बल्कि संदेह हो जाता है कि क्या बका जा रहा है? कहते हैं कि इस जीवका चारों गतियोंमें भ्रमण नहीं होता। और हो किस का रहा है? अभी मनुष्य हैं, मरकर पशु हुए, मरकर और कुछ हुए तो क्या यह पुद्गलका भ्रमण है? इसमें शकाएं हो जाती हैं। हां जिस दृष्टि मे रहकर शंका की जा रही है उस दृष्टिमें तो सच है कि जीवका चतुर्गति भ्रमण है। किन्तु चतुर्गतिके भ्रमण करनेका स्वभाव रखने वाला यह जीव ऐसा नहीं है। यह तो शुद्धज्ञानानन्द स्वभावी है।

एकत्वस्वरूपमें अन्यका अप्रवेश— चीजें सब इकहरी होती हैं, मिला कुछ नहीं होता है। मिलमामे अनेक चीजें हैं। एक चीज मिली हुई

नहीं होती है। यह वस्तुका स्वरूप है। तो जीव भी अकेला है, वह किस स्वरूप है? स्वरूपको परखे तो यही विदित होगा कि वह प्रतिभासमात्र आकाशकी तरह अमूर्त कोई एक आत्मा है। क्या वह आत्मा ऐसा अमूर्त निराला अकेला है? हां, है। यदि वह निराला नहीं है, अकेला नहीं है, किसी दूसरे वस्तुके मेल जैसा स्वभाव है तो उसका सत्त्व नहीं रह सकता है तो ऐसा निराला अकेला, चिदानन्दस्वरूप आत्मामें और कुछ नहीं है। उसमें तो वह ही है। तब ज्ञानावरणादिक ८ कर्म इस जीवमें कहां रहें? वे तो अचेतन अपने सत्त्वको लिए हुए हैं, रहो। जीवमें अब कर्म नहीं रहे। कर्म अलग सत्ता वाले पदार्थ हैं तो जीवमें द्रव्यकर्म नहीं स्वीकार किया गया और भावकर्म स्वीकार नहीं किया गया। ज्ञानी पुरुष ही इस मर्मके वेत्ता होते हैं।

स्वरूपमें औपाधिकभावका अस्वीकार— जैसे सिनेमाके पर्दे पर फिल्मके अक्स आते हैं किन्तु जिसे विदित है कि यह तो स्वच्छ सफेद कपड़ा है तो वह उस पर्देके स्वरूपमें चित्रोंको स्वीकार नहीं करता। जैसे यथार्थ जानने वाला पुरुष पर्दे पर चित्रमयता नहीं स्वीकार करता है इसी प्रकार जिसको अपने सत्त्वका परिचय है, स्वरूपका भान है वह अपनेमें भावकर्मका प्रतिबिम्ब होकर भी उन्हें स्वीकार नहीं करता कि मैं रागद्वेष रूप हूं। तो जहां द्रव्यकर्मका और भावकर्मका स्वीकार नहीं हुआ, वहां फिर नरक तिर्यञ्च मनुष्य देव इन चार गतियोंका परिभ्रमण कहां है? यह योगीजनोंके मर्मकी बात है और यह न जानो कि यह साधुजनोंके ही परखनेकी चीज है, यह तो आत्माके द्वारा परखी जाने वाली बात है। वह चाहे पशु हो, चाहे पक्षी हो, चाहे गृहस्थ हो, चाहे साधु हो उसको सबको देखनेका अधिकार है और वह आत्मस्वरूप उन भव्य जीवोंको दृष्ट हो जाता है। जो बात पशु और पक्षीको भी दृष्ट हो सकती है वह बात हमें न दृष्ट होगी, यह कहना युक्त न होगा। हम ही नहीं देखना चाहते हैं सो दृष्ट नहीं है।

अशरणसे शरण चाहनेका व्यामोह— घरके लोग धन परिवार ये इस जीवको क्या तो शरण हैं और क्या शरण होंगे। यह जीव तो सबसे न्यारा केवल अकेला ही है। इसका कौन तो कुटुम्बी है और इसका क्या वैभव है? आज यहां है कहो जीवनमें ही संग बिछुड़ जाय चेतन और अचेतन इन सबका। अथवा स्वयंको भी तो मरण करके जाना होगा। फिर इसका कौन साथ निभायेगा? यह जीव सर्वत्र अकेला है, अपने स्वरूप मात्र है, ऐसी बुद्धि आए तो इस जीवका कल्याण है अन्यथा मोह

ममतामें तो इस जीवको कभी शांतिका मार्ग नहीं मिल सकता है। दिखा रहे हैं यहां शुद्ध जीव स्वरूपको। उससे कुछ तो यह ध्यान दो कि ओह क्या तो मैं था और क्या बन गया हू ?

स्वदयाकी ओर ध्यान— भैया ! अपने पर कुछ दया विचार करके जो वर्तमानमें बना फिर रहा है उसकी दृष्टि तो गौण करें और मुझमें जो स्वरूप है उसका ही जो स्वकीय विभाव है उसपर दृष्टिपात करें। ऐसा करने पर ज्यादासे ज्यादा बुरा क्या होगा कि लोगोंमें परिचय कम हो जायेगा, लोगोंमें उठा बैठी कम हो जायेगी, अथवा कदाचित् मान लो धनकी आय भी कम हो जाये, प्रथम तो ऐसा होता नहीं, जो शुद्धभावसे धर्मकी ओर दृष्टि रखते हैं उनका पुण्य प्रबल होता है और वैभव प्रकट होता हैं। कदाचित् मान लो उदय ही ऐसा हो कि व्यापारमें ज्यादा मन न लगे, धनमे कमी हो गयी, पापकी उदीरणा हो गई, तो यह तो विवेक होगा कि ये मायामय इन्द्रजालिया पुरुष यही तो कहेंगे कि मुझे पूछता नहीं अथवा अपमान करेंगे, सो इससे क्या यह सब भी स्वप्नकी चीज है ! इससे कुछ मेरे स्वरूपमें बिगाड़ नहीं होता। यदि अपने स्वरूपकी दृष्टि प्रबल हुई तो बाहरमें कहीं कुछ हो, उससे नुक्सान नहीं है, किन्तु लाभ ही है। मोक्ष मार्ग चलना है।

आत्महितकी रुचिमें बाह्यस्थितिकी लापरवाही— एक कथानक है कि गुरु और शिष्य थे। साधु अध्यात्मिक संत था। एक समय किसी छोटी पहाड़ी पर उन्होंने अपना निवास किया। कुछ दिन बादमें देखा कि राजा बडे ठाठबाटसे सेना सजाए हुए आ रहा है। तो संन्यासीने सोचा कि राजाको यदि हम अच्छे जचे, राजाके चित्त पर मेरा प्रभाव पड़ा तो फिर मेरे लिए सदाको आफत हो जायेगी। यहा सारी प्रजा दुनिया, राजा सभी लोग पडे रहा करेंगे अथवा बहुत आवागमन बना रहेगा। उससे मेरेको तकलीफ होगी। इस कारण ऐसा कार्य करें कि राजाका चित्त हट जाय और इसे मेरे प्रति घृणा हो जाय। सो गुरुने अपने शिष्यसे कहा बेटा देखो वह राजा आ रहा है। हां आ रहा है। राजा पास आयेगा तो तुम उसी समय हमसे रोटियोंकी चर्चा करने लगना, हम बोलेंगे कि तुमने कितनी रोटी खाई तो तुम बोलना कि हमने इतनी खाई। हम कहेंगे कि इतनी क्यों खाई तो तुम कहना कि कल तुमने भी तो ज्यादा खाई थी, सो आज हमने ज्यादा खाई, ऐसी चर्चा करनेसे राजा सोचेगा कि साधु महाराज रोटियोंके विषयमें लड़ते हैं तो ऐसा देखकर राजा चला जायेगा। राजाके आने पर गुरु और शिष्य दोनोंमें वैसी ही चर्चा हुई, तुमने कितनी

रोटी आज खाई ? हमने १० खाई। १० क्यों खाई ? कल तुमने भी तो १० खाई थी। हमने कल कम खाई थी, सो आज हमने ज्यादा खाई। ऐसी चर्चा सुनकर राजा उसके पाससे चला गया। राजाके चले जाने पर उस सन्यासीने शान्तिकी सांस ली। कभी-कभी ऐसी बात बन जाती है कि संतजनोंको अपमान या अन्य कुछ भी हो तो भी वे उसकी परवाह नहीं करते हैं।

आत्माकी अजररूपना— यह संसार स्वप्नवत् है। यहा जिसे अपने सहजस्वभावकी दृष्टि है, उसे दृष्टिमे चारों गतियोंका भ्रमण नहीं है। मै तो नित्य शुद्ध चिदानन्दस्वरूप हू, कारणपरमात्मतत्त्व हू। मुझमें द्रव्यकर्मका ग्रहण नहीं है, न द्रव्यकर्मग्रहणके योग्य विभावोका परिणमन है, इस ही कारण मेरा जन्म भी नहीं है, मरण भी नही है, रोग भी नही है। अपने आपके अन्तरमें शुद्ध ज्ञानप्रकाशका अनुभवन करे। किसी अन्यरूप अपने को न देखे तो उसे इस देहका भी मान न रहेगा। फिर बुढापेका अनुभव कौन करेगा ? जैसे आखोंसे इस देह पर दृष्टि पहुचती है, वैसे ही आत्मा में कमजोरी भी बढ़ती है। मैं बूढ़ा हो गया हू—ऐसी शरीरपर दृष्टि हो तो अपने आत्मामें भी निर्बलता प्रकट होती है। एक इस शरीरकी दृष्टि छोड देवे तो फिर बूढा कहा रहा ? बूढ़ा तो तब तक है, जब तक देहपर दृष्टि है।

नरजीवनमें अन्तिम एक विकट समस्या और उसका हल-- भैया ! एक बड़ी विडम्बना है जीवनमें कि पहिले बच्चा हुए फिर जवान हुए, पुरुषार्थ किया, तप किया, धर्मसाधना की या धन कमाया और अन्तमें बूढ़े होना पड़ता है और बुढापेमे सारी शिथिलता आ जाती है तो बुढापेके बाद मरणकाल आता है। कितनी एक आपत्तिकी बात है कि मरते समय बहुत निर्बल अपनी दृष्टिको बनाकर मरना पड़ता है। लेकिन विवेक और सावधानी इस बातकी है कि वह अपनेको बूढा समझे ही नहीं। हो गया देह। यह देह सदा साथ न रहेगा। यह तो अब भी भिन्न है। इन्द्रियको संयत किया, नेत्रोंको बन्द किया, बाहर कुछ नहीं देखा, स्वय जिस स्वरूप वाला है, उस स्वरूप पर दृष्टि की। अब वह बूढा नहीं रहा, वह तो चिदानन्दस्वरूप मात्र है, ऐसा अपने आपको आत्मारूप अनुभव करने वाले उसपुरुषके न तो जन्म है, न ही बुढ़ापा है और न ही मरण है, न कुछ रोग है।

आत्माकी निरोगस्वरूपता-- ज्ञानी पुरुषकी ऐसी अनुपम लीला है कि कैसा ही शरीरमें रोग हो, रोग होते हुए भी जहां उसने अन्तर्दृष्टि की

और अपने को ज्ञानप्रकाशरूप अनुभव किया, उसके उपयोगमें रोग तो है ही नहीं। शरीरपर रोग हो तो हो और उपयोगकी विशुद्धिके प्रतापसे शरीरका भी रोग दूर हो जाता है। शरीरका रोग दूर हो अथवा न हो इसकी ज्ञानीको परवाह नहीं होती। उसे तो केवल एक चाह है कि मैं जैसा स्वच्छस्वभावी हूं अपनी निगाहमें बना रहूं। मुझसे कोई खोटा धर्म और अपराध कर्म न हो और ज्ञाताद्रष्टा रहकर इस जीवनके ये थोड़े क्षण व्यतीत कर डालूँ—ऐसा ज्ञानी गृहस्थ हो अथवा साधु हो उसकी भावना रहती है।

गृहस्थकी धर्मरूपता— आजके जमानेमें भैया! गृहस्थ और साधुमें अधिक अन्तर नहीं रहा। पहिले समयमें तो अधिक अन्तर यों था कि शुद्धभाव बढ़ाकर श्रेणी चढकर मोक्ष जा सकते थे। आजके समयमें कोई भावलिङ्गी साधु अधिकसे अधिक सप्तम गुण स्थान तक चढ सकता है। यह है उस जीवकी वर्तमान परिस्थिति और मरणके बाद जो फल होगा उसकी परिस्थिति यह है कि वह ज्यादासे ज्यादा ६, ७, ८ वें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है। इससे ज्यादा नहीं जा सकता है। क्योंकि उसके अंतिम सहनन हैं और उनमें भी प्राय छठा ही सहनन है। सो गृहस्थ यदि वास्तविक मायनेमें धर्मका पालन करता है, तो वह गृहस्थ क्या है? वह तो मनुष्य होकर देवता है। गृहस्थका धन जोडनेका ही लक्ष्य हो तो वहा गृहस्थधर्म भी नहीं चलता है। गृहस्थका मुख्य कर्तव्य यह है कि चूँकि वह अपनी निबलाईसे महाव्रती नहीं बन सकता था, अत गृहस्थधर्म इसीसे स्वीकार किया कि कहीं मैं अधिक विषयकषायोंमें प्रपंचोंमें न फस जाऊं। न विवाह करूँ, न घरमें रहूं और साधु भी न होऊं तो विषयोंमें नौवत आ जाती है इसलिए विषयकषाय तीव्र नहीं हु सके, इसके अर्थ उसने गृहस्थीको स्वीकार किया, धन जोडने के लिए गृहस्थ धर्म स्वीकार नहीं किया। दुनियामें अपनी शान बढानेके लिए गृहस्थ धर्म स्वीकार नहीं किया, किन्तु मैं विषयकषायोंके कीचड़में अधिक न फस जाऊँ, उससे बचा रहूं, इसके अर्थ गृहस्थ धर्म स्वीकार किया।

सद्गृहस्थका विवेक— ऐसे ज्ञानी गृहस्थकी वृत्ति यह होती है कि वह न्याय नीतिसे अपनी आजीविका करता है। उस आजीविकामें जो आय हो जाय उसके विभाग बनाता है। जैसे ६ विभाग बनें, एक विभाग परोपकारके लिए हो, एक विभाग अपने स्वकीय धर्मसाधनाकी व्यवस्थावों के लिए हो, एक विभाग वक्त पडेपर कामके लिए हो, एक दो विभाग गृहस्थी के पालन पोषणके लिए हों, ऐसा भाव करके उनमें हो उसी प्रकारसे अपना

गुजारा करता है। वह जरूरतें मानकर हिसाब नहीं बनाता है, किन्तु हिसाब देखकर जरूरतें बनाता है। यह फर्क है सद्‌गृहस्थमें और भोगी गृहस्थ में।

गृहस्थके आय व्ययका विवेक— भैया! भोगी गृहस्थ तो जरूरतें मानकर हिसाब बनाता है अजी हमारा इतना स्टेन्डर्ड है, हम ऐसी पोजीशनके हैं, यों खाते पीते चले आये हैं, इस ढंगका हमारा रहन सहन है, आय तो हमारी इतनी होनी चाहिए। चाहे कैसा भी हो, इतनी आयके बिना तो हमारा गुजारा चल ही नहीं सकता। अच्छा और जो गरीब पुरुष हैं, जो बेचारे ४०, ५० रुपयेकी ही आय रख पाते हैं और ५, ७ घरमें सदस्य हैं ऐसे भी होंगे और उनका भी काम चलता है। और कहो उनमें धर्मकी लगन हो तो धार्मिक कार्योंमे अन्तर भी नहीं डालते हैं, गुजारा तो हर तरह हो सकता है। गृहस्थ धर्म यही है कि अपना हिसाब देखकर जरूरतें बनाएं, उसमें चिंता न हो सके। इसमे लक्ष्य मुख्य यह मिलेगा कि हम धर्मसाधनाके लिए जीते हैं और हमने नरजन्म धर्मसाधना के लिए पाया, आरामके लिए नहीं, भोगोंके लिए नहीं, दुनियामें अपनी पोजीशन फैलाने के लिए नहीं, किन्तु किस ही प्रकार उस अपने आपके सहज शुद्ध स्वभावको निरख कर और उस स्वरूपकी ही भावना करके अपनेमें ऐसा विश्वास बनालें व उपयोग बनालें कि मैं चिदानन्द स्वरूप हू।

ज्ञाता व अज्ञाताके साथ व्यवहारका अनवकाश— मेरा किसी दूसरे से परिचय नहीं है, मुझे कोई दूसरा जानता नहीं है, कोई दूसरा मुझे जान जाय तो वह स्वयं ज्ञाता हो गया, स्वय ब्रह्मस्वरूपमे लीन हो सकने वाला हो गया, अब उसके लिए मै जुदा व्यक्ति नहीं रहा, तब फिर ज्ञाता से व्यवहार क्या और अज्ञानियोंसे व्यवहार क्या? कोई मुझे नहीं जानता है तो उनसे मेरा व्यवहार क्या? वह जानता ही नहीं है। कोई मुझे जानता है तो वह स्वय ज्ञाता हो गया। वह स्वय ब्रह्मस्वरूप सामान्यभाव का रसिक हो गया, अब उनके लिए मैं जुदा व्यक्ति नहीं रहा, फिर ज्ञाता का व्यवहार क्या? ऐसी अपने स्वरूपकी भावना भा भा कर अपने को दृढ़ बना लेना है। परपदार्थोंमें परजीवोंमें कैसी ही कुछ परिस्थिति हो, उन परपदार्थोंके कारण अपनेमे किसी भी प्रकारकी उलझन न डालो। ऐसा धर्मका पालन करते हुए कुटुम्बीजन मित्रजन इन लोगोंकी सेवा शुश्रूषा करते हुए घरमें रहते हुए भी कुटुम्बीजनोंसे अलिप्त रहो।

दृढात्मभावनामें दर्शन— ज्ञानी सद्‌गृहस्थ इस संसारसे विरक्त हो जाता है, मोक्षमार्गमें लग जाता है, किन्तु जो इस ससारमें अपने को

पर्यायरूप मानकर वहा ही अटक जाता है वह उठ नहीं सकता । सन्यास अवस्थामे तो दृढात्मभावना होती ही है, किन्तु गृहस्थावस्थामें भी चतुर्थ-गुणस्थान और पचम गुणस्थानमे स्वच्छताके अनेक गुण प्रकट होते हैं। तब हमें अपने धर्मका पालन करते हुए विशेषरूपसे अपने स्वभावकी दृष्टि करनी है तथा शक्ति व व्यक्तिके मुकाबिलेमे यह ध्यानमें रखना है कि मैं क्या तो था और क्या बनता फिर रहा हूं ? प्रभुभक्ति करके हमे अपनी भावना दृढ बनानी है। हे प्रभो ! तुम जैसा ही तो मेरा स्वरूप है। इस विविक्त आत्मस्वरूपकी भावना दृढ जिसके होती है उसे तो प्रकट दिखता है कि मेरे न चतुर्गतिका भ्रमण है, न जन्म है, न बुढ़ापा है, न मरण है, न रोग है, न शोक है। मैं तो शुद्ध ज्ञायकस्वभाव मात्र हू।

जीवस्वरूपमें देहकुलका अभाव— शुद्ध जीवद्रव्य, जो अपने ही सत्त्वके कारण जैसा है उस ही रूपमें अपनेको निरखने से ज्ञात होता है। सहजस्वभावमय आत्मद्रव्य देहसे देहकुलोंसे परे है। ये देह कितने प्रकारके हैं इनका सिद्धान्तमें वर्णन आया है कि समस्त देहोंकी जातियां एक सौ साडे सत्तानवे लाख करोड़ हैं। जैसे एक करोड, दो करोड, सौ करोड़, हजार करोड़, लाख करोड़, करोड करोड चलते हैं ना, तो ऐसे ही एक सौ साढे सत्तानवे लाख करोड़ हैं। उनका भिन्न-भिन्न वर्णन इस प्रकार है।

पृथ्वीकायिक जीवोंके देहकुल— पृथ्वीकायिक जीव जो कि स्थावरों मे एक भेद है, पत्थर, मिट्टी, जमीनके अन्दरकी कंकरी, सोना, चादी, लोहा, ताबा ये सब पृथ्वीकायिक जीव हैं। खानसे बाहर निकलने पर ये जीव नहीं रहते। जब तक खानमें है तब तक ये जीव हैं। इनकी देह जातिया २२ लाख करोड़ प्रकारकी हैं। जैसे कहनेमें तो १०, २० ही आते हैं—ताबा सोना, लोहा या और धातुवें, पत्थर, मिट्टी, मुरमुरा पर ताबा भी कितनी तरहका होता है, चादी भी कितनी तरहकी होती है ? फिर उनके प्रकारों को ले लो। फिर उन प्रकारोंके भीतर भी थोड़ा थोड़ा फर्क जचे तो और भी भेद हो जाते हैं। इस तरह पृथ्वीकायिक जीवोंके शरीरके कुल २२ लाख करोड हैं।

जलकायिक व अग्निकायिक जीवोंके देहकुल— जलकायिक जीव जो सामान्यतया देखनेमें ४, ७ प्रकारके जचते हैं, जैसे चम्बल नदी का पानी सफेद बताते हैं और यमुनाका पानी नीला बताते हैं, तो ऐसे ही थोडे-थोडे भेदसे ४, ७ तरहके पानी मालूम पड़ते हैं, पर उस पानीमें रंगका फर्क, रसका फर्क और स्पर्शका फर्क, इन सभी फरकोंके हिसाबसे

७ लाख करोड़ तरहके शरीर हैं। अग्निकायिक जीव जिसके भेदका पता लगाना कठिन है। सब आग है, सब गर्म हैं, सब भस्म करने वाली है, पर अग्निकायिक जीवके देह भी तीन लाख करोड़ प्रकारके हैं। उनमे रूपका फर्क, तेजीका फर्क—ऐसे ही विविध अन्तरको डालते हुए तीन लाख करोड़ प्रकारके हैं।

वायुकायिक जीवोंके देहकृत— वायुकायिक जीव जिनका हमें कुछ स्पष्ट पता भी नहीं पड़ता, हवा लग रही है इतना ही भर जानते हैं, पर उन वायुकायिक जीवोंमें भी शरीर होता है और उनके देह सात लाख करोड़ प्रकारके हैं। कुछ लोग ऐसा सोचते होंगे कि वृक्ष हिलते हैं तो हवा निकलती है। क्यों जी! वृक्ष हिलते कैसे हैं? जब हवा चलती है, तभी तो ये वृक्ष हिलते हैं। मूल बात क्या है कि हवा स्वय गतिका स्वभाव रखती है, हवा स्वयमेव चलती है। वृक्षोंके हिलनेके कारण हवा नहीं चलती है, पर हां, इतनी बात और भी है कि हवामें स्वय गतिका स्वभाव है और गतिस्वभाव वाली यह हवा कृत्रिमतासे भी कभी कुछ चलती है। जैसे बिजली के पखेसे कृत्रिमतासे हवा चलती है। तो ऐसे वायुकायिक जीवोंके शरीर ७ लाख करोड़ प्रकारके होते हैं।

वनस्पतिकायिक जीवोंके देहकुल— वनस्पतिकायिक जीव दो ही प्रकारके होते हैं—एक निगोदिया जीव और दूसरा हरी वनस्पति। हरी वनस्पति तो आखोंसे दिखनेमें भी आते हैं, प्रयोगमें भी आते हैं, पर ये निगोद जीव न आंखोंसे दिखनेमें आते हैं, न प्रयोगमें आते हैं। ये सभीके सभी वनस्पतिकायिक कहलाते हैं। इनमें २८ लाख करोड़ प्रकारके देह हैं। अब इस हरी वनस्पतिको देखो तो ये भी स्पष्ट समझमें आते हैं कि कितनी तरहके वनस्पति हैं। बरसातमें देखा होगा कि कितने प्रकारके पेड़ दिखा करते हैं? कहीं इधर उधर बगीचोंमें जाकर देखो कि कितनी तरह की वनस्पति हैं? ये व अन्यसूक्ष्मबादर सब वनस्पतिया २८ लाख करोड़ प्रकारकी होती हैं।

स्वभावदृष्टिका प्रयत्न— भैया! यह सब इसलिए बताया जा रहा रहा है कि इस भगवान् आत्माका कैसा तो ज्ञानानन्दस्वभाव है और अपनी ही भूलसे इसे कैसी कैसी देहोंको धारण करना पड़ता है? कितनी इसकी विडम्बना हो गयी है? बात रोज कहते हैं, रोज सुनते हैं, एक बार भी कड़ी हिम्मत करके बाह्यपदार्थोंका, परिग्रहोंका जो कुछ होना हो, वह हो जावे। क्या होगा? आखिर जो मरने पर होगा, सो ज्यादासे ज्यादा क्या होगा? वियोग हो जाएगा, कुछ भी न रहेगा, पर एक बार कड़ी

हिम्मत करके सर्वपरिग्रहोंका विकल्प तोडकर परमविश्राममें स्थित होकर अपने आपके स्वभावरसका स्वाद तो आने दो। तब ही ये विडम्बनाएं सब दूर हो सकेंगी अन्यथा उसी ढर्रामें, ढलामें जबसे पैदा हुए हैं। जब तक मरणकाल नहीं आता है, तब तक केवल ऐसा ही मोह और राग बसा रहा एक मिनटको भी, एक सेकिण्डको भी संस्कार मिट न पाये, घर, स्त्री और कुटुम्बको दिलसे न निकाला तो बताओ ऐसी जिन्दगीसे जीनेके फलमें भी आखिर होगा क्या ?

अद्भुत धर्मशाला— एक साधु सड़कसे जा रहा था। मार्गमें एक सेठकी हवेली मिली। साधु हवेलीके दरवाजे पर खडे हुए चपरासीसे पूछता है कि यह धर्मसाला किसकी है ? चपरासी बोलता है कि महाराज यह धर्मशाला नहीं है, आगे जाइए। साधुने कहा कि मैं तो यह पूछता हूं कि यह धर्मशाला किसकी है ? अजी, यहां ठहरनेको न मिलेगा। साधुने कहा कि हमें ठहरना नहीं है, हम तो पूछते हैं कि यह धर्मशाला किसकी है? चपरासीने कहा कि यह धर्मशाला नहीं है। यह तो अमुक सेठकी हवेली है। इतनेमें सेठ जीने बुला लिया। सेठने कहा कि महाराज ! बैठो ना आपको ठहरना है तो यहां भी आप ठहर सकते हो, आपकी ही तो हवेली है और धर्मशाला तो आगे है। यदि आप धर्मशालामें ठहरना चाहते हैं तो आगे चले जाइये। साधुने कहा कि हमें ठहरनेकी जरूरत नहीं है, हम तो सिर्फ पूछ रहे हैं कि यह धर्मशाला किसकी है ? सेठने कहा कि महाराज यह धर्मशाला नहीं है, यह तो मकान है। सेठसे साधुने पूछा कि यह किसने बनवाया था ? सेठ बोला कि हमारे बाबाने बनवाया था। वे बनवाकर कितने दिन इसमें रहे थे ? अजी, वे तो बनवा भी न पाये थे कि अधबनेमें ही मर गये थे। फिर इसके बाद किसने बनवाया ? पिताजी ने। वे कितने दिन इसमें रहे थे ? वे इसमें पांच वर्ष रह पाए, फिर गुजर गए। तुम कब तक रहोगे ? इतनी बात सुनकर सेठ समझ गया कि सन्यासी जी महाराज बडे मर्मकी चर्चा कर रहे हैं। वह सेठ साधुके चरणोंमें गिर गया। साधुने समझाया कि धर्मशालामें, जिसमें मुसाफिर ठहरते हैं, वहां नियम तीन दिनका या ७ दिनका रहता है। मुसाफिरको ३ दिनसे अधिक ठहरनेकी आवश्यकता हो तो प्रेजीडेण्ट या सेक्रेटरीको दरख्वास्त देकर १५-२० दिन, महीनाभर और ठहर सकता है। मगर यह धर्मशाला ऐसी है कि जितने दिनका इसमें नियम है, उसके बाद एक सेकिण्ड भी नहीं ठहर सकता, मरकर जाना ही पड़ता है।

मोहीकी अरक्षा— भैया ! हम मस्त हों भले ही कि हमारा घर तो

बहुत अच्छा है, हमारा आवास अच्छा है, हमारे सारे समागम अच्छे हैं, मगर इनका विश्वास क्या ? रोज रोज तो देखते हैं दूसरोंका जो कुछ भी हाल है। जैसे कोई मनुष्य जलते हुए जंगलके बीच किसी रूख पर बैठ ही जाये। बैठा हो और चारों तरफ आग लग गयी हो और रूख पर बैठा हुआ वह आदमी खेल देखा करे देखो चारों ओर जंगल जल रहा है, वह साप जला वह हिरण कैसा भगा जा रहा है ? वह खरगोस मरा, वह फला जानवर मरा, यह सब देखकर वह मस्त हो रहा है. इस बेचारेको कुछ खबर नहीं है कि वह आग नियमसे यहा भी आयेगी और यह पेड भी जल जायेगा, मैं भी जल जाऊँगा, यह ध्यान नहीं है। इसी तरह इस दुनिया मे चारों ओर दिखता है कि वे दुखी हैं, वे निर्धन हैं, वे रोगी हैं, वे यों मर गये, नाना विपत्तियों से ग्रस्त हम दूसरे जीवों को देखते हैं और अपनी सुध नहीं रखते कि हम कहाके सुरक्षित बैठे है ?

परभावकी अविश्वास्यता— भैया ! भले ही उद्यम आज अच्छा हो पर क्या ऐसा उदय जीवका स्वभाव है। क्या यह जीवके साथ सदा रहेगा ? अरे इस जीवनका तो पता ही नहीं है कि ऐसा उदय जीवन तक भी निभायेगा या नहीं, आगे की तो कहानी ही क्या कहें ? कर्मोंसे घिरे हैं, विभावोंसे घिरे हैं, शरीरसे बधे हैं। जरा-जरासी बातोंमें चित्त चलित हो जाय, विषय-कषाय जग जाये, खुदके स्वरूपको भूलकर विभावों की अग्निमे झुलस रहे है और भूलसे अपनेको मानते है कि हम बडे सुरक्षित हैं। यहा यह बताया जा रहा है कि चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्माके विस्मरणके कारण कैसे-कैसे देहोंकी विडम्बनाए इस जीवको रहनी पड़ती हैं ?

विकलत्रिक जीवोंके देहकुल— स्थावर जीवोंके अतिरिक्त अब त्रस जीवों पर दृष्टि डालिए। त्रस जीव दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय व पञ्चेन्द्रिय जीवको कहते हैं। जिसके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय है, जीभ नाक, आख, कान कुछ नहीं हैं, केवल देह ही देह है, अन्य इन्द्रिया नहीं है तो उन्हें एकेन्द्रिय जीव अथवा स्थावर जीव कहते हैं। जिनके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रिया हैं उन्हें दो इन्द्रिय कहते हैं। दो इन्द्रिय जीवके कितनी जातिके देह हैं ? तो सिद्धान्तमें बताया है कि दो इन्द्रिय जीवोंके ७ लाख करोड़ प्रकारके जीव हैं। सैकडों प्रकारके देह तो हम आपको दिखते भी हैं केचुवा है, लट है, जोक हैं, सीप हैं, कौड़ीका कीड़ा, शखका कीड़ा, चावलका कीड़ा, तो कुछ तो नजर आते ही हैं, और भी अनेकों प्रकारके हैं। उनमें आकार भेदसे, रंग भेदसे, स्पर्श भेदसे इनके शरीर

कितनी जातिके हैं ? तो वे सब ७ लाख करोड़ जातिके दो इन्द्रिय जीवोंके देह हैं। तीन इन्द्रिय जीवोंके ८ लाख करोड़ प्रकारके शरीर हैं। चार इन्द्रिय जीवोंके ९ लाख करोड़ प्रकारके शरीर हैं।

तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय जीवोंके देहकुल— अब पचेन्द्रिय जीवोंके कुल देखो तो पचेन्द्रिय जीवोंके इस प्रकरणमें इतने विभाग बना लें—देव, नारकी मनुष्य ये तीन तो तीन गतिके हैं ही, और तिर्यञ्च गतिमें जलचर, नभचर और पशु और रेंगने वाले जीव जैसे सांप आदिक यों ७ विभाग बनालो। और इसके क्रमसे देहकी जातिया कितनी हैं सो समझलो। जलचर जीव जो पानीमें ही रह सकते हैं और पानीमें ही रहनेमें उनको मौज है। ऐसे जीवोंकी साढे बारा लाख करोड़ प्रकारकी देह हैं। मछलिया ही कितनी तरहकी हैं, उनका रग देखो आकार प्रकार देखो। कछुवा, केकड़ा आदि। जो नभचर जीव हैं वे आकाशमें चल सकते हैं, चील, कबूतर, सुवा आदि ये सब नभचर जीव हैं। इन देहोंके प्रकार हैं १२ लाख करोड और जो चतुष्पद जीव हैं—पशु, हिरण, गाय, बैल, घोड़ा, गधा, खरगोश आदिक इन जीवोंके जो देह हैं वे १० लाख करोड़ तरहके हैं और सर्प आदिक ये ९ लाख प्रकारके कुल देह हैं।

नारकी, मनुष्य व देवोंके देहकुल— नारकियोंके २५ लाख करोड़ प्रकारके देह हैं, मनुष्योंके १२ लाख करोड प्रकारके देह हैं। कुछ तो ध्यान में आता ही है। अभी इसी देशमें गुजराती, पंजाबी, बगाली, मध्यवासी इन भूमियोंमें जो उस कुलपरम्परासे उत्पन्न होते आये हैं, आपसमें देह नहीं मिलता। उनका आकार रग ये सब भिन्न-भिन्न प्रकारके हैं। फिर मनुष्योंमें लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य भी आ गये। ये लब्ध्यपर्याप्तक, निवृत्यपर्याप्तक, पर्याप्त समस्त मनुष्य १२ लाख करोड़ प्रकारके हैं। देवोंमें २६ लाख करोड़ प्रकारके कुल हैं।

जीवमें सकलदेहकुलोंका अभाव— इस प्रकार ये समस्त देह जो भगवान् आत्माके स्वरूपकी उपासना बिना भुगतने पड़ रहे हैं वे सब एक सौ साढे सत्तानवे लाख करोड़ हैं। ये देहकुल इस शुद्ध अन्तस्तत्त्वके नहीं हैं, मैं वह हू जो इन सर्व प्रकारकी देहोंसे जुदा हू, मात्र चैतन्यस्वभावी हू।

कारणसमयसारकी निरन्तर भावनाकी आवश्यकता— भैया! आत्महितमें इस निज सहजस्वभावकी दृष्टि हमारी बार-बार पहुचनी चाहिए और जैसे मनुष्य रोज रोज खाते हैं, अघाते नहीं है, फिर दूसरा दिन आया, फिर खाते है, फिर भूख लगती है, फिर तीसरा दिन लगता है, फिर खाते हैं। क्या अपने जीवनमे कोई मनुष्य यह सोचता है कि मेरा

खाना छूट जाय। यदि किसी बीमारीसे कभी खाना बंद हो जाय तो वह दवा करवाता है कि खाना खाने लगें। तो जैसे रोज-रोज खाते हैं और खाते-खाते अघाते नहीं हैं, जीवन भर यह क्रम चलता है क्योंकि यह शरीर के लिए आवश्यक है, इसी तरह परमात्मतत्त्व, कारणसमयसार, चित्स्वरूप भगवान् आत्माकी दृष्टि हमें रोज-रोज क्या, घड़ी-घड़ी करना चाहिए।

योगियोंका परमयोग— योगीजन इस आत्मस्वभावकी दृष्टि करते करते कभी नहीं अघाते हैं कि अब हमने बहुत धर्म पालन कर लिया, चलो अब कुछ मौजसे भी रहें। उन्हें तो मौज धर्ममें ही मालूम होती है। इसी प्रकार अपने को भी यही जानना है कि हमें भी रोज-रोज आत्माकी बात मिलनी चाहिए। पढ़ने से, सुननेसे दृष्टि करने से, चर्चासे, सत्संगसे हर कोशिशोंसे आत्मदृष्टिका यत्न करें। सर्व संकटोंको दूर कर देने वाला वातावरण है तो आत्म उपासनाका वातावरण है। इस आत्मउपासनाके महलसे चिगे, बाहर गए तो सब ओर रागद्वेषके अंगारे ही रहेंगे, वहां शांति न मिलेगी।

शान्तिके वातावरणकी महनीयता— यह भगवान् आत्मा स्वयं शांतिस्वरूप है। शांति कहींसे लानी नहीं है। बना-बनाकर जो अशांति प्रकट की है उस अशांतिको दूर करना है। शांति प्रकट करने के लिए श्रम करने की जरूरत ही नहीं है क्योंकि यह स्वयं शांत स्वभाव ही है। अब वह अशांति हमारी कैसे दूर हो? उसके उद्यममें इस परमार्थ आत्मतत्त्वके सुवासमें पहुचने का ही काम एक युक्त है। धन्य है उस घरका वातावरण जिस घरके पुरुष स्त्री बच्चे सभी धर्मप्रेमी हों और एक-दूसरेको धर्ममें उत्साहित करते हों, मोह ममताके त्यागकी शिक्षा देते हों। वह मित्रजनों की गोष्ठी धन्य है जिसमें ज्ञान और वैराग्य मार्गका ही एक उद्देश्य बनाया गया हो। अन्यथा ऐसे मित्रोंकी गोष्ठी जो विषयोंमें लगाने और रागद्वेष की आग भड़कानेमें लगे रहते हों, ऐसे मित्रोंकी मित्रता तो बेकार है। बेकार ही नहीं है किन्तु अनर्थ करने वाली है।

गृहस्थकी मुख्य दो कलायें— भैया! गृहस्थावस्थामें सब कुछ कर्तव्य करने पड़ते हैं लेकिन यह ध्यान रखना है कि "कला बहत्तर पुरुषकी तामें दो सरदार। एक जीवकी जीविका दूजी जीव उद्धार॥" अपनेको केवल दो बातें करनी है एक उद्धारका मार्ग चले और एक आजीविका बने। इन दो कामोंके अलावा जितने भी गप्प सप्प हैं, उद्दण्डता, स्वच्छन्दता, व्यर्थका समय खोना, इन्हीं मजाकोंसे सभी लड़ाइयां और विवाद हो जाया करते हैं। सो इन सबसे दूर रहना चाहिए। इनमें कोई धर्मप्रसारका उद्देश्य

है क्या ? है तो करो। इसमें कोई आजीविका सम्बन्ध है क्या ? है तो करो। गृहस्थजनोंके लिए ये दो ही तो मुख्य कार्य हैं। पर जहा न आजीविकासे सम्बन्ध है और न धर्मके लगावका सम्बन्ध है, केवल गल्पवाद हो, हसी मजाक हो वह गोष्ठी हितकर नही है।

गृहस्थोंकी सद्गोष्ठियां ऐसी हुआ करती थीं कि भाई, आजीविका का कार्य किया। दूकान, सर्विस कुछ भी हो, उससे अवकाश मिला तो आ गए मन्दिरमें और बैठ गए। कोई सुहावना सुगमशास्त्र रख लिया। धर्मकी चर्चा कर रहे हैं, अब तो प्राय ऐसी गोष्ठिया नहीं रहीं। जो एक मन्दिर जानेका नियम है, उस कार्यको छोड़कर और समयमें मन्दिरमें बैठनेमें भी आलस्यसा लगता है, मन नहीं चाहता है। फिर भी ऐसे विपयककालमे भी यत्र तत्र आपको गृहस्थजनोंकी ऐसी गोष्ठिया मिलेंगी कि जो आदर्श हैं, अनुकरणीय हैं। दो दो अथवा चार चार पुरुषोंकी ऐसी बहुतसी गोष्ठिया कुछ शहरों और नगरोंमें स्थित हैं, जिन्होंने कुछ ज्ञान सीखनेका लाभ लिया है।

ज्ञानपुरुषार्थ— धन और ज्ञान, इनमेंसे धन जोड़ जोड़कर अन्तमें कौनसा आनन्द पावोगे ? यह भी विचार कर लो। ज्ञान बढ़ा बढाकर कैसा आनन्द पावोगे ? इसका भी विचार कर लो। इस झूठी इन्द्रजाल, मायामय पर्यायके बाद चू कि हम सत् हैं ना, विनाश तो होगा नहीं। तो कहीं न कहीं जायेंगे ही। इस धनके कारण जो लाभ माना है, वह सग नहीं जाएगा और इस ज्ञानके कारण जो लाभ मिलेगा, वह सग जायेगा। विवेकी व्यापारी तो वह है जो बड़ी दूरकी बात सोचे। फिर दूसरी बात यह है कि धनकी कमायी आपके हाथ पैरके आश्रित नहीं है, आपके परिणामोंकी निर्मलताकी करनीसे जो पुण्यबन्ध हुआ है, उसके आधीन है। निर्मलपरिणाम है तो लौकिक दृष्टिसे और परमार्थ दृष्टिसे लाभ ही लाभ है। परिणामोंकी निर्मलता नहीं है तो वर्तमानमें भी सुख नहीं है और आगामी कालमे भी सुख नहीं है। निर्मलता उसे ही कहते हैं जहा ज्ञान और वैराग्य बसा रहता है। सो इस निर्मल आत्माकी सुधि लो और इसकी ही तो उपासनामें प्रयत्नशील हो तो ये नाना प्रकारव देहोंकी विडम्बाएं सब समाप्त हो जायेंगी।

जीवमें योनिस्थानोंका अभाव— अभेद भावसे देखे गए इस शुद्ध जीवतत्त्वमें न तो देहके स्थान हैं और न देहकी उत्पत्तिके भेदरूप स्थान हैं। जिन्हें कहते हैं योनि। सर्वत्र यह प्रसिद्ध है कि जीव ८४ लाख योनियों में भ्रमण कर रहा है। वे ८४ लाख योनिया क्या हैं ? जीवके उत्पन्न होने

के जो स्थान हैं, वे स्थान सचित्त, शीत, संवृत और इनके विपरीत अचित्त, उष्ण, विवृत और इनके मिलमां, ऐसी ९ प्रकारकी मूलमें योनि हैं और उनके भेद प्रभेद होकर ८४ लाख योनियां हो जाती हैं। योनिस्थान व्यवहारमें सब जीवोंके मनुष्य, पशु पक्षी सबके उत्पन्न होनेके स्थान हैं, द्वार हैं और देव और नारकियोंके भी उत्पत्तिके स्थान हैं तथा एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय आदिक जीवोंके भी उत्पत्तिके स्थान हैं, योनि हैं, किसीके तो स्थान प्रकट हैं और किसी के अप्रकट हैं। वे उत्पत्ति भी इस शुद्ध अन्तस्तत्त्वके नहीं हैं।

एकेन्द्रिय जीवके देहयोनिभेद-- सब कितने योनि स्थान होते हैं ? सिद्धान्तमें बताया है पृथ्वीकायिक जीवोंके ७ लाख जातिया हैं। जातिका अर्थ जन्मसे है, योनिसे है, जन्मस्थानके भेदस्थानसे है। जलकायिक जीवों के ७लाख योनिया हैं, अग्निकायिक जीवोंके ७लाख योनियां हैं, वायुकायिक जीवोंके ७ लाख प्रकारके जन्मस्थान हैं और नियनिगोदी जीव जो आज तक निगोदमें से नहीं निकले हैं, अनादिसे निगोदभवमें ही हैं। वे भी तो प्रतिक्षण जब उनके आयुक्षयका समय होता है, उत्पन्न होते रहते है, मरते रहते हैं। उनकी योनिया हैं सात लाख। जो निगोदसे कभी निकल आये थे, पर अब निगोदमे पहुच गये हैं, उन जीवोंके ७ लाख योनिया हैं। हरी जो वनस्पतिकाय है, चाहे वह सप्रतिष्ठित हो, चाहे वह अप्रतिष्ठित हो, उन वनस्पतियोंके १० लाख योनि भेद हैं। यह जीव अनादिकालसे ऐसे निकृष्टभवमें रहा, जहां इसका शरीर दिख ही नहीं सकता। एक स्वासमें १८ बार जन्म और मरण करता रहा--ऐसा है इस जीवका आदि निवास जहां अनन्तकाल व्यतीत हो जाता है और जीवका अन्तिम निवास है मोक्षनिवास, जहा अनन्तकाल व्यतीत हो जाते हैं।

वर्तमान पहुंचकी महनीयता— निगोदसे निकलकर अन्य स्थावरोंरूप हुआ, फिर दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवोंमें पहुचा। जब मनुष्य हो जाये तो यह कितनी उन्नतिका स्थान है ? इतने ऊंचे आकर भी यदि हम नहीं चेतते तो उसका परिणाम यही तो प्रकट है कि जहासे निकल कर विकास किया है। विकास कम होकर वहीं का वहीं यह जीव पहुंच सकता है। अब जाएगा कहां ? जो उत्कृष्ट भवमें आ गया, मनुष्य हो गया और फिर भी अपनी अन्तःक्रिया न सुधरे तो इससे आगे और क्या बढ़ेगा ? इससे नीचे ही आएगा।

आत्मदेवका आशीर्वाद व एक दृष्टान्त— एक साधु महाराज थे। उनके पास एक चूहा फिरा करता था। वह चूहा साधुके प्रति इतना विश्-

वास रखता था कि वह चूहा उनके चरणोंके निकट ही पड़ा रहता था। एक बार एक बिलावने उसे धमकाया तो बेचारा बहुत डरा। साधुने उसे यह आशीर्वाद दिया कि बिडालो भव। तू भी बिलाव हो जा। अब वह बिलाव हो गया। अब उस बिलावको डर न रहा। अब झपटा उस पर कुत्ता, तो साधुने आशीष दिया कि श्वा भव। तू भी कुत्ता बन जा। तो वह कुत्ता बन गया। अब उस कुत्तेको डराया व्याघ्र, तेंदुवा, चीताने, तो आशीष दिया व्याघ्रो भव। व्याघ्रको फिर सिंहने डराया तो साधुने आशीष दिया कि सिंहो भव। तू भी सिंह बन जा। वह सिंह बन गया। अब उसे डर किस बातका? उस सिंहको लगी बहुत कड़ाकेकी भूख, उसे कहीं शिकार न मिला तो सोचा कि इन साधुमहाराजसे अच्छा शिकार और कहा मिलेगा? तो वह साधु महाराजपर झपटनेकी सोचने लगा। साधुने फिर आशीष दिया कि पुन मूषको भव। फिरसे तू चूहा बन जा। वह फिर चूहा बन गया। अरे जिसका आशीष पाकर इतनी बलवान् पर्याय तक पहुच गया, उस पर आक्रमण करनेका फल यही हुआ कि वह चूहाका चूहा ही रह गया। ऐसे ही हम आप जीव जिस आत्मदेवका आशीष पाकर विकास करते-करते आज मनुष्य हुए हैं और मनुष्य बनकर नाना कलावों से चतुराईसे विषय और कषायोंके पोषण करनेमे लग गये और विषय कषायोंके आक्रमण इस आत्मदेव पर ढा दिए तो इसको अन्तरसे पुन यह आशीष मिलेगा कि पुनः निगोदो भव। फिरसे तू निगोद बन जा और जायेगा कहां?

प्रभुदर्शनका मूल ज्ञानभावना— भैया! हम विशेष ध्यान नहीं देते कि आखिर होगा क्या सम्पदाका, वैभवका, इस गमका? जिसमें इतनी आसक्ति है कि प्रभुताके दर्शन करनेका भी अवकाश नहीं है, मंदिरमें आने मात्रसे प्रभुके दर्शन नहीं हो जाते, किन्तु जब अहंकार और ममकार नहीं होता और उसके फलमें आत्मविश्राम आने लगता है तो वहा प्रभुके दर्शन होते हैं। हमारा वातावरण ऐसा विशुद्ध हो, किसीसे द्वेष भरा न हो सबसे एक समान प्रेमपूर्वक बर्ताव हो, अन्तरमें यह श्रद्धा न हो कि इतने लोग तो मेरे हैं और ये पराये हैं। वैभवसे हमारा ममत्वका लगाव न हो। भले ही परिवारकी रक्षा करनी पड़ती है फिर भी ज्ञान यह बना रहे कि मेरे आत्मस्वरूपके अतिरिक्त अन्य सब न कुछ हैं। हैं वे। उनका स्वरूप उनमे है। मुझसे पृथक् हैं। ऐसी ज्ञानभावनासे अपने आपके अन्तरकी स्वच्छता बर्ते तो वहा प्रभुताके दर्शन होते हैं।

व्यामोहीको प्रभुदर्शनका अलाभ— जो रागद्वेष भरी बात बोलकर

इसको पारिवारिक ममतामें फसाए रहते हैं वे इस मोहीको हितकर लगते हैं अथवा कोई रागभरी बात भी नहीं बोलते और न कोई सेवा शुश्रूषा की ही बात कहते, उल्टा उपेक्षा और दो चार गाली ही सुननेको मिलतीं हैं, फिर भी मोहवश यह व्यामोही पुरुष उनमें ही रमा करता है। मान न मान मैं तेरा मेहमान। दूसरे प्राणी इसे कुछ नहीं मानते हैं फिर भी मानो या न मानो, तुम तो मेरे सब कुछ हो। ऐसा व्यामोह जिस अन्तरमें पड़ा हो उसे प्रभुताके कहां दर्शन हो सकते हैं ?

मान न मान मैं तेरा मेहमान— एक बाबाको घरमें नाती पोते पीट देते थे, झकझोर देते थे, सिर पर बैठ जाते थे तो वह बाबा दरवाजे पर बैठकर रोने लगा। इतनेमें आए एक सन्यासी महाराज। पूछा कि बाबा क्यों रोते हो ? कहा कि घरके नाते पोते बड़े कुपूत हैं, हमें बहुत हैरान करते हैं, हमें पीटते हैं। तो सन्यासी बोला कि अच्छा हम तुम्हारा सब दुःख मिटा दें तो। तो बाबा जी हाथ जोड़कर कहते हैं कि महाराज तुम धन्य हो। हमारे इस दु खको मिटा दो। बाबाने यह समझा कि संन्यासी जी ऐसा मंत्र फूकेंगे कि सभी नाती पोते हाथ जोडे २४ घंटे हमारे सामने खड़े रहेंगे। परन्तु संन्यासी क्या बोला कि तुम घर छोड़ दो, हमारे साथ चलो, तुम्हें हमारे संग कोई तकलीफ न होगी, तुम्हारे सारे क्लेश छूट जायेंगे। तो बाबा कहता है कि हमारे नाती पोते हमें कुछ भी करें, मारे पीटें, आखिर हमारे नाती पोते तो नहीं मिटते। वे तो हमारे हैं ही। मान न मान मैं तेरा महिमान। जबरदस्ती मानते रहते हैं कि तुम हमारे अमुक हो, व्यामोहकी स्थिति ऐसी होती है।

मनुष्यत्वका सदुपयोग— भैया ! कुयोनियोंसे निकल कर आज मनुष्यत्व पाया तो इसका सदुपयोग तो करना चाहिए। इसका सदुपयोग यही है कि ऐसे पाये हुए उत्कृष्ट मनके द्वारा अपने आपके सहजस्वभाव चैतन्यभाव ज्ञानानन्दस्वरूप अपनी भावना बनाएं, एक बार सब विकल्पों का परित्यागकर अपने शुद्ध ज्ञानानुभवका दर्शन करें, यही है इस पर्याय का उच्च सदुपयोग। इस अंतस्तत्त्वके दर्शन विना यह जीव कैसी-कैसी कुयोनियोंमें पैदा होता आया है ? उसके वर्णनमें सुनियेगा।

सर्वयोनिभेद— उन एक इन्द्रिय जीवोंसे यह जीव निकल सका तो दो इन्द्रियमें उत्पन्न हुआ। दो इन्द्रिय जीवोंके २ लाख योनियां होती हैं। यह ८४ लाख योनियोंका वर्णन बताया जा रहा है। कैसे हो गयीं ८४ लाख योनि— एकेन्द्रिय जीवोंके ५२ लाख योनिया हैं याने उत्पत्तिस्थान प्रकार हैं। तीनइन्द्रिय जीवोंके २ लाख योनिया, चार इन्द्रिय जीवोंके २ लाख

योनिया, दो इन्द्रियोंके २ लाख योनिया, देवोंके चार लाख योनिया नारकियोंके ४ लाख, मनुष्योंके १४ लाख, शेष तिर्यञ्चोंके ४ लाख योनिया हैं।

देवोंकी उपपादशय्या— देवोंकी उत्पत्तिके स्थान शय्याकी तरह हैं। किसी देव देवीके भोगसे देवीके गर्भ रहता हो और उससे देव होते हों, ऐसा नहीं है। देवोंके वैक्रियक शरीर हैं, दान और तपमें जिनकी बुद्धि लगी रहती है वे मरकर देवोंमें जन्म लेते हैं। मन्दकषायी पचेन्द्रिय तिर्यंच भी देव बन सकते हैं सो वहा उत्पाद शय्याए बनी हैं। वहा २-४ सेकेण्डमें एक जैसे अत्यन्त छोटा बच्चा लेटा हुआ खेलता है ऐसे ही वहा देव शरीर की रचना बन जाती है। नामकर्मका उदय निमित्त है और जीवकी इस प्रकारकी करनी है। देव अन्तमुहूर्तमें ही युवावस्थासम्पन्न हो जाते हैं, वे उत्पाद शय्याएं अचित्त हैं, किन्तु उनमें शीत उष्णका भेद अधिक है और इन भेद प्रभेदोंसे वे उत्पाद शय्यास्थान, देवोंकी योनिया ४ लाख प्रकारकी हैं।

नारकी जीवोंके उपपादस्थान— नारकी जीवोंके चार लाख प्रकार के उत्पत्तिके स्थान हैं। नारकियोंमे भी मा बाप नहीं होते हैं। सब नारकी नपुसक होते हैं, वैक्रियक शरीरी हैं। अपने शरीरमें ही वे औजार बना लेते हैं। उनको यह रोष आया कि मैं अमुकको तलवारसे मारू तो उन्हें अलगसे तलवार नहीं उठानी पड़ती है, इच्छा करते ही हाथ तलवारका आकार धारण कर लेता है। इस ही तरहका उनका शरीर है। नर्कस्थान को पूर्ण दुःखोंका स्थान सभीने बताया है। उन नारकोंमें जन्म किस प्रकार होता है? जैसे मान लो ऊपर छत हो, उस छतके निचले पर्त पर जैसे बिजलीका पखा लगानेके लिए हुक्क लगा देते हैं इसही प्रकारसे इस पृथ्वी के बिलोंमें बिलोके ऊपरी भागमें तिखूटे, चौखूटे, टेढ गोल ऐसे स्थान बने हुए हैं। वहा थोड़े ही समयमें यह नारकीका शरीर बन जाता है और वह नारकी औंधे ही जमीन पर गिरता है। जमीन पर गिरते ही सैकड़ों बार गेंदकी तरह उछलता है फिर सारे नारकी उस पर आ धमकते हैं और वह नारकी बलिष्ट बनकर सबसे भिड़ने लगता है। नारकियोंके उत्पत्ति स्थान ४ लाख प्रकारके हैं।

पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च व मनुष्योंके योनिस्थान— पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च जीवोंके चार लाख योनिया हैं। देव मनुष्य नारकीको छोड़कर जितने भी ससारी जीव हैं वे सब तिर्यञ्च हैं, उनमें जो पचेन्द्रिय तिर्यञ्च हैं उनकी चार लाख योनिया हैं और मनुष्योंकी १४ लाख योनियां हैं।

शुद्ध अन्तस्तत्त्वमें योनियोंका अभाव-- ये सब योनियां इन सभी जीवस्वरूपोंमें नहीं हैं। यह तो अपने सत्त्वसे ज्ञानरूप रचा हुआ है। इस शुद्ध अंतस्तत्त्वके ये योनियां नहीं हैं, और शुद्ध अंतस्तत्त्वके ज्ञानके विना यह जीव व्यवहारी बनकर चार लाख योनियोमें भ्रमण करता है। अब भी हम आप सब उन्हीं परिस्थितियोंमे हैं, लेकिन इस योनि कुल देह वैभव इन सबसे रहित शुद्ध ज्ञायकस्वभावकी प्रतीति रखें तो ये सब विडम्बनाएं टल सकती हैं।

कर्तव्यकार्य— भैया! जो काम करने को पड़ा है, वह तो कुछ भी काम नहीं किया जा रहा है और जो काम बिल्कुल व्यर्थका है, उसमें ही रात दिन जुटे रहते हैं। करनेका काम यह है कि अपनेको इस रूप अवलोकते रहें कि मैं ज्ञानमात्र, आनन्दभावमात्र हूं। कौन कहता है कि मैं मनुष्य हू? मेरे लिए मैं मनुष्य नहीं दिख रहा हू। मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र चेतन हू—ऐसी प्रतीति रखनेका काम पड़ा हुआ है। जैसा कल्याण चाहिए, जैसा धर्महित चाहिये—ऐसे इस कामको तो किया नहीं जा रहा है और व्यर्थके ऊधम मचाए जा रहे हैं। मैं मनुष्य हू, ऐसी पोजीशनका हू; अमुक गांवका हू, अमुक मजहबका व गोष्ठीका हू। और कहा तक कहा जाये? उन विकल्पोंके असंख्यात तो भेद हैं। कुछ तो इसके कहनेमें आ पाते हैं, कुछ नहीं आ पाते हैं। कुछ विकल्प तो अनुभवमें आ पाते हैं और कुछ अनुभवमें नहीं आ पाते हैं—ऐसे अनगिन्ते विकल्पोंरूप अपनेको मान लेनेमें यह जीव लगा है और एक विशुद्ध ज्ञानभाव, आनन्दभावरूप अपने आपकी श्रद्धा नहीं कर पाता है। यही कारण है कि जीव आज इतनी विडम्बना और क्षोभमें पड़ा हुआ है।

धर्म बिना मनुष्यभवकी तुच्छता— भैया! वैभव पाया तो क्या विडम्बना, झंझट, चिंताएं आदि सभी आपदाएं तो गरीबोंकी भाति ही बनी हैं। मनुष्य हुए तो क्या हुआ? विषयभोगोंकी वाञ्छाएं, इन्द्रियोंके विषयों की पूर्तियां तो उन पशु और पक्षियोंकी भाति ही तो बनी हैं। मनुष्यमें व पशुओंमें कोई अन्तर है तो धर्मधारणका अन्तर है। एक धर्मनामक तत्त्व अपनेमें न रहे तो पशुओंमें और मनुष्यमें फिर कुछ अन्तर नहीं रहता, बल्कि मनुष्यसे पशु अच्छे हैं। पशुओंकी चाम, हड्डी काममें आती है, ये दूसरोंके किसी प्रकार आराम देनेके काममे आते हैं और वर्तमानमें भी तो अनेक सुविधा हैं। जैसे कोयलका सुरीला राग है। मनुष्य, अच्छे रागसे गायें तो लोग उपमा देते हैं कि इसका कण्ठ तो कोयल जैसा है। उपमामें जिसको उदाहरणमें लिया, वह बड़ा हुआ या मनुष्यका कण्ठ बड़ा हुआ?

कोई बड़ा शूर हो, उसके वक्षस्थल आदि सब पुष्ट हों, कमर अत्यन्त पतली हो तो उसे यह कहते हैं कि यह सिंहके समान शूरवीर है। इसमें सिंह शूरवीर हुआ या मनुष्य ? सिंह ही शूरवीर हुआ। इस मनुष्यकी और पशु पक्षी की तुलनामें पशु पक्षी बड़े हैं। मनुष्यमें एक धर्मतत्त्व न हो, तो कवियों ने चूंकि वे मनुष्य थे, इसलिये कह दिया कि मनुष्य पशुके बराबर है, नहीं तो यह कहना था कि यह पशुसे हीन है।

धर्मपालन- धर्म क्या है, कहा पालना है ? यह धर्म अपना है व अपनेमें पालना है। अपना ही स्वरूपमात्र एक अपनी नजरमें रहे—ऐसी स्थिति बनाये तो वहां धर्मका अभ्युदय है। यह आत्माके नातेसे बात की जा रही है। जब इस परमार्थ हितकार्यमें नहीं लग सकता है, पर ख्याल है इसका तो, अब जो मन, वचन, कायकी चेष्टाए बनेंगी, वे व्यवहारिकता बनेंगी, वे चरणानुयोगपद्धतिकी बनेंगी, उसे ही लोग पहिचानते हैं। सो लोकमें उस व्यवहारिकताको धर्म कहा है, पर वे व्यवहारिकताए भी इस परमार्थहितके अविरोधको लिये हुए हो तो वह व्यवहार धर्म है। ऐसा देव का स्वरूप हमारी दृष्टिमें रहे कि जिस स्वरूपका स्मरण करके हम उस सहजस्वरूपमें उस स्वरूपको मग्न करके एकरस हो सकें, लो वह हो गया देव। इस स्वरूपको पानेके लिए जो उद्यम करता है, वह ही तो गुरु कहलाता है। उन गुरुवोंका रंग, ढंग, स्वरूप, चाल ढंग, चर्या ऐसी विविक्तता को दिखाने वाली होनी चाहिए या ऐसी निरपेक्षताको लिए हुए हो कि जो उन्हें इस परमार्थ ज्ञानस्वरूपमें मग्न करनेका बारबार मौका दे। निरारम्भ अवस्था और निष्परिग्रह अवस्था ही ऐसी अवस्था है कि यह जीव आत्मस्वभावकी चिंतनामें बारबार लग सकता है।

शुद्ध अन्तस्तत्त्वके जीवस्थानोंका अभाव— देखो इस शुद्ध अन्तस्तत्त्वको जो अपने लिए परमशरण है, एकस्वरूप है, निष्पक्ष है, केवल वह आत्महितकी समस्याको ही हल करने वाला है--ऐसा एक इस निजअद्वैत, निजतत्त्वके स्वरूपका भान किसी क्षण तो हो, फिर ये सब देह, भोगके साधन, सब विडम्बनाए इसकी दूर हो सकती हैं। इस शुद्ध अन्तस्तत्त्वके कोई जीवस्थान नहीं है। जैसे बादरएकेन्द्रिय, सूक्ष्मएकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असञ्ज्ञीपञ्चेन्द्रिय, संज्ञीपञ्चेन्द्रिय और ये होते हैं पर्याप्त अवस्थामें तथा अपर्याप्त अवस्थामें अर्थात् जन्मकालमें, शिथिल अवस्थामें होते हैं और पश्चात् पर्याप्त अवस्थामें होते हैं। जिस प्रकार से कोई जीव अपर्याप्तावस्थामें ही मर जाते हैं, पर्याप्त नहीं हो पाते हैं, वे लब्ध्यपर्याप्त हैं।

स्वभावकी सहजता व शाश्वतता— कोई जीव अपर्याप्तावस्थामें ही मर जाते हैं, पर्याप्त नहीं हो पाते, वे लब्ध्यपर्याप्त हैं। जैसे पानी की कुछ भी स्थिति हो, गंदा हो, गरम हो, रंग मिश्रित हो, सब परिस्थितियों में जलके स्वभावकी जब चर्चा करेंगे, दृष्टि करेंगे तो वहां यों दृष्टि होगी कि जल निर्मल है, शीत है। स्थितियां कुछ भी हों, जब स्वभावको बतावेंगे तो स्वभाव तो सहजभावरूप होना है। न रहे उस जलके साथ, पर उपाधिका संग, न रहे उस जलमें उपाधिका निमित्त पाकर पर भावका प्रसंग, तो जल किस रूपमें रह सकेगा—ऐसी सम्भावनासे समझमें आ सकता है जलका स्वभाव भाव। न रहे मुझसे देहका संग, न रहे कर्मोंका संग और न रहे इन उपाधियोंका निमित्त पाकर उठने वाले रागद्वेषादिक का प्रसंग, तो यह मैं किस स्वरूपमें रहा करूँगा, ऐसी सम्भावनाके द्वारसे यह सहजस्वभाव परखा जाता है।

जीवमें देहसम्बन्धी सर्वस्थानोंका अभाव— इस सहज स्वभावरूप मुझ आत्मतत्त्वके ये कोई जीवस्थान नहीं हैं। कौन कहता है कि मेरे देह लगा है। अरे मैं ही अपने घरसे निकलकर दरवाजेसे बाहरमें झांकने लगूं तो मालूम पड़ता है कि मेरे देह लगा है और इस दरवाजेसे मुड़ कर भीतरकी ओर उन्मुख होकर अन्तरमें विहार करूं तो वहां यह विदित नहीं होता कि मेरे देह है, इसलिए अन्य सम्बन्ध, अन्य रिश्ते, अन्य विडम्बनावोंकी वहां कहानी ही क्या है? इस जीवके देहसम्बन्धी न कुल है, न जातियां हैं और न देहोंके प्रकार हैं। इन समस्त विडम्बनावोंसे पर शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप यह मैं आत्मतत्त्व हूं, इस प्रतीति द्वारा सब विडम्बनाएं दूर हो जाया करती हैं।

जीवमें परतत्त्वोंका अभाव— जीवके अपने आपके सत्त्वके कारण जो इसमें सहजस्वरूप पाया जाता है उसको दृष्टिमें रखकर यह सब वर्णन सुनाना है कि ऐसे शुद्ध जीवास्तिकायमें किसी भी प्रकारके परभावोंको प्रवेश नहीं है। इस जीवने बाह्यपदार्थोंमें आत्मीयता करके जो विकारकी रचनाएं की हैं इन रचनावोंसे यह जीव चतुर्गतिमें भ्रमण करता है। अन्य समागम इसके हैं कुछ नहीं, न कुछ था, न कुछ होगा। किन्तु मोहका ऐसा प्रताप है कि जिस कालमें बाह्यपदार्थोंका समागम है उस कालमें यह उस समागमसे न्यारा अपने सहजस्वरूपको नहीं पहिचान सकता है। मिलेगा कुछ नहीं। कैसी व्यवस्था है? जैसे स्वप्न होते हुए की स्थितिमें जो कुछ देखा जा रहा है यह सब यहां कुछ नहीं है, ऐसा ज्ञान नहीं कर सकते हैं। ऐसे ही मोहकी अवस्थामें जो कुछ समागम प्राप्त हुए हैं ये मेरे कुछ नहीं

हैं, ऐसा यहां श्रद्धान् नहीं कर सकते हैं।

स्वप्नकी परिस्थिति— भैया! जैसे स्वप्नकी बात सदा नहीं रहती, जगनेपर आखिर मिटना ही पड़ता है और मिटने के बाद फिर इसे यह निर्णय होता है कि ओह यह सब दृश्य झूठा था। इस ही प्रकार समागम की बात सदा नहीं रहता, मिटना पड़ता है। मिटनेके बाद फिर कुछ पता पड़ता है कि ओह यह मायाजाल था, मेरा यहाँ कुछ न था। तो थोड़ा ख्याल तो आता है परन्तु मोहकी नींद अभी बनी हुई है, इस कारण इन समागमों को यह अपनाने लगता है।

यथार्थ ज्ञान बिना कल्पित विवेककी अविवेकसमता— जैसे कोई ऐसा ही स्वप्न आ जाय कि उस स्वप्नमें तो बहुत बुरी अहितकर बातें देखी और स्वप्नमे ही कुछ हलके ढंगसे ऐसा समझ जाय कि यह स्वप्न है तो क्या ऐसी समझ स्वप्नमें हो सकती है? कभी हो भी सकती है, लेकिन अपना संस्कार होने से फिर दूसरे स्वप्नकी बातें देखने लगे तो उस पिछले स्वप्नको स्वप्नमें स्वप्न मानना क्या यथार्थ है? ऐसे ही मोहमें समागमके बिछुड़ने पर जो कुछ विवेक यह करता है कि ऐसा ही उदय था और अन्य विकल्प करता है तो उस समागमका उसके क्या त्याग है? अरे जब तक समागमके बीच रहकर सच्चा विवेक नहीं जगता, जब तक अपने सहज स्वरूपका परिचय नहीं होता तब तक वास्तविक जगना नहीं कहलाता। इस मोहकी नींदसे हटा हुआ पुरुष अपने अंतस्तत्वमें देख रहा है कि इसके ये जीवस्थान नहीं हैं।

शुद्ध जीवास्तिकायमें गति मार्ग स्थानोंका अभाव— इस शुद्ध जीवास्तिकायमें मार्गणाके भी स्थान नहीं हैं। जीवकी पहिचानके उपाय १४ प्रकारसे जैन सिद्धान्तमें बताये हैं। कोई नरक गतिके जीव हैं, कोई तिर्यञ्च गतिके हैं, कोई मनुष्यगतिके हैं और कोई देवगतिके हैं। इन चार गतियोंसे रहित एक सिद्ध अवस्था है। ज्ञानी जीव जानता है कि इस शुद्ध जीवास्तिकायमें अर्थात ज्ञायकभावका लक्षण लेकर देखे गए निज जीवास्तिकायमें न ये चारों गतियां हैं और न गतिरहित अवस्था है। इसके स्वरूपमें तो एक ज्ञानभाव है। यह न गति सहितपना देख रहा है और न गति रहितपना देख रहा है। वह तो लक्षण देख रहा है।

शुद्ध जीवास्तिकायमें इन्द्रियमार्गणास्थानोंका अभाव— दूसरी खोज है इन्द्रियमार्गणा। इन्द्रियां ५ होती हैं— स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। किसी जीवमें एक ही इन्द्रिय है— स्पर्शन मात्र। जैसे पृथ्वी जल अग्नि वायु और वनस्पति। कोई जीव दो इन्द्रिय वाले हैं—

स्पर्शन, रसना वाले हैं, जैसे लट, केचुवा, जोंक, शख, कौड़ी, सीप आदिक। कोई जीव स्पर्शन, रसना घ्राण इन इन्द्रियोंसे सहित हैं—जैसे कानखजूरा, बिच्छू, चींटी, चींटा, खटमल आदिक अनेक जीव हैं। कोई स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु इन चार इन्द्रियों करि सहित हैं—जैसे मक्खी भुनगा, वर्र, भौंरा, मच्छर, टिड्डी, पतगा। कोई जीव पांचों इन्द्रियों करि सहित हैं—जैसे मनुष्य, देव, नारकी और पशु, पक्षी, जलचर आदिक। कोई जीव ऐसे भी हैं कि पाचों ही इन्द्रिया नहीं है जैसे सिद्ध भगवान्, किन्तु एक जीवके लक्षणको ही निहारने वाले और जीवके लक्षणरूप ही इस जीवका परिचय करने वाले ज्ञानी संत कह रहे हैं कि इस शुद्ध जीवास्तिकायमें न तो एकेन्द्रियपना है, न दो इन्द्रियपना है, न तीन इन्द्रियपना है, न चार इन्द्रियपना है और न पाचइन्द्रियपना है और इन्द्रियसे रहित जो एक शुद्ध अवस्था है, परिणमन है वह भी नहीं देखा जा रहा है। असाधारण लक्षणके रूपसे जीवको देखा जा रहा है तो ज्ञानानन्द स्वभाव रूप ही जीव दिखनेमें आ रहा है, उसमें क्या तो है और क्या नहीं है? यह कुछ नहीं दिखता है।

शुद्ध जीवास्तिकायमें कायमार्गणास्थानोंका अभाव—जीवकी तीसरी खोज है कायमार्गणा—काय ६ होते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु वनस्पति और त्रस। ये शरीरोंके आधार पर भेद किए जा रहे हैं। और कोई जीव ऐसे होते हैं कि छहों कायसे परे हो गए, पर जीवको जहां देखा जा रहा है वहा जीवकी बात देखी जायेगी, जीवमें क्या है और क्या नहीं है यह देखा जायेगा। परमार्थदृष्टिमें जीवके कायमार्गणास्थान नहीं हैं। वस्तुमें क्या है, क्या नहीं है इसका वर्णन व्यवहारनयमें चलता है, पर निश्चयनयसे जब जीवका स्वरूप निहारा जा रहा है तो वहां जीव का लक्षण जो ज्ञानादिक स्वभाव है उस पर दृष्टि है। ऐसे ज्ञानानन्द स्वभावरूप शुद्ध जीवास्तिकायके ये कायमार्गणा भी नहीं हैं।

वस्तुकी निश्चयव्यवहाररूपता—देखिये स्याद्वादके उपायसे वस्तुके स्वरूपको किस ठौर पहुंचाया जा रहा है? माया का क्या स्वरूप है, परमार्थका क्या स्वरूप है—यह निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंसे परखा जा रहा है। परमार्थ और व्यवहारकी चर्चा अन्यत्र भी है, किन्तु एक ही पदार्थमें परमार्थता निहारना और व्यवहार निहारना यह खूबी जैन-सिद्धान्तमें बतायी है। व्यवहार दृष्टिसे परखें हम बाहरकी बातें तो वहां सत्त्वकी परमार्थता नहीं रही, व्यावहारात्मकता ही रही।

ज्ञानानुभूतिकी निर्विकल्पता—इस आत्मतत्त्वको जब परमा

दृष्टिसे देख रहे हैं तो क्या देखा जाता है ? अनेकांत अथवा वेदांत। कैसा अनेकांत ? जहां एक भी धर्म नहीं है ऐसा अनेकांत। जीवके शुद्धस्वभावकी दृष्टिमें न तो वहां कुछ है—ऐसा तका जा रहा है और न वहां कुछ नहीं है—ऐसा भी तका जा रहा है अथवा वहां विकल्पोंका अंत हो गया है। परमार्थस्वरूप आत्मतत्त्वके परिज्ञानके, अनुभवके कालमें अब ज्ञानविकल्प नहीं चलता है। यों समझिये कि जैसे भोजन बनाते हुए काल तक तो अनेक बातें और विकल्प चला करते थे। अब अमुक चीज लाओ, यह तो और डालो, आंच तेज करो, यह मसाला लाओ, ठीक न सिका, इसे और सिकना चाहिये। सर्वविकल्प किए जा रहे थे भोजननिर्माणकाल तक। उस भोजनका जब अनुभवन करते हैं, तब एक चित्त होकर एक स्वादमें ही दिल पूरा बसाकर उसका ही आनन्द व्यामोही लोग लूटते हैं। वहां यह ख्याल नहीं करते कि इसमें यह चीज ठीक पड़ी है। यदि यह विकल्प करें तो ऊंचा एकरसका स्वाद नहीं आ सकता है। यों ही वस्तुस्वरूपके परिज्ञान के निर्माणकाल तक तो निश्चयव्यवहारका सर्वविकल्प किया और उसकी सिद्धि की, किन्तु जब अनुभवनकाल आया। उस परमार्थस्वरूपका तो उस कालमें इस जीवके जीवका विकल्प न रहा अर्थात् कल्पना न रही— ऐसे अनुभवनमें आए हुए शुद्ध जीवास्तिकायमें मना कर रहे हैं कि इसमें कार्माणवर्गणा नहीं है।

यथार्थज्ञानकी अनुपेक्षा— यह ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व न नारक है, न तिर्यंच है, न मनुष्य है, न देव है और न यह सिद्ध है। यह तो ज्ञानानन्द स्वरूप है। ज्ञानानन्दस्वभावकी लगन लग जाए, रुचि लग जाए, प्रतीति हो जाए तो ये संसारके संकट न रहेंगे। इतना दुर्लभ अवसर पाकर लाभ तो इस बातमें है कि मोह नाम पर रंच भी मलिनता न रखी जाए। कुछ कुछ में काम नहीं बनता है। कुछ मोह बना रहे, कुछ धर्म भी करते रहें, इसमें कार्य नहीं बनता है, उससे भला तो शायद इस बातमें होगा कि मोह ही खूब कर डालें २४ घण्टे। पेट अफर जाए मोह करते करते तो फिर धर्मकी ओर आने लगें। पर सारा जीवन ऐसा ही बिताया तो क्या हाथ पाया ? यहां यह नहीं कह रहे हैं कि घर द्वार सब त्याग करके धर्मपालन करिये। यदि कोई सचाई और ईमानदारीसे धर्मपालन कर सके तो भला है, पर ऐसे भी रहा तो क्या सही ज्ञान रखनेमें भी कष्ट होता है ? घरमें रहो तो ठीक है। व्यापार करना है, परिवारसे बोलना है और इस तरह करना चाहिए, कर्तव्य है ठीक है, पर मैं अपने चतुष्टयसे सत् हूं, ये जीव अपने चतुष्टय से सत् हैं, मेरा इनमें अत्यन्ताभाव है, अन्तरकी परिणतिसे इसमें कुछ

नहीं बनता। ऐसा वस्तुका स्वरूप है ना, तो ऐसी जानकारी रखनेमें भी क्या कष्ट होता है ?

निर्मोहिताकी अनुपेक्षा— भैया ! वस्तुकी स्वतन्त्रताका भान रखना ही तो निर्मोहता है। मोह तो कतई छोड़ना चाहिए, चाहे गृहस्थ हो, चाहे कोई हो। रही रागकी बात। तो राग जब जैसे छूटेगा, छूटने दो। रागके छोड़कमें इतनी स्वाधीनता नहीं है या यह कहो कि वश नहीं चलता है। मोहका त्याग जहां यथार्थ ज्ञान हुआ, हो जाता है। मोह नाम है दूसरोंको अपना स्वरूप मानना। दूसरोंसे अपना सुख दुःख मानना, यह है मोहका स्वरूप। गृहस्थावस्थामें भी कितनी बड़ी सुगमताकी बात है ? राग नहीं छूटता है तो न छूटे, कर्तव्य किया जाता है तो करो और करना चाहिए, जब तक गृहस्थावस्थामें हैं, किन्तु यथार्थ बातसे मुंह न फेरिये। सर्वजीव स्वत सिद्ध परिपूर्ण सत स्वरूप हैं और मेरेसे सब जीव अत्यन्त जुदे हैं। जितने जुदे बाहरके लोग हैं, गैर माने हुए लोग हैं, उतने ही पूरे जुदे घरमें बसे हुए लोग हैं। अपनी सीमा, अपना स्वरूप अपनी दृष्टिमें रखो और सम्यक्त्वकी भावनासे अपना पोषण करो। इस शुद्ध जीवास्तिकायमें कायमार्गणास्थान नहीं है।

शुद्ध जीवास्तिकायमें योगमार्गणास्थानोंका अभाव— चौथी पहिचान है जीवोंकी योगमार्गणा। जीवके प्रदेशमें जो परिस्पन्द होता है, क्रिया होती है, वह योग है। यह योग तो जीवात्मक हैं, किन्तु उस आत्मप्रदेश-परिस्पन्दरूप योगके प्रवर्तनमें मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति कारण होती है। योग जीवका स्वभाव नहीं है, हलन चलन क्रिया करते रहना जीवका स्वभाव नहीं है। यह मन जब अनेक प्रकार विकल्प करता है, वचन अपनी चेष्टा करते हैं, काय अपनी प्रवृत्तिमें है तो उसका निमित्त पाकर जीव-प्रदेशमें परिस्पन्द होता है तो ऐसे कारण १५ प्रकारके हैं। मूलमें तीन हैं— मनोयोग, वचनयोग और काययोग।

मनोयोग व वचनयोगके भेद— जीवका मन ४ प्रकारका होता है— कोई साचा मन है, कोई झूठा मन है, कोई मिलमा मन है, कोई अनुभय याने तटस्थ मन है। तो ये चार प्रकारके मन हैं, जिनसे चार मनोयोग हो जाते हैं। ऐसे ही चार प्रकारके वचन होते हैं—कोई सत्य वचन है और कोई झूठ वचन हैं, कोई मिलमा वचन हैं। यहा न कोई सांचा है और न यहा कोई झूठा है याने अनुभय है। ऐसे चारों प्रकारके वचनोंका वचनयोग हो जाता है।

सत्य, असत्य, उभय, अनुभयका विवरण— सच बात तो सब ही

जानते हैं कि इसे सच कहते हैं। झूठ भी सब जानते हैं कि इसे झूठ कहते हैं, पर सच और झूठ दोनों मिले हुए हों—ऐसे भी वचन हुआ करते हैं। इसे लोग पहिचानते हैं। छल कपट करना, दूसरोंको धोखेमें डालना—ये सब तो मिलमा वचनसे ही होते हैं। केवल सच बोलनेसे कोई धोखेमें नहीं आएगा और निरा झूठ बोलनेसे भी कोई धोखेमें न आएगा, सावधान हो जाएगा, पर सांचा और झूठका जो मिलमा वचन है, उससे लोग धोखेमें आ जाते हैं। सो इसका भी परिचय है, पर जो न सत्य है, न झूठ है, अनुभय है—ऐसा भी कोई वचन है क्या? इसका भी हम आप रात दिन प्रयोग करते हैं। जैसे आप किसीसे बोल रहे हैं कि हे भाई! आओ। तो इतने जो शब्द हैं, वे झूठ हैं या सच हैं? न सच हैं और न झूठ। वह तो एक बुलानेका वचन है। कोई कहे कि सच है तो थोड़ी देरमें यह देखेगा कि बुलानेसे यदि न आया तो झूठ हुआ। कोई कहे कि झूठ है व बुलानेसे आ गया तो वह सच है। झूठ साचकी परख पा सकना अन्य क्रिया पर नहीं होती, वह तो उन्हीं वचनोंसे होती है। जिस प्रकारसे यदि किसीका बुलावा कर दिया कि तुम्हारा हमारे घर पर कल नेवता है तो इतने ये जो भी शब्द हैं, वे न सच हैं और न झूठ हैं। यह तो एक आमन्त्रण वचन है।

त्यागका मनबहलावा—किसी शहरमें शामको आरती हुआ करती थी। उसमें ऐसा रिवाज था कि लोग घीकी बोली बोला करते थे कि लिखो हमारे नाम २० सेर घी, हमारे लिखो १ मन घी, हमारे लिखो दो मन घी। अर्थ वहा यह है कि २० सेर घीके मायने सवा रुपया। एक देहाती भी तिलीकी गाड़ी भरकर तिली बेचनेके लिये जा रहा था। मार्गमें मन्दिर आने पर मन्दिरमें वह दर्शन करने चला गया। वहां आरती हो रही थी। उसने देखा कि यहा के लोग बड़े उदारचित्त हैं, कोई एक मन घी बोलीमें बोलता है, कोई दो मन घी बोलीमें बोलता है। उसने सोचा कि हम क्या बोलें? विचार कर वह बोलीमें बोला कि लिखो हमारी एक गाड़ी तिली। जब बोली समाप्त हुई तो कहा कि लो रख लो हमारी एक गाड़ी तिली। लोगोंने कहा कि यहा तो घीकी बोली होती है। २० सेर घीके मायने है २० आने पैसे अर्थात् मैंने २० आने चढ़ाये, १ मन घीके मायने हैं कि ढाई रु० चढ़ाये गए। अब २० सेर घी होता है २०० रुपयेका। उस देहातीने कहा कि अच्छा पचा! तुम हमारी गाड़ीभर तिली ले लो, हमने तो चढ़ा दी। पञ्चोंने गाड़ी भर तिली ले ली।

त्यागके मनबहलावा वाले को उत्तर— अब उस देहातीको घरमें रात भर नींद न आयी उसने सोचा कि अच्छा पचोंको भी अब मजा चखाना चाहिए, जो कि ऐसी झूठ बोली करके मंदिरमें आरती करते हैं। लिखो २० सेर घी, लिखो १ मन घी, ऐसा कहते हैं और सवा रुपये, २॥ रुपये चढाते हैं। सो सोचा कि इन्हें भी मजा चखाना चाहिए। वह पहुचा उसी शहरके मन्दिरमें बोली बोलने वाले सब लोगोंसे कहा कि कल हमारे यहा सारी समाजका चूल्हेका न्यौता है, कोई अपने-अपने घर चूल्हा न जलाना सबका निमंत्रण है। सबने निमन्त्रण मान लिया। दूसरे दिन सब लोग उसके यहां पहुचे। उसने यहा क्या करवाया कि घरमें इधर उधर लकड़ी जलवाकर धुवा करवा दिया। लोगोंने जाना कि खूब पूड़िया पक रही हैं। उसने पातल मंगा ली थी। सो सबको पातल परोसवा दिया, और पातल परोस जानेके बाद वह कहता है कि पचों अब सब लोग जीमों। सब लोग मुंह ताकें। सबने कहा कि पातलमें कुछ धरो तब तो जीमें। उसने कहा कि महाराज जैसे आपके मंदिरमें आरतीकी बोली बोली जाती है वैसी ही हमारी पंगत है, सब लोग इसे स्वीकार करो। तो यह एक बात छलकी कही गई है इस कथानकमें, ऐसा ही कुछ एक उभय वचन होता है, वही भ्रम, छल इसका कारण बनता है। तो चार प्रकारके वचन होने से चार वचन योग हुए।

काययोगके भेद—काय योग होते हैं ७ प्रकारके। काय कहते हैं शरीरको, शरीर होते हैं चार तरहके—औदारिक, वैक्रयिक, आहारक, और कार्माण। मनुष्य, तिर्यञ्चके शरीरका नाम औदारिक शरीर है और वही शरीर जन्मकालमें कुछ सेकेण्डों तक जब तक उसमें बढ़नेकी ताकत नहीं आती है तब तक कहलाता है औदारिकमिश्र। इसी तरह देव और नारकियोंके भी शरीरका नाम है वैक्रियक शरीर और उनके जन्मकालमें जब तक उनका शरीर पर्याप्त नहीं होता कुछ सेकेण्ड, तब तक कहलाता है वैक्रियकमिश्र। आहारक शरीर होता है बड़े ऊचे ऋद्धिधारी संधु पुरुषोंके। जब उन्हें कोई तत्त्वमें शका होती है तो उसके समाधानमें अपने उपयोगको डुलाते हैं तब एक हाथके विस्तार वालास्वच्छ धवल पवित्र एक आहारक शरीर निकलता है, वह मनुष्यकी तरह अगोपांग वाला होता है और वहां जाता है जहां प्रभु विराजमान् हों। दर्शन करते ही उसकी शका का समाधान हो जाता है। वह आहारक शरीर जन्मकालमें जब तक बढ़ता नहीं है तब तक उसे आहारकमिश्र कहते हैं। इस तरह ये ६ होते हैं, और एक हुआ कार्माण शरीर, जो मरणके बाद जन्म स्थान पर पहुच-

ने से पहिले विग्रह गतिमें अपना प्रताप दिखाता है। ऐसे इन ७ शरीरोंके निमित्तसे जो योग होते हैं उन सबको काययोग कहते हैं।

अयोगसहित सर्व योगमार्गणास्थानोंका आत्मतत्त्वमें अभाव—इस तरह १५ योग हुए और ऐसे भी जीव हैं जो इन योगोंसे रहित हैं। चौदहवें गुणस्थान वाले और सिद्ध भगवान ये, समस्त १६ प्रकारके योग मार्गणाके स्थान इस शुद्ध जीवास्तिकायमें नहीं हैं। ऐसा यहां जीवके शुद्ध स्वरूपके निहारनेके सम्बन्धमें आचार्यदेव बता रहे हैं, कि वह तो शुद्ध एक ज्ञानानन्द स्वभाव मात्र है उसे कहीं बाहर न देखो, किन्तु अपने आपके ही अन्तरमें परखो। इस चेतनतत्त्वमें चेतनके ही सत्त्वके कारण जो सहजस्वभाव होता है उस सहजस्वरूपकी दृष्टिमें लखे हुए आत्मतत्त्वमें मात्र ज्ञानानन्द स्वभाव ही विदित होता है, पर उपाधिके सम्बन्धसे जो विचित्र स्थितियां हो जाती हैं वे स्थितियां वस्तुके स्वभावमें नहीं हैं। इस कारण निश्चयनयसे जीवके ये कोई मार्गणा स्थान नहीं हैं।

आत्मतत्त्वमें वेदमार्गणाका अभाव—अब जीवकी ५ वीं खोज होती है वेदमार्गणा। समस्त जीव वेदकी दृष्टिसे चार भागोंमें विभक्त हैं, कोई पुरुषवेदी है, और कोई स्त्रीवेदी है, कोई नपुंसकवेदी है और कोई वेदभावसे रहित है। वेद कहते हैं कामवासनाको। पुरुषके साथ रमणभाव हो उसको स्त्रीवेद कहते हैं और स्त्रीके साथ रमणका परिणाम हो सो पुरुषवेद है, और जहां दोनों बातें हों वह नपुंसक वेद है, और जहां किसी प्रकारका कामसंस्कार भी नहीं रहता उसे अपगतवेद कहते हैं। अब इन सब जीवोंमें खोजो, नारकी जीव तो नपुंसकवेदी ही होते हैं। वे भावों में भी नपुंसक और शरीरसे भी नपुंसक होते हैं। देवी देवतावोंमें कोई नपुंसकवेदी देव न होगा, पुरुषवेदी होगा अथवा स्त्रीवेदी होगा। वहां भाव वेद भी वही है और द्रव्य वेद भी वही है। मनुष्य और तिर्यञ्चमें विषमता है कि शरीरसे तो कोई स्त्रीवेदी हुआ, उसमें स्त्री चिन्ह हुआ और परिणाममें पुरुषवेद जागृत हुआ।

द्रव्यवेद व भाववेदकी विषमता—भैया ! कुछ कुछ तो ऐसी घटनाएं भी सुनने को मिलती हैं कि कोई जन्मसे लड़की था और पश्चात् डाक्टरने उसकी खोज करके पुरुषवेदी बना दिया। हो सकता है उसका भाववेद पहिलेसे पुरुष ही था और गुप्तरूपमें कुछ रचना भी द्रव्यवेदकी इस तरह हो। तिर्यञ्चमें और पुरुषमें इस बातकी विषमता पायी जाती है कि शरीरका वेद और कुछ है और भावका वेद और कुछ है। यह वेदमार्गणाकी स्थिति जीवमें स्वभावसे नहीं है। पर यह उपाधिका सन्निधान

पाकर हुई है।

आत्मतत्त्वमें कषायमार्गणा स्थानोंका अभाव-- अब छठवीं खोज है कषायमार्गणाकी। समस्त आत्मा २६ प्रकारमें कषायमार्गणाकी दृष्टिसे बटे हुए हैं। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, १६ तो ये कषाय हैं; हास्य, रति, अरति शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद ये ९ कषाय हैं और कुछ जीव ऐसे हैं कि कषायोंसे परे हैं, अकषाय हैं।

अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण कषाय— अनन्तानुबंधी कषाय वह कहलाता है कि जिस क्रोध, मान, माया, लोभके होते सते इस जीवको सम्यक्त्व नहीं जग सकता, आत्मस्वरूपकी प्रतीति नहीं बन सकती, ज्ञानका अनुभवन नहीं हो सकता। ऐसे तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ जहां होते हैं उसे अनन्तानुबंधी कषाय कहते हैं। अप्रत्याख्यानावरण कषाय अनन्तानुबंधीसे बहुत हल्की होती है। इस कषायके रहते हुए सम्यक्त्व रह सकता है, आत्मज्ञानकी बात चल सकती है और कदाचित् क्षणोंको आत्मरमणकी उसकी योग्यता चलती है, किन्तु ये कषाय देशव्रत नहीं होने देते, व्रतमें नहीं बढ़ने देते, सम्यक्त्व तो हो सके, पर संयम किसी भी प्रकारसे नहीं हो सकता। ऐसे ये क्रोध, मान, माया, लोभ हैं।

प्रत्याख्यानावरण व संज्वलन कषाय— प्रत्याख्यानावरण कषायमें देशव्रत जग सकता है, पर सकलसन्यास नहीं हो सकता है। बाह्यपरिग्रह सब छोड़ दिया और आभ्यंतर परिग्रहका भी त्याग करके जैसा नग्नरूप शरीरसे है ऐसा ही नग्नरूप भीतरमें बन सके, किसी भी परपदार्थकी लपेट जिस ज्ञानमें नहीं हो सो ऐसा महाव्रत नहीं हो पाता है। प्रत्याख्याना-वरणके होते हुए देशव्रत हो जायेगा, सम्यक्त्व जग जायेगा, पर महा-व्रत नहीं हो सकता। संज्वलन कषाय ऐसा होता है। जैसे पानीमें लाठीसे लकीर खींच दी जाय तो वह लकीर उसही काल तो दिखती है बादमें नहीं। बादमें वह जल एकरस हो जाता है। ऐसा ही जहां अत्यन्त मंद कषाय रह गया, ऐसे साधु संतोंके जहां सकलसन्यास हो गया और आभ्यंतर परिग्रह का त्याग है किन्तु कषाय अब भी विद्यमान् है, वह है अत्यन्त हल्की संज्वलन कषाय।

नव नोकषायें— जगतके जीवोंमें यह सब कषायका संकट लग गया इस संकटका बड़ा विस्तार है, पर थोड़ासा जान लीजिए कि १६ प्रकारके कषायोंमें यह जीव पड़ा हुआ है और ९ कषाय होती हैं। हंसनेकी अन्तर

भावमें दृष्टि मग्न की जा रही है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान और तीन कुज्ञान—ये ८ प्रकारके ज्ञानके स्थान इस शुद्ध जीवास्तिकायमें नहीं हैं। केवलज्ञानस्वभावमात्रसे लक्षण किया जा रहा है इस जीवका। उस ज्ञानस्वभावरूपके देखने पर कोई परिणमनकी दृष्टि नहीं रहती। केवलज्ञान यद्यपि समस्त विश्वको जानने वाले ज्ञानका परिपूर्ण परिणमन है सर्वज्ञता, किन्तु जब जीवका लक्षण तका जा रहा है, सहजस्वभाव निरखा जा रहा है और सहजस्वभावमय ही यह मैं आत्मतत्त्व हू—ऐसा जहा निर्णय हुआ है, वहां अशुद्ध परिणमन तो प्रतिष्ठा पाते ही नहीं हैं, पर शुद्ध परिणमन भी उसमे जमे हुए नहीं हैं। यदि शुद्ध परिणमन जीवका स्वभाव होता तो अनादिकालसे यह शुद्ध परिणमन होना ही चाहिए था। किसी भी प्रकारके ज्ञानके तरंगोंरूप व व्यक्तियोंरूप स्थान इस आत्मतत्त्वके नहीं हैं।

अन्तस्तत्त्वमें संयममार्गणास्थानोंका अभाव—भैया! इसे आत्मतत्त्व कहो, अंतस्तत्त्व कहो, शुद्ध जीवास्तिकाय कहो अथवा ब्रह्म कहो, सभी तो एकार्थक शब्द हैं। इस जीवमें, इस अन्तस्तत्त्वमें संयममार्गणाके भी स्थान नहीं हैं। संयम ५ प्रकारके होते हैं— सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय व यथाख्यात चारित्र।

सामायिक, छेदोपस्थापना संयम—समतापरिणाममें रहना, रागद्वेषकी तरंगोंमें न आना सामायिक नामका संयम है। यह संयम उत्कृष्ट योगीसंतों के प्रकट होता है। वे साधु पुरुष उत्कृष्ट इस सामायिक संयममें लगकर भी कदाचित् इसी मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिमें आते हैं उपदेश देते हैं या जीवके प्रति सद्भावना बनाते हैं अथवा शरीरसे जीव रक्षा करते हैं या अनेक चर्चाएँ करते हैं—ऐसी स्थितिमें वे सामायिकसे डिग गए, रागद्वेष से रहित समतापरिणामसे गिर गए, दोष हो गया, ऐसी प्रमाद अवस्थामें अथवा उपकार अवस्थामे, विकल्प अवस्थामें आनेके बाद फिर उन विकल्पोंको तोड़कर उस सामायिकमें ही लगनेका यत्न करना आदि जो अन्तःपुरुषार्थ है, उसका नाम है छेदोपस्थापना। यह भी सब कुछ साधुसंतोंके होता है।

परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय व यथाख्यातचारित्र— परिहारविशुद्धिसंयमके प्रतापसे शरीरमें हलकापन आ जाता है अथवा ऐसा अतिशय प्रकट हो जाता है कि देखभालसे यद्यपि वे संत चलते है, फिर भी किसी जीव पर पैर पड़ जाए तो उस जीवको रंच भी बाधा नहीं होती है। सामायिक व छेदोपस्थापना संयमोंमें रहकर जब यह जीव कषायोंको दूर कर

में गुदगुदी बनी रहे, इष्ट विषयसे प्रीति रहे, अनिष्टविषयसे अप्रीति रहे, शोक, भय, परसे घृणा करनेका भाव रहे और तीन वेदोंका वर्णन तो पहिले आ ही चुका है। ये सब कषायें संसारके जीवोंको परेशान कर रही हैं।

अकषाय अवस्था— कषायरहित जीव १० वें गुणस्थानके बादमें होता है और प्रभुपरमात्मा चाहे शरीरसहित परमात्मा हो, चाहे अशरीर परमात्मा हो, किसीके कषाय नहीं रहती। भगवान्में किसी तरहकी इच्छा नहीं जागती। इच्छा जगे तो मलिनताका दोष है। इच्छा अच्छी चीज तो नहीं है। वह तो समस्त विश्वका ज्ञाताद्रष्टा रहता हुआ अनन्तआनन्दरसमें लीन रहा करता है। बडे पुरुष, बडे आदकी स्वय कुछ लोगोंका काम करके उपकार करें तो उनसे उपकार न होगा, किन्तु आदर्शरूप बने रहें तो उन के दर्शन और उनकी निकटतासे अनेक लोग उपकार प्राप्त कर लेते हैं। प्रभु परमात्मा विश्वके ज्ञाताद्रष्टा अनन्तआनन्दरसमें मग्न, अत्यन्त शुद्ध, राग, द्वेष, इच्छा, जन्ममरण किसी भी प्रकारका जहा दोष नहीं है—ऐसे शुद्ध चिदानन्दकी जहां पूर्ण व्यक्ति है—ऐसा प्रभु अकषाय होता है। यह स्थान भी इस शुद्ध आत्मतत्त्वमें नहीं है।

ज्ञानस्वरूपमें सर्वकषायमार्गणास्थानोंका अभाव— भैया! शुद्धजीवास्तिकायमें कषायके स्थान तो हैं ही नहीं, मगर कषायरहितपना इस तरहकी बात भी इस सहजस्वरूपमें विदित नहीं होती है, वह आपेक्षिक कथन है। किसी पुरुषसे कहा जाए कि तुम्हारा बाप तो कैदसे मुक्त है तो वह भला नहीं मानेगा, बुरा मानेगा। अरे बुरा क्यों मानते हो? मुक्तकी ही तो बात कही है। तुम्हारे पिता जेलखानेसे मुक्त हो गये हैं, इसमें यह बात छिपी हुई है कि यह पहिले कैदमें पड़ा था। इसी तरह इस सहजस्वरूपमें यह बात लेना कि यह कषायमुक्त है, कषायरहित है। यहां क्या स्वरूपका अवनहीं है। हम तो शुद्ध ज्ञानानन्दमात्र हैं। यद्यपि कषायरहित है भगवान, पर भगवान्को यों कहा जाए कि ये कषायरहित हैं तो उसमें यह बात पड़ी हुई है कि इनके कषाय थी, यह अपराध था, वे ससारमें रुलते थे, तब तो स्वरूप नहीं जाना गया। यह तो एक विशेषता बताई गयी है। यह जो भी शुद्ध सहजस्वरूप है, उस रूपमें तके गये इस सहजमें कषाय और यह अकषाय सकल कषाय मार्गणा स्थान नहीं है। वह तो एक प्रकारसे केवल ज्ञानस्वरूप है।

अन्तस्तत्त्वके ज्ञानमार्गणास्थानोंका अभाव— इसी प्रकारसे इस आत्मतत्त्वमें ज्ञानमार्गणाके भी स्थान नहीं है। अब देखिये कैसी सहजस्व-

बताया जा रहा है कि इसमें ये कोई मार्गणा स्थान भी नहीं हैं। हा तो ये हुए संयममार्गणामें संयमके भेद। यथाख्यात चारित्र आत्माका शुद्ध व्यञ्जन परिणमन है। ऐसा भी शुद्ध परिणमन उस जीवस्वरूपमें नहीं है। यह तो ज्ञानानन्द स्वभावमात्र है। जिसे अपरिणामी कहो, ध्रुव कहो और व्यापक कहो। व्यापक कहना भी उस स्वरूपकी महिमा घटाना है। व्यापक कहनेसे तो यह बात बनी कि यह फैला, बहुत दूर तक फैला। व्यापकपनेकी भी सीमा बनी। जहा तक सत् है वहा तक यह फैला, पर वहां इस सीमाको भी नहीं देखा जा सकता। व्यापक और अव्यापकके विकल्पसे परे है यह शुद्ध आत्मस्वरूप। इसे कहा जाय कि यह एक है। यह भी आत्मस्वरूपकी महिमा घटाने वाला वचन है। एक है, इस प्रकार का विकल्प तरग भी तब रहता है जब आत्मा ज्ञानानुभूतिमें नहीं है और शुद्ध आत्मस्वरूपका परिचय उसको नहीं है।

ज्ञानानुभूतिमें आत्मदर्शन— आत्माका दर्शन वहा ही है भैया! जहां ज्ञानानुभूति चल रही हो। किसी ने कहा देखिए जरा यह दशहरी आम कैसा है? तो वह क्या करेगा? हाथमें लेगा और खा लेगा। अरे यह क्या कर रहे हो? अरे तुम्हीं तो कहते हो कि देखो। तो देखने को ही तो कहा, खाने को तो नहीं कहा। अरे तो आमका देखना मुंहसे ही हुआ करता है, आंखोंसे नहीं होता है। किसी चीजके परिचयका क्या तरीके हैं वे सब तरीके न्यारे न्यारे हैं। जो चीज केवल देखनेके लिए है उसका भोग नेत्रसे है। कोई कहे कि देखो जी यह कितना बढ़िया सेन्ट है, तो क्या वह बाहर खडे-खड़े तकता रहेगा कि यह है सेन्ट? अरे सेन्ट का देखना नाकसे हुआ करता है अन्यथा परिचय ही नहीं हो सकता। किसीसे कहा देखो जी यह रिकार्ड कितना सुन्दर है? तो बस देखता ही [illegible] अगल बगल, तो क्या उसे उस रिकार्डका पता पडेगा कि कैसा है? [illegible] सकता। उसके शब्द जब कानमें पडेंगे तब पता पड़ेगा। देखोजी [illegible]रूप कैसा है? अरे अभी नहीं देख पाया। एक है यह— ऐसी [illegible] भी जब तक उठ रही है तब तक नहीं देखा जा रहा है। यह [illegible] विकल्पसे नहीं निरखा जाता है। वह तो मनका विकल्प [illegible]क है, अपरिणामी है, ध्रुव है। इन सब विकल्पों

[illegible]नागोचरता— यह आत्मतत्त्व इन सब [illegible] है क्या यह? उसके बताने को शब्द नहीं [illegible]स्पष्ट बताने के शब्द नहीं हुआ करते हैं।

देता है, मात्र एक सूक्ष्मलोभकी अव्यक्त तरंग रहती है, उस सूक्ष्म तृष्णा की तरंगको दूर करने के लिए जो अन्त:पुरुषार्थ चलता है, उसे सूक्ष्मसाम्पराय संयम कहते हैं। ये कषायें भी जब समाप्त होती हैं तो यथाख्यात चारित्र हो जाता है। जैसा इस आत्माका सहजस्वभाव है, वैसा ही प्रकट हो जाता है।

रागकी प्रबलता— इन कषायभावोंमें सबसे प्रबल कषाय है राग। द्वेष तो किसी वस्तुके रागके कारण आया करता है। जिस पदार्थमें राग है उस पदार्थमें विघ्न हो जाय मिलनेका तो जिसका निमित्त पाकर विघ्न हुआ है उस पर द्वेष जग जाता है। उस द्वेषकी जड़ राग है। द्वेष मिटाना सरल है पर राग मिटाना सरल नहीं है। सब लोग अंदाज किए जा रहे हैं। किसीसे झगड़ा न करें, पड़ौसियोंसे द्वेष न करें, यह बात तो बन जायेगी और कुटुम्बसे राग न करे, यह बात तो न बनेगी कठिनाई पड़ती है। अच्छा कुटुम्बका भी राग छोड़ दिया, घर छोड़ दिया, जंगलमें रहने लगे या साधु सत्संगमें रहने लगे, पर वहां भी सम्मान अपमानका ख्याल रह सकता है। यह मैं हू, यह मेरी पोजीशन है, यह राग चल सकता है और राग भी यह मिटे तो मिटते-मिटते अंतमें भी कोई अपने परिणमनसे सम्बन्धित कुछ राग रह जाता है।

राग आगके बुझानेका उपाय— यह राग आग है, इस राग आगने इन समस्त संसारी जीवोंको झुलसा रखा है। इस रागरूपी आगकी ज्वालासे बचानेमें समर्थ हैं तो सम्यग्ज्ञानके मेघ समर्थ हैं। सम्यग्ज्ञानके मेघकी वर्षा हो तो यह राग आग शांत हो सकती है। वनमें लगी हुई आगको घड़ोंसे पानी भर भर कर बुझाये तो आग नहीं बुझ सकती है और घड़ोंकी तो बात क्या कहें, ये म्यूनिसिपल्टीके फायर विभागकी मोटरें भी चली जायें तो भी नहीं बुझा सकतीं। वनमें लगी हुई आगको बुझानेमें मेघ समर्थ हैं। पानी बरस जाय तो वह आग बुझ जायेगी। इसी तरह इस रागकी आगको बुझाने के लिये अथवा राग आगकी जो जलन उठी है इस जलनको कम करनेके लिए न तो मित्र लोग समर्थ हैं न अन्य कोई उपाय समर्थ है। एक सम्यग्ज्ञानकी झलक हो, यहां तो मैं पूराका पूरा ज्ञानस्वरूप मात्र सुरक्षित हू, उसकी झलक आए तो यह राग आग बुझ सकती है। ज्ञानमेघ ही राग आगको बुझानेमें समर्थ हैं।

ज्ञानस्वरूपमें सर्वसमयमार्गण स्थानोंका अभाव— ज्ञानमें भला ज्ञान वही है जो ज्ञान ज्ञानके स्वभावका ज्ञान करता हो, उससे उत्कृष्ट ज्ञान अन्य कुछ नहीं है। उस ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे परखे हुए इस जीवको

बताया जा रहा है कि इसमें ये कोई मार्गणा स्थान भी नहीं हैं। हां तो ये हुए संयममार्गणामें संयमके भेद। यथाख्यात चारित्र आत्माका शुद्ध व्यञ्जन परिणमन है। ऐसा भी शुद्ध परिणमन उस जीवस्वरूपमें नहीं है। वह तो ज्ञानानन्द स्वभावमात्र है। जिसे अपरिणामी कहो, ध्रुव कहो और व्यापक कहो। व्यापक कहना भी उस स्वरूपकी महिमा घटाना है। व्यापक कहनेसे तो यह बात बनी कि यह फैला, बहुत दूर तक फैला। व्यापकपनेकी भी सीमा बनी। जहा तक सत् है वहा तक यह फैला, पर वहां इस सीमाको भी नहीं देखा जा सकता। व्यापक और अव्यापकके विकल्पसे परे है यह शुद्ध आत्मस्वरूप। इसे कहा जाय कि यह एक है। यह भी आत्मस्वरूपकी महिमा घटाने वाला वचन है। एक है, इस प्रकार का विकल्प तरंग भी तब रहता है जब आत्मा ज्ञानानुभूतिमें नहीं है और शुद्ध आत्मस्वरूपका परिचय उसको नहीं है।

ज्ञानानुभूतिमें आत्मदर्शन— आत्माका दर्शन वहा ही है भैया! जहां ज्ञानानुभूति चल रही हो। किसी ने कहा देखिए जरा यह दशहरी आम कैसा है? तो वह क्या करेगा? हाथमें लेगा और खा लेगा। अरे यह क्या कर रहे हो? अरे तुम्हीं तो कहते हो कि देखो। तो देखने को ही तो कहा, खाने को तो नहीं कहा। अरे तो आमका देखना मुंहसे ही हुआ करता है, आखोंसे नहीं होता है। किसी चीजके परिचयका क्या तरीके हैं वे सब तरीके न्यारे न्यारे हैं। जो चीज केवल देखनेके लिए है उसका भोग नेत्रसे है। कोई कहे कि देखो जी यह कितना बढिया सेन्ट है, तो क्या वह बाहर खडे-खडे तकता रहेगा कि वह है सेन्ट? अरे सेन्ट का देखना नाकसे हुआ करता है अन्यथा परिचय ही नहीं हो सकता। किसीसे कहा देखो जी यह रिकार्ड कितना सुन्दर है? तो बस देखता ही रहे अगल-बगल, तो क्या उसे उस रिकार्डका पता पडेगा कि कैसा है? नहीं पड़ सकता। उसके शब्द जब कानमें पड़ेंगे तब पता पड़ेगा। देखोजी यह आत्मस्वरूप कैसा है? अरे अभी नहीं देख पाया। एक है यह—ऐसी विकल्प तरंग भी जब तक उठ रही है तब तक नहीं देखा जा रहा है। यह आत्मस्वरूप मनके विकल्पसे नहीं निरखा जाता है। यह तो मनका विकल्प है कि वह एक है, व्यापक है, अपरिणामी है, ध्रुव है। इन सब विकल्पों से परे है।

आत्मतत्त्वकी खण्डज्ञानागोचरता— यह आत्मतत्त्व इन सब विकल्पोंसे परे है तब फिर और है क्या यह? उसके बताने को शब्द नहीं हैं। जैसे मिठाई मीठी है उसको स्पष्ट बतानेके शब्द नहीं हुआ करते हैं।

देता है, मात्र एक सूक्ष्मलोभकी अव्यक्त तरंग रहती है, उस सूक्ष्म तृष्णा की तरंगको दूर करने के लिए जो अन्तःपुरुषार्थ चलता है, उसे सूक्ष्मसाम्पराय संयम कहते हैं। ये कषायें भी जब समाप्त होती हैं तो यथाख्यात चारित्र हो जाता है। जैसा इस आत्माका सहजस्वभाव है, वैसा ही प्रकट हो जाता है।

रागकी प्रबलता— इन कषायभावोंमें सबसे प्रबल कषाय है राग। द्वेष तो किसी वस्तुके रागके कारण आया करता है। जिस पदार्थमें राग है उस पदार्थमें विघ्न हो जाय मिलनेका तो जिसका निमित्त पाकर विघ्न हुआ है उस पर द्वेष जग जाता है। उस द्वेषकी जड़ राग है। द्वेष मिटाना सरल है पर राग मिटाना सरल नहीं है। सब लोग अदाज किए जा रहे हैं। किसीसे झगड़ा न करें, पड़ौसियोंसे द्वेष न करें, यह बात तो बन जायेगी और कुटुम्बसे राग न करें, यह बात तो न बनेगी कठिनाई पडती है। अच्छा कुटुम्बका भी राग छोड़ दिया, घर छोड दिया, जगलमे रहने लगे या साधु सत्सगमें रहने लगे, पर वहा भी सम्मान अपमानका ख्याल रह सकता है। यह मैं हू, यह मेरी पोजीशन है, यह राग चल सकता है और राग भी यह मिटे तो मिटते-मिटते अतमें भी कोई अपने परिणमनसे सम्बन्धित कुछ राग रह जाता है।

राग आगके बुझानेका उपाय— यह राग आग है, इस राग आगने इन समस्त ससारी जीवोंको झुलसा रखा है। इस रागरूपी आगकी ज्वालासे बचानेमें समर्थ हैं तो सम्यग्ज्ञानके मेघ समर्थ हैं। सम्यग्ज्ञानके मेघकी वर्षा हो तो यह राग आग शात हो सकती है। वनमें लगी हुई आगको घड़ोंसे पानी भर-भर कर बुझायें तो आग नहीं बुझ सकती है और घडोंकी तो बात क्या कहें, ये म्युनिसिपल्टीके फायर विभागकी मोटरें भी चली जायें तो भी नहीं बुझा सकतीं। वनमें लगी हुई आगको बुझानेमें मेघ समर्थ हैं। पानी बरस जाय तो वह आग बुझ जायेगी। इसी तरह इस रागकी आगको बुझाने के लिये अथवा राग आगकी जो जलन उठी है इस जलनको कम करनेके लिए न तो मित्र लोग समर्थ हैं न अन्य कोई उपाय समर्थ है। एक सम्यग्ज्ञानकी झलक हो, यहा तो मैं पूराका पूरा ज्ञानस्वरूप मात्र सुरक्षित हू, उसकी झलक आए तो यह राग आग बुझ सकती है। ज्ञानमेघ ही राग आगको बुझानेमें समर्थ हैं।

ज्ञानस्वरूपमें सर्वसंयममार्गणा स्थानोंका अभाव— ज्ञानमें भला ज्ञान वही है जो ज्ञान ज्ञानके स्वभावका ज्ञान करता हो, उससे उत्कृष्ट ज्ञान अन्य कुछ नहीं है। उस ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे परखे हुए इस जीवको

दीवालें ढा दी जाती हैं, तब यह योगी सबमें समान बन करके स्वयंमें ही एकरस हो जाता है। यही तो कारण है कि उसके प्रसन्नता बनी रहती है।

स्वतन्त्रताका आदर— भैया ! परिवाहरके लोगों पर अथवा समाज के लोगों पर अपना शासन रखते हुएमें इस कारण बेचैनी हो जाती है कि इसने यह नीति अपनायी है कि मान न मान, मैं तेरा महिमान। यदि सब विवेकसे काम लें, अपनी स्वतन्त्रताका मान करें, दूसरेकी स्वतन्त्रताका आदर करें तो यह जीव व्याकुल नहीं हो सकता। एक चैतन्यशक्तिमात्र आत्मतत्त्वको जानकर इस ही निजस्वरूपमें मग्न होकर ऊपर चलने वाले, सारे विश्वके ऊपर चलने वाले इस अनन्तपरमात्मतत्त्वका चयन करो। जैसे चरने वाले पशु घास चर तो लेते हैं, पर उनकी जड़ नहीं उखाड़ा करते हैं। ऐसे ही यह प्रभुवर इस सारे विश्वके ऊपर चलता तो रहता है अर्थात् समस्त विश्वको जानता तो रहता है, परन्तु किसी वस्तुका स्वरूप नहीं मिटा देता। उनके और अपने सत्त्वमें संकरता नहीं ला देता। प्रभुकी ही क्या जगत्के सभी जीवोंकी ऐसी प्रकृति है। त्याग परका कोई नहीं कर सकता, किसीको कोई ग्रहण नहीं कर सकता। किसीका स्वरूप अपने स्वरूपरूप कोई न कर सकेगा। ऐसे स्वतन्त्र चैतन्य सत्तामात्र निजआत्मतत्त्व में विश्राम करो।

आत्मप्रस्तर— देखो यह मेरा जीव उतना ही है, जितना कि चैतन्य शक्तिरूप व्याप रहा है। मैं कहीं बाहर नहीं हू, मैं अपने स्वरूप और अपने स्वरूप और अपने प्रदेशमें ही हू। इस चैतन्यशक्तिभावके अतिरिक्त जितने भी भाव हैं, वे सर्वभाव पौद्गलिक हैं। उपाधिकी अपेक्षा करके प्रकट हुए हैं। मैं औपाधिक भावरूप नहीं हूं, मायामय इन्द्रजाल नहीं हू— ऐसी सर्व ओरसे दृष्टि हटाकर अपने आपके ज्ञायकस्वरूपमें अपनेको लीन करो। जो पुरुष 'निरन्तर इस अखण्ड ज्ञानस्वभावरूप मैं हू' ऐसी भावना किया करता है, वह पुरुष इस समस्त संसारके मायामय-विकल्पों और विपदाओंको प्राप्त नहीं होता।

निरापद्स्वरूप— भैया ! जरा दु:खोंको बटोरकर सामने तो रखो, कितने दु:ख हुआ करते हैं ? धन न रहा, परिवारके इष्टजन न रहे अथवा जो-जो कुछ भी बाधाएं जगत्में मानी जाती हों, शत्रु लोग मेरी ओर बड़ी निगाह किए हुए हैं, सोच लो कितनी विपदाएं हो सकती हैं ? इन सबका ढेर अपने सामने लगा लो और अब जरा अपने भीतर आकर यह देखो कि यह तो मैं आकाशवत्, अमूर्त, निर्लेप, ज्ञानमात्र, सबसे निराला, किसी

उसे तो मुखमें डालो और समझ जावो कि कैसी है मिठाई ? इसही प्रकार आत्माको समझाने वाले, दिखाने वाले कोई शब्द नहीं होते हैं, उसे तो ज्ञानद्वारसे जानते हुए समझ जावो कि मैं कैसा हू ? मिठाई खाये हुए पुरुषको मिठाईके खानेका वर्णन सुनाया जाय तो उसकी समझमें आता है, अपरिचितको सुनावो तो उसकी समझमें नहीं आता है। ऐसे ही जो शास्त्रोंमें आत्माके शब्द हैं वे हम आपकी समझमें आ रहे हैं क्योंकि कुछ कुछ आत्माके निकट परिचयमें रहा करते हैं, इस लिए उनका अर्थ हम जल्दी जान जाते हैं। ऐसे उस शुद्ध अतस्तत्त्वमें सयममार्गणाके स्थान भी नहीं हैं।

अन्तस्तत्त्वकी सयममार्गणा स्थानोंसे विविक्तता— सयममार्गणामें सयमके अलावा, असयम, सयमासयम व तीनोंसे रहित भी लेना। क्यों कि खोज है ना तो खोजमें विपरीत बात भी कही जाती है, तो सयम-मार्गणामें सयम लेना और सयमासयम लेना तथा जहां व्रत नहीं है, व्रत का परिणाम ही नहीं है वह है असयम। यह भी सयममार्गणाके भेदस्थानमें है। जैसे मनमाना खाना, फिरना, उद्योग करना, यहा कुछ भी सयम नहीं है। मध्यकी अवस्था सयमासंयम है सो ये ७ हुए, किन्तु प्रभुको क्या बताए ? क्या प्रभु सयम पालता है ? नहीं। तो क्या असयममें रहता है ? नहीं। तो क्या सयमासयममें है ? नहीं। वह स्वच्छ ज्ञानानन्द स्वभावका अनुभवन करने वाला सर्वपदार्थोंसे बाहर है। ऐसी बाहर वाली स्थिति भी इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूपमें नहीं है, फिर अन्य सयम और असयमकी तो चर्चा ही क्या करें ? ऐसे निर्लेप आकाशवत् अमूर्त इस अतस्तत्त्वमें सयममार्गणाका स्थान नहीं है।

आत्मतत्त्वमें दर्शनमार्गणास्थानोंका अभाव— इसी प्रकार इस शुद्ध जीवास्तिकायमें दर्शनमार्गणाका स्थान नहीं है। दर्शन कहते हैं जाननेकी शक्तिको प्रबल बनानेको। आखोंसे देखनेका नाम दर्शन नहीं है। आखोंसे जो समझमें आता है वह सब ज्ञान है। जैसे कान द्वारा ज्ञान, नाक द्वारा भी ज्ञान, रसना द्वारा भी ज्ञान, छूकर भी ज्ञान, इसी तरह आखों द्वारा भी ज्ञान हुआ करता है। इसका नाम दर्शन नहीं है। इन्द्रिय द्वारा जो ज्ञान होता है, नया ज्ञान होता है, उस नये ज्ञानके होने से पहिले जो एक आत्मस्पर्श होता है जिससे नये ज्ञानके उत्पन्न करनेकी शक्ति प्रबल है, उस आत्मस्पर्शको कहते हैं दर्शन।

अन्तस्तत्त्वकी दर्शनभेदसे विविक्तता— प्रभुमें दर्शन और ज्ञान एक होती साथ है, क्योंकि वहा अनन्तशक्तिया मौजूद हैं। जहां अनन्त शक्ति

सम्पदाके जोड़नेमें उसको रुचि लगी रहती है, ऐसा परिणाम नीललेश्यामें होता है।

कापोतलेश्याके चिह्न— तीसरी है कापोतलेश्या। यह भी अशुभ है किन्तु नीललेश्यासे कुछ कम क्रूरता है, पर है क्रूर ही आशय। कापोत किसी कबूतरका जैसा चितकबरा है। कौवा जैसा काला नहीं अथवा पीला, नीला नहीं है, कुछ काला, नीला चितकबरा रंग रहता है। ऐसे कापोतकी तरह चितकबरा क्रूर नाना प्रकारके परिणामों वाला कापोत लेश्याका जीव होता है। यह रूठ जाता है, दूसरोंकी निन्दा करता है, दूसरोंके दूषण गिनता है। शोक और भय आदि करनेकी उसकी प्रकृति रहती है। दूसरोंकी ईर्ष्या करता है। कोई मुझसे बढ़ा चढ़ा न हो जाय, ऐसा उसका परिणाम रहता है। धनमें, प्रतिष्ठामें, अधिकारमें, विद्यामें कोई मुझसे बढ़ा न हो, जो बढ़ता हो उससे ईर्ष्याभाव रखे और इतना ही नहीं, दूसरोंके अपमानका यत्न करता है, अपनी प्रशंसा करता रहता है। कोई सुने या न सुने, पर मैं ऐसा हूं, मैं ऐसा हूं, मेरे बाप ऐसे थे, मेरे पड़ बाबा ने यह किया। मैं मैं मेरा मेरा ही सदा जाहिर किया करता है, दूसरोंकी ईर्ष्या करे इतना ही नहीं है किन्तु अपनी प्रशंसा भी अपने ही मुखसे किया करता है। ऐसी ही कापोतलेश्याके परिणाम वाले जीवकी दशाएं हैं। किसी दूसरेका विश्वास नहीं करता। किसीके मामलेमें व्यवहारमें, धरोहर में, किसी भी वायदेमें अथवा यह मेरा भला ही भला सोचेगा, ऐसा किसीके प्रति कापोतलेश्या वाले जीवको विश्वास नहीं रहता है।

कापोतलेश्या वाला जीव खुद दूसरोंके लिए अविश्वसनीय है। किसीको भी मौका पड़ने पर वह दगा देता है, तो ऐसा ही वह दुनियाको देखता है। इस कारण किसी दूसरे पर उसका विश्वास नहीं जमता। यह कापोतलेश्या परिणाम वाला जीव अपनी प्रशंसा स्तुतिका अधिक रुचिया होता है तब तो यह अशुभ लेश्या है। यह रणमें अपना मरण तक भी चाहता है न. मेरा देशमें नाम हो जायेगा, मैं शहीद कहलाऊंगा। इस परिणामसे रणमें मरण तककी भी चाह करता है। उसकी अगर स्तुति करो तो वह मनमाना धन भी दे देता है। होते हैं कितने ही लोग ऐसे। कोई बड़ी सभाएं लगायें, जलूस निकलवायें तो वह लाख दो लाख रुपये दानमें दे देता है। तो कापोत लेश्याका ऐसा परिणाम होता है कि गुण दृष्टि बिना मात्र प्रशंसासे खुश होकर मनमाना धन भी दे दिया करते हैं। क्या करने योग्य है, क्या करने योग्य नहीं है ऐसा विवेक अन्तरमें नहीं रहता, ऐसा ही अशुभ परिणाम कापोतलेश्यावाले जीवके होता है। ये

आया कि जड़से काटकर क्यों फेंको, जहांसे शाखाएं हैं उसके ऊपरसे काट लें तो शाखायें गिर जायेंगी। फिर खूब मनमाना फल खायेंगे। दूसरेके मन में आया कि सारी शाखायें गिरानेसे क्या फायदा है? कोई एक शाखा गिरा लें उससे ही पेट भर जायेगा। चौथेके मनमें आया कि बड़ी शाखाएं क्यों गिरायें? छोटी टहनी ही तोड़ले फिर खूब खाए। पांचवेंके मनमें आया कि टहनिया ही क्यों तोडें ऊपर चढ़कर जो पके-पके आम होंगे उन्हें तोड़कर खा लेंगे। छठे के मनमें आया कि नीचे ही तो इतने बढ़िया सरस आम पड़े हुए हैं, क्यों पेड़ पर चढ़ें? इन्हें ही खाकर पेट भरें। तो जैसे उन ६ आदमियोंके आशयमें क्रूरता और विशुद्धता थी, इसी प्रकार चढ़ाव और उतारके साथ इन ६ प्रकारकी लेश्याओंके परिणाम होते हैं।

कृष्णलेश्याके चिह्न— जिस जीवके कृष्ण लेश्या होती है वह अत्यन्त प्रचंड क्रोधी होता है, यह उसकी पहिचान है। मनुष्य हो अथवा अन्य कोई हो। जिसके ऐसा परिणाम हो उसके कृष्णलेश्या है। यह कृष्णलेश्या वाला जीव वैर जीवनमें नहीं छोड़ता है, और कितने ही तो मरकर भी दूसरे भवमें बदला लेते हैं। तो वैर न छोड़नेका परिणाम कृष्णलेश्यामें होता है। यह जीव इतना मनचला उद्दण्ड होता है कि इसके वचन कभी प्रिय निकलते ही नहीं हैं। मर्मभेदी वचन निकलते हैं, खोटी गाली गलौज देकर निकलते हैं। इसके हृदयमें न धर्मका परिणाम है, न दयाका परिणाम है। जितने हिंसा कर्म करने वाले हैं और जीवोंको व्यर्थ ही सताने वाले हैं उनके मनमें दया भाव कहा है? कृष्णलेश्याका ऐसा ही तो परिणाम होता है। वह अत्यन्त दुष्ट होता है, उससे किसी की भलाई नहीं होती है। किसी कारण वह कुछ रूपक भी नेतागिरीका, धर्मात्मा बननेका, बड़ा परोपकार जाहिर करनेका नाटक रचे तब भी उसका जीवन कभी न कभी अतिनिकटमें दूसरोंका अनर्थकारी ही होगा। यह मौका पाकर धोखा देने से नहीं चूकता। ऐसा अत्यन्त क्रूरपरिणाम कृष्णलेश्याका होता है।

नीललेश्याके चिह्न— नील लेश्यामें कुछ तो कृष्णलेश्यासे कम हुआ। पर यह भी अशुभ लेश्या है। यह नीललेश्या वाला जीव ज्ञानहीन होता है, बुद्धि प्रतिभा नहीं होती है। प्रत्येक कार्यमें, उपकारमें मंद रहता है, विषयोंका लोलुपी होता है। उसे खानेसे मतलब है दूसरेकी परवाह नहीं। अपने आरामसे मतलब दूसरेका कुछ हो अपना ही अपना तकता है, ऐसा खुदगर्ज है नीललेश्याके परिणाम वाला जीव। अहंकार और मायाचार भी इसमें तीव्र बसा रहता है। आलसी होता है, दूसरोंको ठगने में चतुर, दूसरोंकी निन्दा करनेकी प्रकृति रहती है। धन धान्य वैभव

साधु और गुरुजनोंके बीचमें सत्सगमें लवलीन बहुत विशुद्धिकी ओर बढ़ने वाला यह पद्मलेश्या वाला जीव होता है।

शुक्ललेश्याके चिह्न - अन्तिम लेश्या है अत्यन्त विशुद्ध परिणाम वाली शुक्ललेश्या। इसके चित्तमें कोई पक्ष नहीं होता है, यह भोगकी भी आकांक्षाएं नहीं करता, निदान बन्ध इसके नहीं है। सब जीवोंमें इसका समान परिणाम है। रागद्वेष, स्नेह सब शुक्ललेश्या वाले जीवके नहीं होते हैं। इन ६ लेश्याओंसे संसारके जीव दबे हुए हैं।

लेश्यामार्गणास्थानोंके अधिकारी-- नारकीजीवोंमें पहिली ३ खोटी लेश्याएं होती हैं। देवोंमें अन्तकी तीन शुभ लेश्याएं होती हैं। कदाचित् जो खोटे देव हैं--यक्ष, राक्षस आदिक, भवन व्यन्तर, ज्योतिषी आदिके अपर्याप्त अवस्थामें अशुभलेश्या भी हो सकती है। तिर्यंचोंमें ६ प्रकारकी लेश्या होती हैं, किन्तु एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय तथा असञ्ज्ञीपञ्चेन्द्रियके जीवोंके तीन अशुभलेश्याएं ही हो सकती हैं। मनुष्यके छहों लेश्याएं हैं। इसके अतिरिक्त कोई जीव ऐसे भी हैं, जिनके छहों लेश्याएं नहीं हैं, वे हैं भगवान्।

शुद्धजीवास्तिकायमें लेश्यामार्गणास्थानोंका अभाव— भैया! लेश्या परिणामका होना अथवा लेश्यापरिणामका न होना आदि प्रकारके भेदरूप जो लेश्यामार्गणाके स्थान हैं--ये स्थान इस ब्रह्मस्वरूपमें नहीं होते। अपने आपके सहजसत्त्वके कारण जो स्वभाव बना हुआ है, वह स्वभावलेश्याओं के विकल्पसे परे है। वह तो शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावमात्र है। लेश्यामार्गणा स्थान इस शुद्ध जीवास्तिकायमें नहीं होते।

भव्यत्वमार्गणाके भेद-- अब अगली खोज चल रही है भव्यत्वमार्गणा द्वारसे। कोई जीव भव्य होता है, कोई अभव्य होता है और कोई न भव्य होता है, न अभव्य होता है, दोनों विकल्पोंसे परे है। भव्य उन्हें कहते हैं, जिनका भविष्य बहुत उत्कृष्ट होनेको है अर्थात् सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्ररूप परिणाम जिसका हो सकता है— ऐसी शक्ति है। हो न हो, पर यह नियम है कि व्यक्त होनेकी जिनमें योग्यता है, उन्हें तो कहते हैं भव्यजीव। जिनमें रत्नत्रयका परिणमन व्यक्त होनेकी योग्यता ही नहीं है, उन्हें कहते हैं अभव्य जीव। पर सिद्धभगवान् न भव्य हैं और न अभव्य है। जैसे १० वीं क्लास पास हुए बच्चेको कोई यह कहे कि इसमें ८ वीं, ९ वीं, १० वीं कक्षाकी योग्यता है तो वह कहना व्यर्थ है, क्योंकि वह तो उत्तीर्ण हो चुका है। जिसका मोक्ष हो गया है, रत्नत्रयका चरमविकास हो गया है, उसके सम्बन्धमें यह ऐसा हो सकता है, यह कहना ठीक

तीन अशुभ लेश्याएं हैं।

पीतलेश्याके चिह्न— अब पीतलेश्याका परिणाम निरखो। यह शुभ लेश्या है। पीतलेश्या वाला जीव यह करने योग्य है, यह नहीं करने योग्य है इसको भली प्रकार जानता है। जब उस कापोतलेश्या वाले जीव को अपनी कषायोंके कारण यह विवेक नहीं रहा कि क्या करना योग्य है क्या न करना योग्य है? जो करनेमें आया सो कर डाला, किन्तु यह पीत लेश्या वाला जीव विशुद्ध परिणामोंकी ओर है। क्या अपनेको सेवन करना चाहिए, क्या न सेवन करना चाहिए? इसकी पहिचान रखता है, सब जीवोंको समानतासे निरखता चलता है। कोई ऐसा कार्य नहीं करता, जिसमें व्यक्त पक्ष जाहिर हो, सबको समान भावोंसे देखता है, दया और दानमें इसकी प्रीति होती है। पीतलेश्या वालेका परिणाम बताया जा रहा है। जीवोंके प्रति उसे दयाभाव होता है। किसीको भूखा, प्यासा या किसी विपत्तिसे सताया देखे तो जहां तक शक्ति चलती है, उसका उद्यम रहता है कि इसका क्लेश दूर हो। धन जोड़ने, सचय करनेकी वृत्ति नहीं होती है। यह दूसरोंसे इज्जत नहीं चाहता है, वह स्वयं सुखी रहता है, दूसरोंको भी सुखी रखनेकी सोचता है। यह ज्ञानी पुरुष समझता है कि जैसे कुवेसे यह पानी आता है और कितना ही पानी निकलता है, फिर भी कम नहीं होता है, इसी प्रकार इस चंचला लक्ष्मीकी बात है। काममें लिया जाए, दूसरोंके उपकारमें लगाया जाए तो उससे वैभवमें कमी नहीं आती। भले परिणाम से बांधे हुए पुण्यके उदयमें यह वैभव मिला है तो इस वैभवको उपकारमें, भले कार्योंमें लगाओ तो वैभव घटेगा नहीं। भले ही किसीके पूर्वकृत तीव्र पापोंका उदय आया हो कि घट भी जाए यह सब वैभव, मगर ये सब शुभ परिणाम और दया तथा दान समस्त वैभवको घटानेके कारणभूत नहीं हैं, ऐसा दया और दानका जिसका स्वभाव पड़ा हुआ हो, वह पीतलेश्या वाला ज्ञानी होता है।

पद्मलेश्याके चिह्न— ५ वीं लेश्या है पद्मलेश्या। पद्म कहते हैं कमल को। जैसे कमलमें सैकड़ों पत्ते होते हैं—ऐसा कोई विशिष्ट जातिका कमल देखा होगा, उसका रंग पूर्ण सफेद तो नहीं होता, पूरा पीला भी तो नहीं होता, किन्तु ऐसा होता है कि मानों अब जरासी देरमें यह पूरा ही सफेद हो जाने वाला है। इस तरहकी विचित्र सफेदीको लिए हुए पद्म होता है। ऐसे ही रगसे उपमा दी गई है पद्मलेश्या वाले जीवकी। पद्मलेश्या वाला जीव त्यागवृत्ति वाला होता है कल्याणस्वरूप भद्र। किसीको छल व धोखा उससे पहुंच ही नहीं सकता। वह अपने कर्मोंमें सावधान रहता है।

जाती है, जिससे सम्यक्त्व नहीं बिगडता है, नष्ट नहीं होता है, मगर उसमें कुछ सूक्ष्म दोप रहते हैं। ऐसी दशाको कहते हैं सम्यक्प्रकृतिके विपाक वाली दशा। यों वह सम्यक् प्रकृतिवाली दशा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें शामिल हो जाती है। छठवीं दशा एक ऐसी है कि सम्यक्त्व तो छूट गया और मिथ्यात्वमे न आ पाया इसका नाम है सासादनसम्यक्त्व। सम्यक्त्व मार्गणासे ये ६ भावस्थान जुडे रहते हैं—क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व सम्यक्मिथ्यात्व और मासादन। ये ६ प्रकारके स्थान हैं। इनमें कुछ भले हैं, कुछ बुरे हैं फिर भी हैं जीवकी दशाएँ। ये छहो प्रकारके सम्यक्त्व मार्गणास्थान इस शुद्ध ब्रह्मस्वरूपमें नहीं हैं। ये तो चैतन्यस्वभाव रूप हैं।

शुद्ध जीवास्तिकायमे संज्ञित्वमार्गणास्थानोंका अभाव— एक खोज है सञ्ज्ञित्वमार्गणाकी। कोई जीव सञ्ज्ञी है, कोई असञ्ज्ञी है और कोई ऐसे हैं कि न सञ्ज्ञी कहलाते हैं और न असञ्ज्ञी कहलाते हैं। संज्ञी जीव उन्हें कहते हैं जिनके मन हो। संज्ञी जीव नियमसे पचेन्द्रिय ही होते हैं। चार इन्द्रिय या और कम इन्द्रिय वाले जीवोंमे मन नहीं पाया जाता है। जिसके मन हो उसे सञ्ज्ञी कहते हैं। मनका अर्थ है जिस शक्तिके द्वारा यह हित और अहितका निर्णय कर सके, हितकी शिक्षा ग्रहण कर सके, अहित की बात छोड़ सके--ऐसा जहां विवेक पाया जाय उसे कहते हैं मन। एकेन्द्रियसे लेकर चारइन्द्रिय तकके जीव सभी असंज्ञी होते हैं और पचेन्द्रियमें से कोई तिर्यञ्च पचेन्द्रिय बिरले ही असञ्ज्ञी हो सकते हैं। शेष ... तिर्यञ्च, समस्त मनुष्य और सभी देव ये सञ्ज्ञी जीव होते हैं, किन्तु ...चाहे वह सशरीर परमात्मा हो अथवा अशरीर परमात्मा हो ... न सञ्ज्ञी कहा, न असञ्ज्ञी कहा। वे संज्ञी तो यों नहीं हैं कि उनके ... ज्ञान है, अब मनसे कार्य नहीं होता। असंज्ञी यों नहीं कि वे अविवेकी ... ये तीनों प्रकारके मार्गणास्थान इस शुद्ध ब्रह्मस्वरूपमें नहीं हैं। ऐसे ... भावके अधिकारमें जीवके शुद्धस्वरूपकी पहिचान करायी जा ...

...हारकमार्गणा— मार्गणावोंमें अंतिम मार्गणा है आहारकमार्गणा ... अर्थ है आहार करने वाला, पर भोजनका आहार करने वाला ... शरीरवर्गणा का आहार करने वाला। कोई उपवास करे तो ... हैं कि यह इस समय अनाहारक है, आहार नहीं करता है। ... तो मरने के बाद जन्म स्थान पर नहीं पहुचता उस बीच ... है। इस समय चारों ओरसे आहार ही आहार किए जा रहे

नहीं बैठता ।

भव्यत्वमार्गणास्थानोंका विवरण व उनका जीवस्वरूपमें अभाव—भव्य जीव भी दो प्रकारके होते हैं—एक ऐसे जो कभी भी मोक्षमें नहीं जा सकेंगे, फिर भी भव्य कहलाते हैं। उनमें रत्नत्रयके व्यक्त होनेकी योग्यता ही नहीं है और जो निकटमे जायेंगे, वे तो हैं ही भव्य। अभव्य वे कहलाते हैं, जिनमे रत्नत्रय प्रकट होनेकी योग्यता ही नहीं है। इस प्रकारसे इस ससारी जीवको तीन शक्लोंमें देखो—दूरातिदूरभव्य, निकटभव्य और अभव्य। जैसे वन्ध्या स्त्री होती है तो उसके पुत्र होनेकी योग्यता ही नहीं है। यों समझ लीजिए कि अभव्यको, जिसमें रत्नत्रयकी योग्यता ही नहीं है। हालाकि वन्ध्या स्त्रीमें ऐसी बात नहीं है कि पुत्र होनेकी योग्यता नहीं है अन्यथा वह स्त्री स्त्री ही न कहलायेगी, पर उसमें पुत्र प्रकट होनेकी योग्यता नहीं है और एक सुशील, विधवा महिलामे पुत्रत्वकी योग्यता है, किन्तु वह सुशील है, ब्रह्मचारिणी है, उसके पुत्र होगा ही नहीं। योग्यता तो अवश्य है, और एक साधारण महिला जिसके पुत्र होंगे। जैसे एक मूग होती है कि उसे घण्टों पानीमे भिगोये रहो, पर वह पत्थर जैसी ही रहती है। यह भी आखो देखी बात है। इसी प्रकार अभव्य जीव हैं कि कितना ही समागम मिले, कितने ही उसके साधन जुटें, फिर भी वह सीझता नहीं है। सीझनेका ही नाम सिद्ध है। यह खिचड़ी सिद्ध हो गइ, चावल सिद्ध हो गए अर्थात् पक गए, यों ही आत्मा सिद्ध हो गया अर्थात् पक गया, चरमविकासको प्राप्त हो गया। ऐसे ये भव्यमार्गणाके स्थान हैं। इस तरह जीवोंकी मार्गणाए पहिचानी जाती हैं, किन्तु ये स्वय आत्मस्वरूप नहीं हैं। आत्मा तो ज्ञानानन्दघन सहजचैतन्य ज्योतिस्वरूप है।

सम्यक्त्वमार्गणाके भेदस्थानोंका जीवस्वभावमें अभाव— इसके बाद सम्यक्त्वमार्गणा द्वारा जीवोंकी खोज चल रही है। सम्यक्त्व कहते हैं सम्यग्दर्शन होनेको। आत्माका जैसा सहजस्वभाव है, ज्ञानानन्दमात्र अक्षुब्ध निराकुल अनन्तआनन्दरसकरि परिपूर्ण जो आत्मस्वभाव है, उस आत्मस्वभावका परिचय होना, अनुभवन होना, रस आ जाना आदि सब कहलाता है सम्यग्दर्शन। यह सम्यग्दर्शन उत्पत्तिके निमित्तके भेदसे तीन प्रकारका है—क्षायिकसम्यक्त्व, औपशमिकसम्यक्त्व और क्षायोपशमिकसम्यक्त्व। जहा सम्यक्त्व रञ्च नहीं है, उसे कहते हैं मिथ्यात्व। जहा सम्यक्त्व और मिथ्यात्वकी मिश्रित दशा है, उसे कहते हैं सम्यग्मिथ्यात्व। मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व मिट जाने पर भी थोड़ी जो भी कसर रह

हैं। पैरसे आहार कर रहे हैं, पेट, पीठ हाथ सब ओरसे शरीरवर्गणा, आती है। यह शरीरवर्गणाका आहारक है। आहारक आहारवर्गणाको ग्रहण करने वालेका नाम है और जो आहारवर्गणाका ग्रहण नहीं कर रहा है उसका नाम अनाहारक है। मरणके पश्चात् जो जीव सीधी दिशामें सीधी पंक्तिमें जन्मस्थान पर पहुचता है, तो वह अनाहारक नहीं होता है। किन्तु मोड लेकर जाना पडे, इस तरह विग्रहगति होती है तो वहा अनाहारक होता है। प्रतरलोकपूरणसमुद्घातमें भी जीव अनाहारक होता है।

गगनश्रेणियां और विग्रहगतिके मोड— इस आकाशमें ऊपरसे नीचे, पूर्वसे पश्चिम, उत्तरसे दक्षिण प्रदेशप्रमाण मोटी पंक्तिया हैं, श्रेणिया हैं। जैसे जिस पर नक्शा बनाया जाता है ऐसा कोई मोटा कार्ड आता है तो उसमे बारीक-बारीक ऊपरसे नीचे, अगलसे बगल ठीक सीधमें लकीरें रहा करती हैं। इस आकाशमें स्वभावत. ऐसी श्रेणिया हैं। कोई जीव पूरबसे मरकर उत्तरमें उत्पन्न होता है तो सीधा विदिशामें न जायेगा। पहिले वह उत्तरकी सीध तक पश्चिमकी ओर जायेगा, फिर मुड़कर उत्तरमें जायेगा। तो वहा उसे एक मोड़ लग जाता है ऐसे-ऐसे इस जगत्में तीन मोड़ ही हो सकते हैं।

शुद्धजीवास्तिकायके आहारकत्व व अनाहारकत्वके स्थानोंका अभाव मोड़सहित गमन करने वाले जीवकी अनाहारक अवस्था होती है। वहा उन वर्गणावोंका ग्रहण नहीं है। पूर्व शरीरका त्याग कर दिया अन्य शरीरके स्थान पर अभी पहुचा नहीं है ऐसे बीचके पथमें अनाहारक अवस्था होती है। दूसरी अनाहारक अवस्था होती है केवल समुद्घातमें। जब लोकपूरण समुद्घात आता है उस समय उससे पहिलेकी प्रतर अवस्थामें व बादकी प्रतर अवस्थामें और बीचके लोकपूरणकी स्थितिमें अनाहारक होता है। वहा भी तीन समय अनाहारक रहता है। बाकी तो सभी ससारी जीव आहारक रहा करते हैं। चौदहवां गुणस्थान ही एक ऐसा गुणस्थान है जिसमें पूरे काल अनाहारक रहता है और सिद्ध भगवान् तो अनन्तकाल तक अनाहारक होते हैं। आहारक मार्गणाके ये स्थान भी इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वमें नहीं हैं।

इस ग्रन्थका लक्ष्य— इस ग्रन्थमे प्रारम्भसे लेकर अत तक केवल एकदृष्टि रखी गयी है जीवके शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी। उसका ही आलम्बन मोक्षमार्ग है, उसके ही आलम्बनमे रत्नत्रय है। उसका ही अवलम्बन वास्तविक धर्म है। ऐसे उस शुद्ध ज्ञायकस्वरूपको आत्मा माना है। इस

आत्मामें ये कोई विकार भाव नहीं हैं, यह सब देखा जा सकेगा शुद्ध-निश्चयनयके बलसे। केवल आत्माको आत्माके स्वत्वके कारण आत्माका जो शाश्वत स्वभाव है उस स्वभावमात्र आत्माको आत्मा मानकर फिर यह समझना कि इस मुझ आत्मामें जीवस्थान, मार्गणास्थान, क्षायिक-भावस्थान, अन्यभावस्थान आदिक कुछ नहीं हैं। ऐसे समस्त परभावोंसे परे औदायिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक भावसे परे इस परमार्थभूत ज्ञायकस्वभावी जीवमें ये कोई अनात्मतत्त्व नहीं हैं।

अमोघ शरण— हे भव्य जीव ! एक इस चैतन्यशक्तिके अतिरिक्त समस्त परभावोंको छोड़कर चैतन्य शक्तिमात्र प्रतिभासस्वरूप इस आत्मतत्त्वको ही स्पष्ट रूपसे ग्रहण करो। यह उपयोग कहा रमाया जाय कि इसे शरण प्राप्त हो, सकट दूर हों, इस खोजमें छान तो डालिए दुनियां, क्या उत्तर मिलता है ? परिजनके सगसे क्या इसे शांति मिलती है ? यदि कोई परिवारका सदस्य मनके बहुत अनुकूल चलता है तो उसमें यह गर्व हो जाता है कि मैं मालिक हू और यह मेरे आधीन है। इस भावके कारण फिर रंच भी मनके प्रतिकूल कुछ चेष्टा पायी गयी तो वहा इतनी बड़ी अशांति मान लेता है यह व्यामोही जीव कि जितनी अशांति गैर परिवारके लोगोंके द्वारा अनेक अपमान या अनेक प्रतिकूलता की जाने पर भी नहीं मानता। जब तक उपादानमें निर्मलता नहीं जगायी जाती है तब तक इस जीवको कहीं शांति नहीं है।

उपादानके अनुकूल चमत्कार— जैसे मलको सोनेके घड़ेमें भर देनेसे क्या उसकी बदबू दूर हो जायेगी ? उसमें तो गदगी और बदबूकी एक प्रकृति ही पड़ी हुई है। ऐसे ही अज्ञानग्रस्त पर्यायमुग्ध इस आत्माके देहको या बाह्य वातावरणको कितने ही अच्छे श्रृङ्गारोंसे सजाया जाय तो क्या यह दुःख मिटकर सुख शांति हो सकती है ? स्वयंमें ही ज्ञान जगाना होगा, दूसरे जीवोंकी स्वतन्त्रताका आदर करना होगा। तब परस्परका ऐसा सुन्दर व्यवहार बन सकता है कि अधिक विह्वलता न होगी। जहां अपने को खुद ही अहंकारी बनाया जा रहा है, कुछ सत्त्व ही नहीं सोचा जाता है वहा इसको चैन नहीं होती है। बड़े योगी पुरुष क्यों सदा निराकुल रहते हैं और अपने आपमें प्रसन्न रहा करते हैं, वे अपने ही स्वरूपके समान सर्व जीवोंका स्वरूप जानकर सबमें एक रस बन गए हैं, उन्होंने व्यक्तित्वके दरवाजे तोड दिये हैं। हालांकि आवांतर सत्त्व कभी मिटता नहीं है। सत्त्व तो वही वास्तविक है पर स्वरूपदृष्टिसे समझे गये सामान्य जातिरूप चैतन्यस्वभावकी ऐसी दृढ़तर दृष्टि बनी है कि इस दृष्टिमें व्यक्तित्वकी

प्रकट नहीं है ऐसे जीवमें पहिले दर्शन होता है फिर ज्ञान होता है, फिर उस ज्ञानके बाद जब नया ज्ञान होगा, तब फिर दर्शन होगा, फिर नया ज्ञान होगा। तो ऐसा आत्मप्रकाशक, आत्मप्रतिभासमात्र दर्शन है, दर्शनके उपचारके अनेक स्थान हैं, चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन। केवलदर्शन प्रभुके होता है। संसारी जीवोंके यथा योग्य दर्शन होता है। इस शुद्ध सहज स्वभावमय आत्मब्रह्म में दर्शनमार्गणाके भी कोई स्थान नहीं है।

ज्ञानस्वरूपभावना— इस प्रकार इस मार्गणास्थानके निषेधके प्रकरण में निषेधके उपाय द्वारा जीवतत्त्वका वर्णन किया जा रहा है और शुद्धभाव को बनाया जा रहा है कि यह मैं शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हूं। किसीका ताऊ, किसीका बाबा, किसीका बहनोई, किसीका साला ये तो बहुत दूरकी बातें हैं। जब मैं मनुष्य भी नहीं हूं तो उनकी तो कहानी ही क्या है? मैं तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूं।

लेश्यामार्गणा— अब जीवके अंतरङ्ग परिणामोंकी पहिचान लेश्यामार्गणा द्वारा करायी जाती है। कषायसे अनुरंजित प्रदेश परिस्पदवृत्तिको लेश्या कहते हैं। ये लेश्याएँ ६ प्रकारकी हैं—कृष्णलेश्या, नीललेश्या कापोतलेश्या, पीत लेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ल लेश्या। इनके नाम ऐसे रंगोंपर रखे गए हैं जिन रंगोंसे यह शीघ्र विदित हो जाता है कि इनका परिणाम अधिक खोटा है, इनका परिणाम खोटा कम है, इनका और कम है, इनका भला है। काला, नीला, चितकबरा, पीला, पद्म और सफेद इन रंगोंके नामसे ही यह जाहिर हो जाता है कि सबसे खोटा परिणाम कृष्ण लेश्यामें है और उत्तरोत्तर खोटा कम रह जाता है। पीत लेश्या एक विशुद्ध परिणाम है और उसके बाद उत्तरोत्तर विशुद्धि बढ़ती जाती है। इसी कारण पहिली तीन लेश्यावोंको अशुभलेश्या कहते हैं और अतकी तीन लेश्यावोंको शुभलेश्या कहते हैं।

दृष्टान्तपूर्वक लेश्यापरिणामोंकी तीव्रता व मंदताका निरूपण— जिस जीवके कृष्णलेश्या होती है उसका अत्यन्त दुष्ट परिणाम होता है आगे आगे कम क्रूर हो जाता है। शुभमें उत्तरोत्तर विशुद्धपरिणाम होता है। इन ६ लेश्यावोंके परिणाम बताने के लिए एक वृक्ष चित्र बताया है। ६ आदमी किसी गांवको जा रहे थे। रास्तेमें एक फला हुआ आमका पेड़ मिला, जैसे आजकल फले हुए पके हुए होते हैं। भूख सबको लगी थी। सोचा कि १०-१५ मिनट जरा यहां आमोंसे पेट भरलें फिर चलेंगे। उनमें से एक पुरुषके मनमें यह आया कि इस पेड़को जड़से काट कर उखाड़ लें, सारा पेड़ गिर जायेगा, फिर मनमाना खूब आम खायेंगे। एकके मनमें

से भी न रुकने वाला, न छिदने वाला, न जलने वाला, ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व हूं, ऐसी दृष्टि बनी कि सर्वविपदाओंके ढेर खत्म हो जाते हैं। विपदाएं कुछ है ही नहीं और जहां अपने स्वरूपगृहसे निकले, बाहरकी ओर गए, परकी ओर झांका कि नहीं भी विपदा है तो भी इसे विपदाओंका पहाड़ नजर आता है।

आपत्तिकी कल्पनाएं— बताओ किसे कहते हैं आपत्ति? कोई भी मामूली बातको भी बड़ा बनाकर व्यग्र हो जाता है। अब क्या करूं? कुछ रास्ता ही नहीं मिलता। कोई पुरुष बड़ी बड़ी बाधाओंको भी कुछ न जानकर कहे कि है क्या यह? बाहरी पदार्थोंकी परिणतियां हैं। क्या सम्बन्ध है मेरा? जो जहां है वहीं रहो और रहते ही हैं। सोचनेसे किसी पदार्थका गुणपर्याय उससे हटकर अन्तरमें नहीं पहुंच जाता। सब अपने-अपने स्वरूपमें रहो—ऐसी शुद्ध दृष्टि बनाकर अपने आपको जिसने समझा है, उसके विह्वलता नहीं है। इस कारण अपने सुख दुःखका निर्णय अपनी समझ पर चलने दो, बाहरी पदार्थोंकी परिस्थितियों पर सुख दुःखका फैसला मत करो। ऐसा घर बन जाए, इतना धन हो जाए, मेरी इज्जत बन जाए तो मुझे सुख हो, यों बाहरी स्थितियों पर अपने सुख दुःखका निर्णय मत करो। बाहरमें जहां जो कुछ है, वह उनकी स्थिति है। उन पदार्थोंका मुझमें प्रवेश है ही नहीं। मैं तो ज्ञानमात्र यह आत्मतत्त्व शाश्वत विराजमान् हूं। यही मेरा स्वरूप है।

यह मैं जिन, शिव, ईश्वर, ब्रह्मा, राम, विष्णु बुद्ध, हरि, हर, सर्वरूप हूं। इन शब्दोंका जो अर्थ है, वह सब इसमें घटित होता है। लोकमें इन नामों वाले किसी व्यक्तिमें जो चारित्र बनाया है, उसकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु इन शब्दोंका जो अर्थ है, वह सब इस आत्मतत्त्वमें घटित होता है। यह मैं आत्मा परमशरण हूं, अन्यत्र कहां शरण खोजने जाते हो? मैं अखण्ड ज्ञानस्वभावमात्र हूं—ऐसी भावना जिसके निरन्तर बर्तती रहती है, वह संसारके विकल्पोंको नहीं पकड़ता, किन्तु निर्विकल्पसमाधिको प्राप्त करते हुए चैतन्यमात्र आत्माकी उपलब्धि करता है।

परपरिणतिकी भिन्नता— यह आत्मा समस्त परपदार्थोंकी परिणतिसे अत्यन्त भिन्न है। दो लड़के २० हाथकी दूरी पर खड़े हैं। एक लड़के ने जीभ निकालकर चिढ़ाया या अटपट शब्द बोल दिया तो दूसरे लड़केमें उसकी क्या बात चली गयी? किन्तु वह दुःखी होता है। उस लड़केकी इसमें कोई बात नहीं गई, किन्तु इसने ही ऐसा अध्यवसाय बना लिया कि यह लड़का मुझे चिढ़ाता है। कहां चिढ़ाता है? वह अपने मुंहकी तो

कसरत करता है। ऐसा ही समझ लो कि संसारके जितने पदार्थ हैं, वे सब अपने स्वरूपकी परिणति कर रहे हैं, प्रतिकूल कोई नहीं चल रहा है। जिसमें जैसी योग्यता है, जिसमें जैसा कषाय है, उस कषाय और योग्यता के अनुकूल अपनेमें अपना परिणमन बनाए हैं, मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा जानने वाले ज्ञानी संतने परपरिणतिसे पृथक्, अनुपम निष्णाल शुद्ध ज्ञायकस्वरूप निजतत्त्वको जान लिया है।

आचार्यदेवकी अपार करुणा— देखो यह वस्तुका निर्बाधस्वरूप तो कुन्दकुन्दाचार्य देवने कृपा करके भव्यजीवोंको दिखाया है और उनको भी अपने गुरुसे प्राप्त किया था और ऐसी गुरुपरम्परासे यह उपदेश चला आया है। जिनमें मूल गुरु तीर्थङ्कर भगवान हैं। आज जो तीर्थ चल रहा है, जहा हम धर्मपालन करके अपने जीवनको सफल कर रहे हैं। यह तीर्थ अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीरस्वामीका है, जिनको भक्तिसे देव देवेन्द्रोंने मुकुट नवाकर जमीनमें पड़कर नमस्कार कर गद्गद् भावनासे अपने ही आपके पापोंको धोया था—ऐसे महावीर तीर्थंकर देव द्वारा यह उपदेश प्रवाहित चला आया है। जो इस उपदेशको अपने हृदयमें धारण करता है, वह इस स्वरूपदृष्टिरूप नौका द्वारा इस भयानक संसारसमुद्रसे पार हो जाता है।

आत्मावगाहन— भैया! यहां क्या सार है, जिस पर पागल हुआ जाए? यहा चिंताएँ, शल्य, इष्टवियोग, अनिष्टसयोग, मनचाही बात न होना अथवा भ्रममें आना इत्यादि बातोंके बड़े बड़े कष्ट हैं—ऐसे कष्टपूर्ण संसारमें किसी भी परवस्तुकी आकाक्षा चलना इस जीवका महान् सकट है—ऐसे सकटसे बचानेमें समर्थ यदि कोई ज्ञान है तो यह आत्मज्ञान ही है। इस आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए सब कुछ परित्याग करना होगा। यही परित्याग करके देख लो। ज्ञानद्वारा परवस्तुओंसे भिन्न अपनेको जान लो। मेरा कहीं कुछ नहीं है, जरा ऐसा उपयोग तो बनाओ कि सचमुचमें तुम्हारा तुम्हारेसे बाहर कहीं कुछ नहीं है, यदि ऐसा उपयोग बना सकते हो और इसके फलस्वरूप अपने आपके ज्ञायकस्वभावमें प्रवेश कर सकते हो तो जो सारे सकट मिटकर जो आनन्दामृतका अनुभव होगा, वह आप स्वयं ही जान जायेंगे। फिर न पूछना पड़ेगा किसीसे कि मेरा धर्म क्या है, मेरा शरण क्या है, मुझे आनन्द किससे होगा? सारी समस्याओंको अपने इस स्वानुभवसे हल करना पड़ेगा।

आत्मार्थ सत्याग्रह और असहयोग— देखिए पराधीनता दूर करने के दो ही तरीके हैं—सत्याग्रह और असहयोग। इस आत्मामें कर्मोंकी, देह

की, अन्य साधनोंकी परतन्त्रता लगी है। इसको दूर करनेके लिए अपने सत्वस्वरूपका तो आग्रह करो। मैं तो एक अखण्डज्ञायकस्वभावी हूं। इसके विपरीत कोई कुछ बहकाए, किसीके बहकानेमें मत आओ। ऐसा करो तो सत्याग्रह और मेरे इस अखण्ड ज्ञानस्वभावके अतिरिक्त अन्य जितने भाव हैं, अनात्मतत्त्व हैं, उनसे मेरा कुछ हित नहीं है, कुछ सम्बन्ध नहीं है— ऐसा जानकर उनका असहयोग कर दो, उनसे प्रीति ही न रक्खो, उन्हें अपने पास बुलाओ ही नहीं, उनको अपने पाससे दूर कर दो। यों इस अनात्मतत्त्वका असहयोग करो तो सत्याग्रहपूर्ण यह असहयोग अवश्य ही सर्वकर्मोंकी गुलामीसे दूर कर देगा।

परमपदार्थ— जिस परमपदार्थकी रुचिसे संसारके समस्त संकट टलते हैं, जिस परमतत्त्वके आलम्बनसे सर्व औपाधिक भावोंको प्रलय होकर विशुद्ध दर्शन मिलता है, जिस सत्यस्वभावको परिचय बिना नाना परिणतियोंको अपनाकर अज्ञानी पुरुष अनादिसे अब तक भटकता चला आया है, जिस निज अन्तस्तत्त्वके स्पर्शसे मोक्षमार्ग चलता है और मोक्ष होता है, परमकल्याण मिलता है, वह परमपदार्थ, वह शुद्ध अन्तस्तत्त्व और वह निजभाव किस प्रकार है? इस विषयमें आचार्यदेव यहां बतला रहे हैं—

णिद्दण्डो णिद्दन्द्वो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ॥४३॥

इस गाथामें यह दर्शाया है कि इस शुद्ध आत्माके अतिरिक्त याने स्वयं सहज अपने आप ही यह जिस प्रकार है, जिस स्वभावमें है, उस वाले स्वभाववान् आत्माके अतिरिक्त जितने भाव हैं, उन समस्त विभावोंका अभाव है इस शुद्ध जीवास्तिकायमें। उन विभावोंके निषेधरूप कुछ वर्णन चलेंगे।

आत्माकी निर्दण्डस्वरूपता— यह आत्मा निर्दण्ड है। दण्ड तीन होते हैं—मनोदण्ड, वचनदण्ड, कायदण्ड। लोग समझते हैं कि मैं मनसे खूब मनसूबे बांधता हूं, सही व्यवस्थाका कार्यक्रम बनाता हूं, मैं प्रबन्ध और व्यवस्थामें अधिक चतुराई रखता हूं, मेरी प्रतिभास, मेरा विचार बिल्कुल व्यवस्थित चलता है। आचार्यदेव यहां बतला रहे हैं कि मनके जितने भी विकल्प हैं, वे सब दण्ड हैं, तेरे स्वभाव नहीं हैं, ऐश्वर्य नहीं हैं, हितरूप नहीं हैं, वे सबके सब दण्ड हैं। शुभ विकल्प हों अथवा अशुभ विकल्प हों, जितनी भी मनकी क्रियाएं हैं, सब मनोदण्ड हैं। हां, इतना अन्तर अवश्य है कि अशुभ विकल्पोंमें पापका बंध चलता है और शुभ विकल्पोंमें पुण्य

का बन्ध चलता है, किन्तु विकल्प आत्मस्वभावके अनुभवके विरुद्ध है। जब तक मनके सकल्प विकल्प रहते हैं, तब तक हमारा यह परम सर्वस्व जो निजसहजभाव है और यह जो कारणपरमात्मतत्त्व है, उसका दर्शन नहीं हो पाता है।

शुभ मनका उपकार— फिर भी जब भी इस समयसारके दर्शन होने को होंगे तो उससे पहिले मनके शुभ सकल्प विकल्प होंगे। अशुभ सकल्प-विकल्पके बाद आत्मानुभव किसीको नहीं होता। इस कारण यत्न तो यह भी किसी पदवी तक ठीक है कि अशुभ विचार दूर करें और शुभ विचार बनावें। इससे हम आत्मसिद्धिके सम्मुख होंगे और फिर लौकिक बात यह है कि अशुभ विकल्प बनाए रहेंगे तो हमारे वचन और कायकी चेष्टा भी अशुभ बनेगी, जो दूसरे जीवोंके विरुद्ध पड़ेगी और लौकिक आपत्ति इसके ऊपर आएगी। इस कारण भी अशुद्ध विकल्प न करना। अशुभ विकल्प करनेमें तत्काल अशान्ति रहती है। हम आपका बुरा विचारेंगे तो खुदमें बड़ी अशान्ति करनी पड़ेगी। शान्त रहकर, सुखी रहकर हम किसीका बुरा विचार नहीं सकते। जब बुरा विचारेंगे तो खुदको बुरा देखना पड़ेगा, तब हम दूसरेका बुरा विचार सकते हैं। भला बुरा विचारनेमें, अशुभ सकल्पमें कौनसी अपनी सिद्धि है? परेशानी और हैरानी सारीकी सारी है। इस लिए अशुभ सकल्प विकल्पका परिहार करके शुभ सकल्प विकल्पमें आएं लेकिन धर्मके मार्गमें मोक्षके पथके लिए आत्माके हितके अर्थ वहा भी यह जानते रहें कि जितनी भी मनकी प्रतिक्रियाए हैं, मनकी चेष्टाए हैं, वे सब मनोदण्ड कहलाती हैं।

निर्दण्डतामें आत्मरसास्वादन— यह आत्मस्वभाव मनोदण्डसे परे है। जैसे यह शुद्ध परमात्मदेव आखोंसे नहीं दिख सकता, अन्य इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञानमें नहीं आ सकता, इसी प्रकार यह शुभ परमात्मदेव मनके विकल्पोंके द्वारा भी ग्रहणमें नहीं आता। भले ही तुम परमात्मतत्त्वकी चर्चा कर लो, पर चर्चा करना और बात है, अनुभवन करना और बात है। जैसे मिठाईकी चर्चामें और मिठाईके खा लेनेमें जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर इस आत्मतत्त्वकी चर्चामें और आत्मतत्त्वके अनुभवमें है। चर्चामें वह रस नहीं आता और कदाचित् मिठाईकी चर्चा करते करते भी एक बूद थूक भी उतर आए और कुछ अच्छासा लगे तो वह भी चर्चाका प्रसाद नहीं है। पहिले मिठाई खायी थी, उसका स्मरण हुआ तो चर्चामें थोड़ा रस आया। इसी तरह आत्मतत्त्वकी चर्चा करते हुएमें जो आपको

आनन्द आता है उसे यों समझिये कि आत्मतत्त्वके सम्बन्धमें अपने चिंतन मनन, अनुभवन द्वारा जो रसास्वादन लिया उसका प्रसाद है कि आत्माकी चर्चा सुनकर उसमें कुछ प्रसन्नता प्रकट हुई है।

प्रभुमिलनपद्धति— अब इस आत्मतत्त्वका अनुभव मनके विकल्पसे परे है। इसके दृष्टान्तमें यों समझिये कि जैसे राजासे मिलनेका इच्छुक कोई पुरुष चलता है तो दरबारके दरवानसे वह कहता है कि मुझे राजासे मिला दो। तो दरवानका काम इतना ही है कि जहां राजा विराजे हों वहां निकट स्थान तक पहुचा देना। बादमें राजासे मिलना, स्नेह बढ़ाना, काम निकालना यह सब राजा और दर्शककी परस्परकी बात है। उसमें दरवान क्या करेगा ? इसी तरह कारणपरमात्मतत्त्वके दर्शनका अभिलाषी भक्त पुरुष इसके दरबान मनसे कहता है कि मुझे उस कारणपरमात्मप्रभुके दर्शन करा दो, तो यह दरबान मन इस दर्शनार्थी उपयोगको ले जाता है। कहा तक ? जहा तक इस समयसार प्रभुके दर्शन हो सकते हों उस सीमा तक वहा यह मन छोड़ आता है, जो इस जगह बैठा है परमात्मप्रभु। इस मनका काम यहा तक तो चला। अब इसके बाद प्रभुसे मिलना और प्रभुमें एकरस होना, स्पर्श होना, अनुभव होना, विशुद्धि बढाना, मोक्षमार्गका काम निकालना, यह तो भक्त और प्रभुके परस्परकी बात है। इसमें दरवान मन क्या करेगा ? फिर भी शुभमनकी चेष्टा और प्रभुमिलनके अर्थ शुभमनकी चेष्टा बहुत काम निकाल देता है।

शुद्ध जीवास्तिकायमें मनोदण्डका अभाव— भैया ! इतने उपकारी मनके उपकार होने पर भी ज्ञानी पुरुष कहता है कि यह भी मनोदण्ड है। वह दरबान दर्शनार्थी सेठको चौक तक तो छोड़ आया किन्तु यह वहां ही साथ बना रहे तो राजासे भेंट नहीं हो सकती। छोड़कर चला आए अपनी ड्यूटी पर दरबारसे बाहर तो काम निकलता है। यों ही यह मन शुभ तर्क वितर्कों द्वारा इस उपयोग भक्तको इस परमात्मप्रभुके दरबार तक छोड़ आये तो काम बनेगा, यदि वहां ही साथ रहा करे यह मन, संकल्प विकल्प का यह उपयोग परिहार न करे तो प्रभुके दर्शन नहीं हो सकते। इस कारण मनके व्यापारको मनोदण्ड कहा है। यह शुद्ध आत्मस्वभाव मनोदण्डके विकारसे रहित है।

जीवमें वचनदण्डका अभाव— दूसरा दण्ड है वचन दण्ड, वचन बोलना। मनुष्य सोचते हैं कि मैं पुरा बोलकर और नाना व्यंग मजाक रग ढंगसे बड़ी वचन कला दिखाकर मैं बहुत अच्छा कहलाता हूं, मैं ठीक काम कर रहा हू। आचार्यदेव कहते हैं कि हंसी मजाक व्यंग अप्रिय अहित

वचनकी तो बात क्या, जो हितमय हो, प्रिय हो, शिवमार्गमें लगानेके ध्येयसे बोली जा रही हो फिर भी वचनकी चेष्टामात्र वचनदण्ड कहलाता है। जब तक वचनदण्डका कार्य चल रहा है तब तक इस जीवका प्रभुमें अहित नहीं होता। यह वचनावलि भी प्रभुमिलनके लिए कुछ सहायक तो है पर यों समझिए कि यह वचन दरबारके बाहरका दरबान नहीं है, किन्तु कोटके बाहरका दरबान है। यह प्रभुमिलनका काम कराने के लिए मनके माफिक अधिक घुस पैठ वाला नहीं है। फिर भी वचनव्यवहार न हो तो मोक्षमार्गकी बात कैसे प्रसारित हो सकती है? ये शुभ वचन हितकारी हैं, सबसे उपकारी हैं, तिसपर भी ज्ञानी सतकी दृष्टि यह है कि यह वचन-कलाप भी वचन दण्ड है। यह शुद्ध आत्मतत्त्व इस वचनदण्डसे निष्क्रान्त है।

जीवमें कायदंडका अभाव— तीसरा दण्ड है कायदण्ड। शरीरकी चेष्टाएँ करना कायदण्ड है। कायदण्ड भी दो प्रकारके हैं—एक अशुभ-कायदण्ड और एक शुभ कायदण्ड। विषयोंकी परिणति और पापोंके अर्थ होने वाले शरीरकी वृत्ति—ये सब अशुभ कायदण्ड हैं। पूजा, दया, दान, गुरुसेवा, सत्संग, आदि कार्योंके लिए होने वाले कायकी परिणति शुभकार्य परिणति है। फिर भी आचार्यदेव बतला रहे हैं कि अशुभ कायपरिणति तो कायदण्ड है ही, भयानक कायदण्ड है, किन्तु शुभ कायवृत्ति भी काय-दण्ड है, आत्मस्वरूप नहीं है। इस शुद्ध अतस्तत्त्व के कायदण्ड नहीं होता।

तीन दण्डोंके कहनेका कारण— भैया! यहां तीन दण्ड बताए, इतना सुनकर कहीं खुश नहीं हो जाना कि इसमें धनदंड बताया ही नहीं है। इसकी तो छूट दे दी होगी, धनदण्डमें दोष नहीं लगता होगा, पर बात ऐसी है कि इस धनका तो आत्माके साथ जरा भी सम्बन्ध नहीं है। उस की तो चर्चा ही क्या करना है? वह तो अत्यन्त पृथक् है। इस आत्माके साथ मन, वचन, कायका तो कुछ सम्बन्ध है। आप यहां मंदिरमें आये हो तो तन भी साथ लाये हो, मन भी साथ लाये हो और वचन भी साथ लाये हो पर धन साथ नहीं लाए हो। कोई कहे कि अच्छा लो हम कलसे धन भी साथ लावेंगे, तो हठकी बात जुदी है। आप जानकर कुछ करें, पर तन, मन, वचन तो ऐसे हैं कि इन्हें आप हटाकर आ ही नहीं सकते।

मन वचन कायकी जीवसे कुछ निकटता— अच्छा कलसे आप कायको अपने साथ न लाना और आप ही अकेले आना, यह बात शायद

न बन सकेगी। अच्छा खैर, कायकी छूट है, आप मन साथ न लाना। मनको अपने घरमें धर आना। कोई यह सोचे कि यह बात तो हो जायेगी। बैठे यहां रहेंगे और मन घर भेज देंगे। तो यह बात नहीं कह रहे हैं। मनको कोई घरमें धर ही नहीं सकता। इस मनमें चाहे विकल्प बसा लो, पर मनको उठाकर घरमें धरना हो ही नहीं सकता। यह तो उपचार कथन है कि मेरा मन घरमें है। मन भी आप घरमें छोड़कर नहीं आ सकते। यदि कहें कि अच्छा आप वचन घर पर ही छोड़ आना और फिर यहां पर आना, तब शायद कोई यह सोचे कि यह बात तो बन जाएगी, आकर हम मौनसे बैठ जायेंगे, एक शब्द भी न बोलेंगे। अरे तो भले ही ओंठ बन्दकर के बैठ जाओ, पर भीतरमें कोई शब्द न उठे, गुनगुनाहट न चले, ऐसा करके कोई दिखाए तो जाने कि आप वचन छोड़कर आए हैं। मन-वचन-काय हमारे निकट हैं। धन छोड़कर तो आ सकते हैं, इस कारण दण्डमें मन-वचन-काय बताए गए हैं। धनकी तो चर्चा ही नहीं की है। वह तो प्रकट जुदा है, निराला है।

दण्डोंके हेतुओंका भी जीवमें अभाव— इन तीनों प्रकारके दण्डोंमें योग्य द्रव्यकर्म और भावकर्मका अभाव है अथवा जैसे यह दण्ड प्रवर्त सकता है। उनके कारण भावद्रव्यकर्मका भी स्वीकार आत्मस्वभावमें नहीं है और हो रहे भावकर्मका भी स्वीकार आत्मस्वभावमें नहीं है, फिर मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड इनका स्वीकार कैसे हो? यह आत्मा तो निर्दण्ड है, दोनों प्रकारके दण्डोंसे परे है। यह चर्चा चल रही है उस शुद्ध शरण परमपिताकी जिसकी कृपा बिना, जिसके प्रसाद बिना आत्मामें इस शान्तिका अभ्युदय नहीं हो सकता।

परमपदार्थकी दृष्टि बिना विडम्बनाएं— इस परमपदार्थकी दृष्टि बिना, ये जगतके जीव निरन्तर व्याकुल हो रहे हैं। कोई घरको ही अपना सर्वस्व मानकर घरका पक्ष करता है और अन्य घरोंके खिलाफ बनता है। कोई अपनी जातिको ही सर्वस्व मानकर जातिका पक्ष करता है और गैर जातिके खिलाफ विचार बनता है। कोई अपने समाजको ही सर्वस्व जानकर समाजका पक्ष करता है और गैर समाजके खिलाफ बनता है। कोई अपने देशको अपना सर्वस्व मानकर उस देशका पक्ष करता है और बाकी देशोंके खिलाफ विचार बनाता है। ज्ञानी संतकी वृत्ति यह है कि जाति अपेक्षा देखें तो सारा जीवलोक मेरा है। इसमें यह छटनी नहीं है कि यह अमुक जीव मेरा है, बाकी जीव गैर हैं और व्यक्तित्वकी दृष्टिसे निरखें तो मेरा मात्र मैं हूं, अन्य समस्त जीव मुझसे अत्यन्त एकसमान जुदे हैं।

जीवकी निर्द्वन्द्वता— देखो भैया ! चलो और आओ, यहां जिसकी चर्चा की जा रही है। शुद्ध आत्मतत्त्वकी यहां चर्चा की जा रही है। इस शुद्ध आत्मतत्त्वमें कोई द्वन्द्व नहीं है, यह निर्द्वन्द्व है। द्वन्द्वका अर्थ है दो होना। दो का नाम द्वन्द्व है, किसी दूसरी चीजका न होना भी निर्द्वन्द्वता है, है। कोई पुरुष जब शांत और संतुष्ट होकर कहता है कि लो मैं अब निर्द्वन्द्व हो गया हूं। इसका अर्थ यह है कि अब मेरे विचारमें किसी दूसरेका कोई कार्य करनेको नहीं रहा। मेरे चित्तमें अब किसी दूसरेका बोझ नहीं रहा। एक लड़का और रह गया था हिल्लेसे लगानेके लिए, उसको भी अच्छी जगह मिल गयी है, वह भी बोझ मिट गया। एक लड़की शादीको रह गयी थी, सो उसकी भी शादी कर दी। अब हम बिल्कुल निर्द्वन्द्व हो गए। अरे इस निर्द्वन्द्वके मर्ममें क्या भरा हुआ है ? मैं अकेला रह गया, मैं स्वतन्त्र हो गया, यह है निर्द्वन्द्वताका अर्थ। निश्चयसे इस परमपदार्थ आत्मतत्त्वसे व्यतिरिक्त अन्य समस्तपदार्थोंका अभाव है, एकमें दूसरा नहीं है। एकमें दूसरी चीज आ ही नहीं सकती।

एकक्षेत्रसमागममें भी जीवोंमें परका अत्यन्ताभाव— कदाचित् एक प्रदेश पर अनन्त परमाणु भी ठहर जायें और अनेक परमाणु एकपिण्ड-बद्ध होकर भी एक प्रदेश पर ठहर जायें, तिस पर भी किसी परमाणुमें किसी अन्य परमाणुका प्रवेश नहीं है। [illegible] हो गया, मगर स्वक्षेत्र प्रवेश नहीं है। किसीके क्षेत्रमें कोई [illegible] नहीं समा सकती। यह मैं आत्मा ज्ञानघन आनन्दमय अपने [illegible] हुए हूं। इसमें न द्रव्यकर्म का प्रवेश है, न शरीरका प्रवेश है, [illegible] है। यह तो अपने ही स्वरूपमें है। परद्रव्यकी [illegible] उपाधिका निमित्त [illegible] होने वाले रा[illegible] । मेरे कुछ नहीं [illegible] पदार्थोंसे [illegible] इस शुद्ध आत्म[illegible] बना हुआ [illegible] श नहीं है— [illegible] आ जाए [illegible] न हो जाए [illegible]

[illegible] मा[illegible] रहो

घर र[illegible]

का स[illegible]

तत्त्वमें

लता है [illegible]

देखो इस[illegible]

शाश्वत सहजस्वभाव होता है, उसमे अपना उपयोग देकर जरा दर्शन तो करो इस निजकारणसमयसारके, इस निजपरमात्मतत्त्वके। इसमें किसी चीजका प्रवेश नहीं है, यह स्वयं अपनेमें परिपूर्ण है।

आत्माकी स्वयं परिपूर्णता— इस परमात्मपदार्थमें जितने भी परिणमन चलते हैं, वे सब भी परिणमनकी कलामे परिपूर्ण परिणमन हैं और वर्तमानमें हो रहा परिपूर्ण परिणमन परिपूर्णरूपसे प्रलयको प्राप्त हो जाता है तो यह प्रलयरूप परिणमन भी एक नवीन परिपूर्ण परिणमनका अभ्युदय करके प्रलीन होता है—ऐसा यह परिपूर्ण परमात्मदेव समस्त अन्य पदार्थोंकी दखलसे तो दूर है ही और यह तो अपने आपमें शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपको लिए हुए है।

निर्दण्डतापूर्वक निर्द्वन्द्वतामें अपूर्व प्रभुमिलन— ज्ञानीसंत पुरुष तो तीनों प्रकारके दण्डोंसे पृथक् निज आत्मस्वरूपको समझ करके और उन सभी दण्डोंकी कृपासे कुछ प्रभुके आवासके निकट पहुंचकर उन दण्डोंसे विदा मांगकर खुले स्वरूपसे, खुले उपयोगसे प्रभुसे मिलता है, जिसे कहते हैं कि अमुक पुरुषने अमुक नेतासे खूब खुली बातचीत की। कोई दूसरा साथ हो तो खुली बात करते नहीं बनता। ये तीनो दण्ड साथ हो तो प्रभुसे खुलकर मिलन नहीं हो सकता। ऐसे प्रभुके प्रसादको प्राप्त करके उस आनन्दरससे आनन्दमग्न होकर जब छक लेते हैं, संतुष्ट होने लगते हैं, कुछ अब फिर व्यवहारमे आते हैं तब उसे खबर आती है कि ओह! वह अद्वैत मिलन बहुत अपूर्व था। इस शुद्ध अन्तस्तत्त्वमें किसी भी अन्य पदार्थका प्रवेश नहीं है। यह तो मैं ही स्वयं ज्ञानानन्दमय हू। ऐसे निर्दण्डतापूर्वक निर्द्वन्द्वताके अनुभवनमें ज्ञानानन्दरसनिर्भर कारणसमयसाररूप सनातन चैतन्यमहाप्रभुसे अपूर्वमिलन हो जाता है।

शाश्वत परमात्मतत्त्व— जिस तत्त्वके प्रति लोकजनकी यह धारणा हो गयी है कि वह सृष्टिकर्ता है, जिस तत्त्वके प्रति विवेकशील जनोंकी यह धारणा बनी है कि वह एकस्वरूप है और घट-घटमें विराजमान है, उस ही तत्त्वके सम्बन्धमें यह विवरण चल रहा है कि वह तत्त्व कहीं बाहर नहीं है, किन्तु उस तत्त्वमय ही हम आप प्रत्येक जीव हैं। जैसे घी दूधसे तो अलग नहीं है, केवल दूधको घी देखनेकी विधि और पद्धति है। दूधको ही देखकर अनेक लोग यह बतला देते हैं कि इसमें इतना घी बनेगा। घी कहां है? न बाहर व्यक्त है, न उसे ले सकते हैं, फिर भी बता देते हैं। इसी तरह जो वर्तमानमें जीव परिणति कर रहा है, ऐसी परिणति करते हुए जीवमें भी ज्ञानी संत पुरुष यह देख लेता है कि इसमें यह कारणपरमात्म-

हो जाता है। लोकमें एक शरण दोस्तको भी अपना जब बनाया जा सकता है, तब सबसे अधिक प्रेम उस दोस्त पर उसे मालूम पड़ा। यदि वह समझ जाए कि यह अन्य मित्रोंको मुझसे भी अधिक चाहता है तो उसकी मित्रता ठीक नहीं रह सकती है। इस उत्कृष्ट पावन तरणतारण प्रभुके हम कृपापात्र बनें तो हम तब ही कृपापात्र बन सकते हैं, जब एक मनसे, सर्वप्रयत्नोंसे इस चैतन्यस्वरूपका ही आदर करें। यह पूर्ण निर्णय रहे कि चैतन्यस्वरूप का अर्थात् मेरा न कोई शरण है, न कोई रक्षक है, सब अहित हैं, भिन्न हैं, असार हैं। किसीका आदर मनमें न रखें तो इस आत्मप्रभुका प्रसाद पाया जा सकता है।

जीवकी सर्वत्र एकाकिता— इस जीवने बाह्य पदार्थोंमे यह मेरा है, यह मेरा है, मैं इनका हू, इस दुर्बुद्धिसे इसने ससारमे जन्ममरणकी परिपाटी बनायी है, हो जाय कोई मेरा तो उसको मेरा माननेमें कोई बुराई नहीं है, पर निर्णय करके देखो कोई मेरा होता भी है क्या? वस्तुस्वरूपमें ही गुञ्जायश नहीं है कि कोई पदार्थ मेरा बन जाय। मनुष्य अपने भावोंके अनुकूल जो चाहे अपनी कल्पनाएं बनाता है और जो चाहे मानता है पर रहता है अकेलाका ही अकेला।

जीवकी आद्यन्त एकाकितापर एक दृष्टान्त— एक कोई संयासी था, वह नदीके उस पार पहुंचा। कुये पर एक स्त्री पानी भर रही थी, प्यास लगी, उससे पानी पिया, और कुछ कर्मोदय विपरीत था तो स्नेह हो गया दोनोंमें। दोनों साथ रहने लगे। अब कुछ समय बाद अपनी आवश्यकताओं की पूर्तिके लिए कुछ खेतीबाड़ी की, गाय भैंस रक्खीं। अब उस स्त्रीके भी बच्चे हुए, गाय भैंसके भी बच्चे हुए, मन बहलानेको बिल्ली वगैरह पाल ली उसके भी बच्चे हुए। अब तो बड़ा परिवार संन्यासी जी का बन गया। अब किसी कारणवश वे सबके सब नदीके उस पार जाना चाहते थे तो नदीमें से चला सारी गृहस्थीको साथमें लेकर। इतने में नदी का पूर आया और उसमें सब बह गये, बच्चे भी स्त्री भी, रह गया केवल वह अकेला, सो भुजावोंसे तैरकर उसी कुए पर पहुचा। सोचता है कि यह वही कुवा है जब कि हम अकेले यहां आए थे और इतनी विडम्बनावों के बाद फिर अब यह वही कुवा है कि जहा फिर हम अकेले आए हैं।

आत्माकी एकाकिता— आत्माका वही एकत्व स्वरूप है, वही अकेलापन है जिस अकेलेपनसे तुम यहां आए थे। और बडे हो गए तो विडम्बनाएं बढती जा रही हैं। घर बन गए, दुकान हो गयी, पैसा बढाने लगे, संतान हुई, रिश्तेदारियां बढीं, सारी विडम्बनाएं बढीं और अतमें वह

तत्त्व शाश्वत प्रकाशमान है।

आत्मतत्त्वकी निर्ममता-- यह तत्त्व निर्मम है, ममतारहित है, धन वैभव देहादिक कुछ भी परपदार्थ मेरे हैं-- इस प्रकारका जो ममकाररूप विभाव परिणाम है, उस विभावपरिणामसे रहित यह आत्मस्वरूप है, यह शुद्ध ज्ञायकस्वभावी है। इसमें केवल ज्ञानभाव और आनन्दभाव विदित होता है। यह काठ पत्थरकी तरह किसी पिण्डरूप नहीं है। इसे किसी भी इन्द्रियसे देखा नहीं जा सकता है। इन्द्रियकी बात तो दूर रहो, इस मनके द्वारा भी इस परमप्रभुसे भेंट नहीं हो पाती है-- ऐसा यह कारणसमयसार ममतापरिणामसे रहित है। इसमें किसी भी प्रकारका मोह रागद्वेष परिणाम नहीं है।

स्वरूपमें विकारकी अप्रतिष्ठा-- जल अग्निका सन्निधान पाकर गरम हो गया, किन्तु गरम हो जाने पर भी पुरुषोंको और महिलाओंको यह विश्वास है कि यह गरमी जलमें नहीं है, जलके स्वरूपमें नहीं है, यदि यह विश्वास न हो तो उसे पंखेसे हवा करके ठण्डा करनेकी क्यों तरकीब करें? क्या किसीने आगको ठण्डा करने के लिए पंखा हिलाया है? नहीं। जलको ठण्डा करने के लिए पंखा हिलाते हैं। इस कारण उन्हें विश्वास है कि गरमी जलमें प्रतिष्ठित नहीं है, आयी है यह गरमी निमित्तका सन्निधान पाकर, किन्तु जलके स्वरूपमें नहीं है। इसी तरह ज्ञानीसंतोंको यह विश्वास रहता है कि आए हैं रागद्वेष, मोहभाव, अब ये भाव आत्माके स्वरूपमें नहीं हैं। शुभ और अशुभ सर्वप्रकारके मोह रागद्वेष भाव इस जीवस्वरूपमें प्रतिष्ठित ही नहीं हैं। इस ही कारणसे तो यह आत्मतत्त्व निर्मम है।

स्वरूपमें परभाव व परका प्रतिषेध-- भला यह मेरा है, इस प्रकार का परिणाम भी जब मेरा नहीं है तो जिस वस्तुमें हम मेरेपनका विकल्प करते हैं, यह वस्तु मेरी कहांसे हो सकेगी? न वस्तु मेरेमें है, न ममता मेरेमें है और ममताका कारणभूत जो मोहनीयकर्मका उदय है, वह मोहनीयकर्मका उदय भी मेरेमें नहीं है। जिस अध्यवसानके उपादानसे यह कर्मोदयकारी बन जाता है, वे अध्यवसानके लगाव भी इस शुद्ध जीवस्वरूपमें नहीं हैं। यह चर्चा कहीं दूसरेकी नहीं की जा रही है, यह चर्चा तो अपनी है, आपकी है, सबकी है। चर्मके नेत्रोंसे खोलकर बाहर देखनेसे इस मर्मसे बहुत दूर जा गिरते हैं।

प्रभुकी अतन्मयमनसे उपासनापर प्रभुप्रसादकी निर्भरता-- इस मन में किसी भी भिन्न असार वस्तुका आदर करनेसे यह प्रभु मेरेसे विचिलत

हो जाता है। लोकमें एक शरण दोस्तको भी अपना जब बनाया जा सकता है, तब सबसे अधिक प्रेम उस दोस्त पर उसे मालूम पड़ा। यदि वह समझ जाए कि यह अन्य मित्रोंको मुझसे भी अधिक चाहता है तो उसकी मित्रता ठीक नहीं रह सकती है। इस उत्कृष्ट पावन तरणतारण प्रभुके हम कृपापात्र बनें तो हम तब ही कृपापात्र बन सकते हैं, जब एक मनसे, सर्वप्रयत्नोंसे इस चैतन्यस्वरूपका ही आदर करें। यह पूर्ण निर्णय रहे कि चैतन्यस्वरूप का अर्थात् मेरा न कोई शरण है, न कोई रक्षक है, सब अहित हैं, भिन्न हैं, असार हैं। किसीका आदर मनमें न रखें तो इस आत्मप्रभुका प्रसाद पाया जा सकता है।

जीवकी सर्वत्र एकाकिता— इस जीवने बाह्य पदार्थोंमे यह मेरा है, यह मेरा है, मै इनका हू, इस दुर्बुद्धिसे इसने ससारमें जन्ममरणकी परिपाटी बनायी है, हो जाय कोई मेरा तो उसको मेरा माननेमें कोई बुराई नहीं है, पर निर्णय करके देखो कोई मेरा होता भी है क्या ? वस्तुस्वरूपमें ही गुञ्जायश नहीं है कि कोई पदार्थ मेरा बन जाय। मनुष्य अपने भावोंके अनुकूल जो चाहे अपनी कल्पनाएं बनाता है और जो चाहे मानता है पर रहता है अकेलाका ही अकेला।

जीवकी आद्यन्त एकाकितापर एक दृष्टान्त— एक कोई सयासी था, वह नदीके उस पार पहुंचा। कुये पर एक स्त्री पानी भर रही थी, प्यास लगी, उससे पानी पिया, और कुछ कर्मोदय विपरीत था तो स्नेह हो गया दोनोंमें। दोनों साथ रहने लगे। अब कुछ समय बाद अपनी आवश्यकतावों की पूर्तिके लिए कुछ खेतीबाड़ी की, गाय भैंस रक्खीं। अब उस स्त्रीके भी बच्चे हुए, गाय भैंसके भी बच्चे हुए, मन बहलानेको बिल्ली वगैरह पाल ली उसके भी बच्चे हुए। अब तो बड़ा परिवार संन्यासी जी का बन गया। अब किसी कारणवश वे सबके सब नदीके उस पार जाना चाहते थे तो नदीमें से चला सारी गृहस्थीको साथमें लेकर। इतने में नदी का पूर आया और उसमें सब बह गये, बच्चे भी स्त्री भी, रह गया केवल वह अकेला, सो भुजावोंसे तैरकर उसी कुए पर पहुचा। सोचता है कि यह वही कुवा है जब कि हम अकेले यहां आए थे और इतनी विडम्बनावों के बाद फिर अब यह वही कुवा है कि जहां फिर हम अकेले आए हैं।

आत्माकी एकाकिता— आत्माका वही एकत्व स्वरूप है, वही अकेलापन है जिस अकेलेपनसे तुम यहां आए थे। और बड़े हो गए तो विडम्बनाएं बढ़ती जा रही हैं। घर बन गए, दुकान हो गयी, पैसा बढ़ाने लगे, संतान हुई, रिश्तेदारिया बढ़ीं, सारी विडम्बनाएं बढ़ीं और अतमे वह

समय आयेगा कि जैसा अकेला आया था वैसा ही अकेला जायेगा। जैसे उस सन्यासीने वे विडम्बनाए व्यर्थ मोल ली, पापबंध किया, रहा अतमें अकेलाका ही अकेला। ऐसे ही यहा ये प्राणी बीचमें इतनी विडम्बनाए कर लेते हैं, बखेड़ापन आरम्भ, परिग्रह, लड़ाई, विवाद, रागद्वेष, मैं मैं तू तू, मेरा तेरा द्वारा विवाद बनाता चला जाता है और अतमें फिर रहता है यह अकेलाका ही अकेला।

आत्माका सर्वत्र एकत्व— ज्ञानी संत पुरुष यहा चिंतन कर रहे हैं कि यह मैं आत्मा सर्व परपदार्थोंसे विविक्त, परभावोंसे रहित निर्मम हू। मैं एक हू, अकेला हू, सबसे न्यारा शुद्ध हू। मैं न किसी परवस्तुको करता हू, न किसी परवस्तुको भोगता हू। मैं जो कुछ करता हू अकेला अपने आपमें, अपने आपको, अपने लिए अपने से करता रहता हू। जैसे कोई उद्यमी छोटा बालक अकेला भी हो कहीं तो भी वह खेल लेता है, आसमान से बातें करता है और किसी प्रकार अपना मन बहला लेता है। ऐसे ही ये सब जीव अकेले ही हैं और अकेले ही ये अपने आपमें अपने विकल्पोंसे खेलते रहते हैं। दूसरा तो कोई इनके साथ है ही नहीं।

आत्माकी सर्वविकारोंसे विविक्तता— यह मैं निर्मम हू, केवल हू, ममतारहित हू, इतना ही अर्थ नहीं यह तो उपलक्षण है। अर्थ लेना कि मैं सर्व विकारोंसे रहित हू। प्रयोजन निर्विकारस्वरूप देखनेका है। जैसे कोई यह कह जाय अपने मुन्नासे कि हम मंदिर जाते हैं, देखो यह दही पड़ा है मटकामे, इसे कोई बिला[illegible] जाय। बिलावसे बचाना, तो क्यों जी अगर कोई कौवा आ जा[illegible] मुन्[illegible] कि पिता जी तो बिलावको हटाना बता ग[illegible] [illegible] अरे प्रयोजन बिलाव नाम लेने पर भी [illegible] इन सबसे दहीका बचाव हो। ऐसे ह[illegible] कि यह [illegible]मा ममतासे रहित है

[illegible] आत्मस्वरूपके ब[illegible]

[illegible]रूप द्वारा स्वकी[illegible]

[illegible] नहीं हुआ

[illegible]के लिए कोई [illegible]

[illegible]नेमें नहीं

[illegible] निरख[illegible]

[illegible] बहुत [illegible]

हू, [illegible], अमुक [illegible]

हू, कुटुम्ब वाला हूं इत्यादि जो अपने मनमें आश्चर्य बने हैं यह इस जीव पर घोर सकट हैं। इस घोर सकटके दूर करनेका उपाय जरासा ही तो है। किया जाय तो निरापद हो जाय, न किया जाय तो आपत्तिमे तो पड़ा ही है।

आपत्तिसे मुक्त होनेका सुगम उपाय— जैसे जलके बीच कोई कछुवा अपना मुंह ऊपर उठाए पानीमे बहा चला जा रहा है तो बीसो ही पक्षी उस कछुवेकी चोच पकडनेके लिए मण्डराते है, निकट आते हैं, बडे संकट छा जाते है, पर क्या सकट है, कछुवामें एक कला ऐसी है कि चार अगुल नीचे पानीमे अपनी चोंच करले तो उन पक्षियोंके सारे आक्रमण विफल हो जाते है। जरासा काम है। इसमे श्रम भी नहीं है। बस चार अंगुल पानीमे अपनी चोंच डुबा ले, लो सारे सकट दूर हो गए। ऐसे ही यह उपयोग जब अपने ज्ञानसमुद्रसे, आनन्दसिन्धुसे बाहर अपना मुख निकाले रहता है अर्थात् बाहरी पदार्थोंमें राग और आसक्ति बनाए रहता हैं तो सैकड़ों सकट इस जीव पर छा जाते हैं। बना-बनाकर सैकड़ों आपत्तियां यह जीव भोगता है किन्तु इस उपयोगमें ऐसी भी एक कला है कि जरा मुड़कर अपने आपके स्वरूपको निरखे कि मैं एक अकेला हू और इस अकेलेमें ही रम जावे। परिवारके जनोंके प्रति भी यह स्पष्ट बोध रहे कि यह पूर्णतया मेरे स्वरूपसे अत्यन्त पृथक् हैं। ऐसे ज्ञानीसत जरा उपयोगको अपने अन्तर्मुख करके थोड़ा अन्दर धंसते हैं कि ये सारे सकट एक साथ समाप्त हो जाते हैं।

आत्माकी निष्कलता— मैं निर्मम हू, रागद्वेष मोह आदि समस्त विकारोंसे स्वतः पृथक् हू। जिसकी शरणमें पहुच गए और वास्तविक शरण मिले, कभी धोखा न हो ऐसे इस ब्रह्मस्वरूपकी यहा याद की गई है। अब आत्माकी निष्कलता देखी जा रही है यह मै आत्मा निष्कल हू। कल से रहित हू। लोग कहते हैं ना, कलकल मत करो, अच्छा नहीं लगता। वह कलकल क्या है? कल मायने शरीर। शरीर शरीरोंका झमेला शरीर शरीरोंकी लड़ाई, शरीर शरीरोंका हल्लागुल्ला अच्छा नही लगता। कलकल अच्छी चीज नहीं है। तब फिर क्या करना? कलकलसे दूर रहना, कल मायने है शरीर। इस शरीरसे रहित शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वको अपने उपयोगमे लेना यह कलकलसे बचनेका उपाय है। यदि निर्देह ज्ञान शरीरमात्र निज आत्मतत्त्वको न निरखे तो जन्मजन्मान्तरोंमे ये कलकल कलकल लगाये रहेंगे अर्थात् शरीरोंकी परम्परा बराबर बनती चली जायेगी।

समय आयेगा कि जैसा अकेला आया था वैसा ही अकेला जायेगा। जैसे उस सन्यासीने वे विडम्बनाएं व्यर्थ मोल लीं, पापबंध किया, रहा अतमें अकेलाका ही अकेला। ऐसे ही यहा ये प्राणी बीचमें इतनी विडम्बनाए कर लेते हैं, वखेड़ापन आरम्भ, परिग्रह, लडाई, विवाद, रागद्वेष, मैं मैं तू तू, मेरा तेरा द्वारा विवाद बनाता चला जाता है और अतमें फिर रहता है यह अकेलाका ही अकेला।

आत्माका सर्वत्र एकत्व— ज्ञानी संत पुरुष यहा चिंतन कर रहे हैं कि यह मैं आत्मा सर्व परपदार्थोंसे विविक्त, परभावोंसे रहित निर्मम हू। मैं एक हू, अकेला हू, सबसे न्यारा शुद्ध हू। मैं न किसी परवस्तुको करता हू, न किसी परवस्तुको भोगता हू। मैं जो कुछ करता हू अकेला अपने आपमें, अपने आपको, अपने लिए अपने से करता रहता हू। जैसे कोई उद्यमी छोटा बालक अकेला भी हो कहीं तो भी वह खेल लेता है, आसमान से बातें करता है और किसी प्रकार अपना मन बहला लेता है। ऐसे ही ये सब जीव अकेले ही हैं और अकेले ही ये अपने आपमें अपने विकल्पोंसे खेलते रहते हैं। दूसरा तो कोई इनके साथ है ही नहीं।

आत्माकी सर्वविकारोंसे विविक्तता— यह मैं निर्मम हू, केवल हू, ममतारहित हू, इतना ही अर्थ नहीं यह तो उपलक्षण है। अर्थ लेना कि मैं सर्व विकारोंसे रहित हू। प्रयोजन निर्विकारस्वरूप देखनेका है। जैसे कोई यह कह जाय अपने मुन्नासे कि हम मंदिर जाते हैं, देखो यह दही पड़ा है मटकामें, इसे कोई बिलाव खा न जाय। बिलावसे बचाना, तो क्यों जी अगर कोई कौवा आ जाय तो क्या मुन्ना यह सोचेगा कि पिता जी तो बिलावको हटाना बता गए हैं, कुत्ता और कौवोंको खाने दो। अरे प्रयोजन बिलाव नाम लेने पर भी यही है कि जितने इस दहीके भक्षक हैं उन सबसे दहीका बचाव हो। ऐसे ही निषेध तो किया है शरीरकी ममताका कि यह आत्मा ममतासे रहित है पर अर्थ यह लेना कि जितने भी परभाव, विकार भाव इस आत्मस्वरूपके बाधक है उन सब विकारोंसे रहित हू।

स्वरूप द्वारा स्वकी अविनाशकता— भैया! अपना स्वरूप अपने विनाशके लिए नहीं हुआ करता है। किसी भी वस्तुका स्वरूप हो, अपने आपके विनाशके लिए कोई स्वरूप नहीं होता है। मेरा स्वरूप चैतन्यभाव अमूर्त है, जाननेमें नहीं आता। जाननेमें आजाय तो फिर छूटता नहीं है। जब दृष्टि दे तब इसे निरख ले। ऐसा यह मैं निर्विकल्प ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व हू। यह बहुत सकट है जो चित्तमें यह बैठा है कि मैं अमुकचद हू, अमुक जातिका हू, अमुक पोजीशनका हू, इस देशका हू, इस गोष्ठीका

है, कुटुम्ब वाला है इत्यादि जो अपने मनमें आश्चर्य बने हैं यह इस जीव पर घोर संकट है। इस घोर संकटके दूर करनेका उपाय जरासा ही तो है। किया जाय तो निरापद हो जाय, न किया जाय तो आपत्तिमें तो पड़ा ही है।

आपत्तिसे मुक्त होनेका सुगम उपाय— जैसे जलके बीच कोई कछुआ अपना मुँह ऊपर उठाए पानीमें बहा चला जा रहा है तो बीसों ही पक्षी उस कछुवेकी चोंच पकड़नेके लिए मण्डराते हैं, निकट आते हैं, बड़े संकट छा जाते हैं, पर क्या संकट है, कछुवामें एक कला ऐसी है कि चार अंगुल नीचे पानीमें अपनी चोंच करले तो उन पक्षियोंके सारे आक्रमण विफल हो जाते हैं। जरासा काम है। इसमें श्रम भी नहीं है। बस चार अंगुल पानीमें अपनी चोंच डुबा ले, लो सारे संकट दूर हो गए। ऐसे ही यह उपयोग जब अपने ज्ञानसमुद्रसे, आनन्दरससे धुसे बाहर अपना मुख निकाले रहता है अर्थात् बाहरी पदार्थोंमें राग और आसक्ति बनाए रहता है तो सैकड़ों संकट इस जीव पर छा जाते हैं। बना-बनाकर सैकड़ों आपत्तियां यह जीव भोगता है किन्तु इस उपयोगमें ऐसी भी एक कला है कि जरा मुड़कर अपने आपके स्वरूपको निरखे कि मैं एक अकेला हूं और इस अकेलेमें ही रम जावे। परिवारके जनोंके प्रति भी यह स्पष्ट बोध रहे कि यह पूर्णतया मेरे स्वरूपसे अत्यन्त पृथक है। ऐसे ज्ञानीसंत जरा उपयोगको अपने अन्तर्मुख करके थोड़ा अन्दर धंसते हैं कि ये सारे संकट एक साथ समाप्त हो जाते हैं।

आत्माकी निष्कलता— मैं निर्मम हूं, रागद्वेष मोह आदि समस्त विकारोंसे स्वतः पृथक् हूं। जिसकी शरणमें पहुंच गए और वास्तविक शरण मिले, कभी धोखा न हो ऐसे इस ब्रह्मस्वरूपकी यहां याद की गई है। अब आत्माकी निष्कलता देखी जा रही है, यह मैं आत्मा निष्कल हूं। कल से रहित हूं। लोग कहते हैं ना कलकल मत करो, अच्छा नहीं लगता। वह कलकल क्या है? कल मायने शरीर। शरीर शरीरोंका झमेला शरीर शरीरोंकी लड़ाई, शरीर शरीरोंका हल्लागुल्ला अच्छा नहीं लगता। कलकल अच्छी चीज नहीं है। तब फिर क्या करना? कलकलसे दूर रहना, कल मायने है शरीर। इस शरीरसे रहित शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वको अपने उपयोगमें लेना यह कलकलसे बचनेका उपाय है। यदि निर्देह ज्ञान शरीरमात्र निज आत्मतत्त्वको न निरखें तो जन्मजन्मान्तरोंमें ये कलकल कलकल लगाये रहेंगे अर्थात् शरीरोंकी परम्परा बराबर बनती चली जायेगी।

समय आयेगा कि जैसा अकेला आया था वैसा ही अकेला जायेगा। जैसे उस सन्यासीने वे विडम्बनाए व्यर्थ मोल लीं, पापबंध किया, रहा अतमें अकेलाका ही अकेला। ऐसे ही यहा ये प्राणी बीचमें इतनी विडम्बनाए कर लेते हैं, बखेड़ापन आरम्भ, परिग्रह, लड़ाई, विवाद, रागद्वेष, मैं मैं तू तू, मेरा तेरा द्वारा विवाद बनाता चला जाता है और अतमें फिर रहता है यह अकेलाका ही अकेला।

आत्माका सर्वत्र एकत्व— ज्ञानी संत पुरुष यहा चिंतन कर रहे हैं कि यह मैं आत्मा सर्व परपदार्थोंसे विविक्त, परभावोंसे रहित निर्मम हू। मैं एक हू, अकेला हू, सबसे न्यारा शुद्ध हू। मैं न किसी परवस्तुको करता हू, न किसी परवस्तुको भोगता हू। मैं जो कुछ करता हू अकेला अपने आपमें, अपने आपको, अपने लिए अपने से करता रहता हू। जैसे कोई उद्यमी छोटा बालक अकेला भी हो कहीं तो भी वह खेल लेता है, आसमान से बातें करता है और किसी प्रकार अपना मन बहला लेता है। ऐसे ही ये सब जीव अकेले ही हैं और अकेले ही ये अपने आपमें अपने विकल्पोंसे खेलते रहते हैं। दूसरा तो कोई इनके साथ है ही नहीं।

आत्माकी सर्वविकारोंसे विविक्तता— यह मैं निर्मम हू, केवल हू, ममतारहित हू, इतना ही अर्थ नहीं यह तो उपलक्षण है। अर्थ लेना कि मैं सर्व विकारोंसे रहित हू। प्रयोजन निर्विकारस्वरूप देखनेका है। जैसे कोई यह कह जाय अपने मुन्नासे कि हम मंदिर जाते हैं, देखो यह दही पड़ा है मटकामें, इसे कोई बिलाव खा न जाय। बिलावसे बचाना, तो क्यों जी अगर कोई कौवा आ जाय तो क्या मुन्ना यह सोचेगा कि पिता जी तो बिलावको हटाना बता गए हैं, कुत्ता और कौवोंको खाने दो। अरे प्रयोजन बिलाव नाम लेने पर भी सही है कि जितने इस दहीके भक्षक हैं उन सबसे दहीका बचाव हो। ऐसे ही निषेध तो किया है शरीरकी ममताका कि यह आत्मा ममतासे रहित है पर अर्थ यह लेना कि जितने भी परभाव, विकार भाव इस आत्मस्वरूपके बाधक हैं उन सब विकारोंसे रहित हू।

स्वरूप द्वारा स्वकी अविनाशकता— भैया! अपना स्वरूप अपने विनाशके लिए नहीं हुआ करता है। किसी भी वस्तुका स्वरूप हो, अपने आपके विनाशके लिए कोई स्वरूप नहीं होता है। मेरा स्वरूप चैतन्यभाव अमूर्त है, जाननेमें नहीं आता। जाननेमें आजाय तो फिर छूटता नहीं है। जब दृष्टि दे तब इसे निरख ले। ऐसा यह मैं निर्विकल्प ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व हू। यह बहुत सकट है जो चित्तमें यह बैठा है कि मैं अमुकचद हू, अमुक जातिका हू, अमुक पोजीशनका हू, इस देशका हू, इस गोष्ठीका

तलवारसे मारें तो उनके हाथ ही तलवार बन जाते हैं। वे अपने शरीरको कुरुप आदि जैसा चाहे बना डालें, किन्तु नाना-शरीर नहीं बना सकते। उन में अपृथकत्व क्रिया होती है।

औदारिक वैक्रियक शरीर— कभी औदारिक शरीर वाले ऋषि व संतोंके भी वैक्रियक शरीर बन जाता है, किन्तु वह मूलत वैक्रियक शरीर नहीं है किन्तु ऋद्धिसे ऐसा जो शरीर बना है, इसका नाम है औदारिक-वैक्रियक शरीर।

आहारक शरीर— तीसरा शरीर है आहारक शरीर। यह आहारक शरीर ज्ञानी ध्यानी विधिक्त ऋद्धिधारी तपस्वी संतोंके प्रकट होता है। कोई तत्त्वमें शका हो तो उसका समाधान करनेके लिए मस्तव से अहारक शरीर की रचना होकर अहारक शरीर बनता है और जहा प्रभु हों वहा पहुचकर उनके दर्शन करके वापिस अपने मस्तकमें आ जाता है। वह धवल पवित्र व्याघातरहित शरीर होता है।

तैजस और कार्माण शरीर— तैजस और कार्माण शरीर इस जीव का तब तक साथ नहीं छोडता, जब तक कि मोक्ष न हो जाए। औदारिक शरीर साथ छोड़ देगा, किन्तु मनुष्य है तो इस सम्बन्धमें उसके औदारिक शरीर लगा है। मरण करके वह देव बन जाए तो उसका वैक्रियक शरीर बन जाएगा। लो अब औदारिक शरीर कई सागरों पर्यंत औदारिक नहीं रहा। इसका विच्छेद हो गया, किन्तु एक नियम है कि वैक्रियक शरीरके बाद वैक्रियक शरीर कभी नहीं मिलता। वैक्रियक शरीर वाले देव और ये नारकी औदारिक शरीरको ही धारण कर सकेंगे, इन्हें वैक्रयक शरीर तो नहीं मिलता। औदारिक शरीर वाले मरकर फिर भी औदारिक शरीर पा लें या वैक्रियक शरीर पा लें, उनका नियम नहीं है। अब देखो औदारिक शरीरका भी विछोह हो जाता है और वैक्रियक शरीरका भी विछोह हो जाता है। आहारक शरीर तो किसी बिरले सतके प्रकट होता है। इसका विछोह तो सभी ससारी जीवोंके बना ही है, पर जिन संतोंके आहारक शरीर प्रकट होता है, उनके भी विछोह हो जाता है, यह वाला आहारक शरीर तो अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है, परन्तु तैजस और कार्माण शरीर इस जीवके साथ तब तक ही लगे रहते हैं, जब तक जीवको मोक्ष न हो जाए।

सूक्ष्मशरीर— जो द्रव्यकर्म हैं, ज्ञानावरणादिक ८ कर्म हैं, उनके ही संग्रहका नाम है कार्माणशरीर। इस कार्माणशरीरके साथ ऐसा जो एक शरीर लगा है, जिससे औदारिक आदिक शरीरोंमें तेज पहुचता है, इसे

शरीरके भेद और औदारिक शरीर-- कल होते हैं ५। औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण--ये पाच शरीर हैं। औदारिक शरीर मनुष्य और तिर्यंचके होता है। हमारे और आपके इस स्थूल फलका नाम औदारिक शरीर है और सब तिर्यञ्च भी जितने एकेन्द्रियसे लेकर और निगोदसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक हैं, इन समस्त तिर्यञ्चोंके भी औदारिक शरीर होते हैं।

देवोंका वैक्रियक शरीर— वैक्रियक शरीर देव और नारकियोंके ही होते हैं। देवके वैक्रियक शरीर होते हैं, वे ऐसी विक्रिया करते हैं कि छोटे बन जायें, बडे बन जायें और कहो हजारोंरूप रख लें। उनका मूल वैक्रियक शरीर तो जन्मस्थानके निकट ही रहता है, पर जगह जगह कोई देवशरीर डोलता है तो वह उत्तरविक्रिया शरीर है अर्थात् वैक्रियकवैक्रियक शरीर है, मूल शरीर नहीं है।

देवोंके देहकी पृथक्त्वविक्रिया— किसी समय मानों कि एक साथ ५० तीर्थंकर जन्म जायें एक ही दिन तो ऐसा हो सकता है कि नहीं? हो सकता है। भरतक्षेत्रमें १ तीर्थंकर जन्में और उसी समय ऐरावतमें १ तीर्थंकर उत्पन्न हों और उसी समय विदेहकी १६० नगरी हैं, उनमेंसे अनेक नगरियोंमें एक एक तीर्थंकर जन्म जायें, किन्तु अब अभिषेक करने वाला और व्यवस्था करने वाला एक इन्द्र है। तो क्या वहा वह ऐसी छटनी करेंगे कि फलाने तीर्थंकरका पहिले सम्मान करलें, उनका पहिले अभिषेक करेंगे, बादमें फिर यहा करेंगे? क्या इस तरहसे अपने क्रममें कुछ क्रम बनायेंगे? नहीं। जन्मे दो ५० तीर्थंकर एक साथ। यह सौधर्म इन्द्र वैक्रियकवैक्रियक शरीर इतने बनाकर एक साथ सभी तीर्थंकरोंका अभिषेक समारोह मना लेगा।

वैक्रियकवैक्रियक शरीरोंमें मनोगति— अब प्रश्न यह रहा कि जब मन एक जगह होगा तो दूसरा शरीर रुक जाएगा। एक साथ सब शरीर कैसे चलेंगे? तो वैक्रियक शरीर बनानेमें ऐसी हालत होती है कि जहा उस इन्द्रका मूल शरीर है अर्थात् सौधर्म नामक स्वर्गमें, तो वहासे लेकर जहां तक उसका वैक्रियक शरीर बना हुआ है, रास्तेमें सर्वत्र आत्मप्रदेश रहते हैं और वह मन भी है और यह मन इतनी तीव्रगतिसे उन पांचों शरीरोंमें चक्कर लगाता रहता है कि सब काम एक साथ होते रहते हैं। देवोंके ऐसा अद्भुत वैक्रियक शरीर होता है।

अदृश्य वैक्रियक शरीर— नारकियोंके भी ऐसा अद्भुत वैक्रियक शरीर होता है कि उनको जब जरूरत पड़ती है कि हम अमुक नारकीको

जैसे १ घरमें रहने वाले १० प्राणी हैं और उनका एक दूसरेसे मन नहीं मिलता है, बल्कि विमुख और विरुद्ध विचार चलता है तो एक घरमें रहते हुए भी वे जुदा जुदा हैं। यह एक मोटी बात कह रहे हैं। प्रकृतमें यह देखो कि एक ही क्षेत्रमें छहोंके छहों द्रव्य रह रहे हैं, फिर भी किसी एक द्रव्यमें अन्य समस्तद्रव्योंका प्रवेश नहीं है।

द्रव्योंका आनन्त्य व क्षेत्रसाकर्य—लोकाकाशका कौनसा प्रदेश ऐसा है, जहां छहों द्रव्य न हों, एक भी कम हो तो बताओ? धर्मद्रव्य सारे लोक में तिल-तिलकी तरह व्यापकर फैला हुआ है। अधर्मद्रव्य भी इसी प्रकार विस्तृत है, आकाश तो है ही। लोकाकाशके एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। अब रहे जीव और पुद्गल। तो जीवराशि अनन्त है, अक्षयानन्त है। लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर आपको अनन्त जीव ज्ञान द्वारा मिलेंगे। यद्यपि कोई भी जीव आकाशके एक प्रदेश बराबर शरीरको लिए हुए नहीं होता, वे असंख्यात प्रदेशमें फैले हुए हैं, फिर भी आकाशमें लोकाकाशका कोई प्रदेश ऐसा नहीं है, जहां पर अनन्त जीव न विराजे हों। यों अनन्त जीव ऐसे ठसाठस भरे हुए हैं, एक जीवके साथ अनन्त ही पुद्गल पड़े हुए हैं।

पुद्गलोंका आनन्त्य—एक सूक्ष्म निगोदिया जीव जिसका शरीर सूईकी नोक जितने पतले भागसे भी असंख्यातवां भाग छोटा शरीर होता है—ऐसे ऐसे एक शरीरके आश्रित अनन्त निगोद जीव हैं। वे जीव एक साथ मरते हैं, एक साथ जन्मते हैं, एक श्वासमें १८ बार उनका जन्ममरण होता है। ऐसे एक एक निगोद जीवके साथ अनन्त तो कर्मपरमाणु लगे हैं और उनके साथ शरीरके भी परमाणु अनन्त लगे हैं और उनके साथ साथ शरीरके अन्य परमाणु जो शरीररूप तो नहीं होते, किन्तु शरीररूप होने की उम्मीद करते हैं विस्रसोपचय, वे भी अनन्त लगे हैं। इसी प्रकार ऐसी भी कार्माणवर्गणाएं अनन्त साथ लगी हैं, जो अभी कर्मरूप तो नहीं हुई, किन्तु कर्मरूप हो सकती हैं विस्रसोपचय। तब देखिए एक जीवके साथमें अनन्तपुद्गल लगे हैं। यह तो जीवके साथ लगे हुए पुद्गलकी बात है। और भी पुद्गल जो जीवसे व्यक्त हैं, वे भी अनन्त लोकाकाशमें भरे पड़े हैं। एक प्रदेश ऐसा नहीं है, जहां ६ मे से ५ ही द्रव्य हों। छहोंके छहों द्रव्य प्रत्येक प्रदेश पर मिलेंगे।

पदार्थकी परसे निरालम्बता—ऐसे एक क्षेत्रमें सर्वद्रव्य मिलते हैं, फिर भी प्रत्येक जीव, प्रत्येक अणु, प्रत्येक द्रव्य अन्य सबसे विमुख अपने ही स्वरूपमें अपना अस्तित्व रखता है। किसी अन्यमें उसका

कहते हैं तैजस शरीर। तैजस और कार्माण शरीर एक साथ रहते हैं और इनके युगलका नाम है सूक्ष्मशरीर। जैसे अन्य लोग इस शरीरको दो भागों में विभक्त करते हैं--स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीर। जीव मरण करके इस सूक्ष्मशरीरसहित जाता है और आगे स्थूलशरीर पाता है। वह सूक्ष्मशरीर तो यही तैजसशरीर और कार्माणशरीर है। यह सूक्ष्मशरीर जीवका एक समय भी साथ नहीं छोड़ता है। यह सूक्ष्मशरीर तो निरन्तर ही लगा हुआ है। इस शरीरका प्रपच भी शुद्ध जीवस्वरूपमें नहीं है, इसलिए यह आत्मा निष्कल है।

आनन्दका आश्रय— किसका आश्रय करनेसे यह उपयोग आनन्द रूप वर्त सकता है? जो स्वयं किसी दूसरेके आश्रयमें न हो। जो स्वय ही स्वावलम्ब है, उसके आश्रयसे अपनेको कैसे शरण हो सकती है? ऐसा कौन सा तत्त्व है, जो निरालम्ब हो और मेरेमें ही मेरे निकट सदा रहता हो? यों तो निरालम्ब ससारके समस्त पदार्थ हैं, स्वतन्त्र हैं। अपने ही आधार में अपने ही आश्रयसे परिणमन करने वाले प्रत्येक सत् हैं, किन्तु अपनेको तो ऐसा निरालम्बतत्त्व चाहिए, जो शाश्वत् मेरे ही निकट हो, कभी मुझसे अलग न हो। वह तत्त्व है कारणसमयसार।

अज्ञानान्धकारमें निजशरणका अपरिचय-- लोकमें ससारके प्राणी बाह्यमें नाना प्रकारके पदार्थोंका आलम्बन करके सुखकी कल्पना साकार बनाना चाहते हैं। उनको यही तो एक क्लेश है कि जो चीज अपनी नहीं है, वह अपने निकट कभी नहीं हो सकती है—ऐसे भिन्न, असार और मायामय बाह्यपदार्थोंका शरण तकता है। बाह्यपदार्थोंमें शरणबुद्धि रखना घोर अन्धकार है, इस अंधेरेमें अपने वैभवका परिचय नहीं हो सकता है। जब तीव्र अंधेरा होता है तो अपने ही शरीरके अग अपनेको नहीं दिखते हैं तो उससे भी विकट अंधेरा यह है कि यह खुद ज्ञानमय है और ज्ञानमय निजस्वरूपको नहीं जान पाता है। बाह्यपदार्थोंमें कहीं भी अपनी शरण तो नहीं है। यह तो स्वयं ही शरणभूत और चैतन्यस्वभाव मेरे उपयोगकी शरण है।

आत्माका अनात्माओंसे पार्थक्य-- यह स्वभाव, यह आत्मतत्त्व समस्त परद्रव्योंसे भिन्न है। लोकमें अनन्त तो जीव हैं, अनन्तपुद्गल हैं, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असख्यात कालद्रव्य हैं। इस मुझ आत्मद्रव्यमें न तो अन्य समस्त जीवोंका प्रवेश है और न ही समस्त पुद्गलअणुओंका प्रवेश है। न धर्मद्रव्य, न अधर्मद्रव्य, न आकाशद्रव्य व न कालद्रव्य आदि कोई भी इस आत्मामें प्रवेश नहीं पा सकता।

प्रवेश नहीं है। तो यों निरालम्ब तो प्रत्येक सत है, पर भिन्न सतका मैं आलम्बन नहीं कर सकता हू और मान भी लें व्यवहार दृष्टिका आलम्बन, सो भी सदा वह मेरे निकट नहीं रह सकता है। तब ढूंढो अपनी शरण, अपना रक्षक अपना प्रभु, अपना सर्वस्व शरणभूत अपने आपमें देखो। खोटी हठ करने का फल उत्तम नहीं होता।

असत्याग्रहका दुष्परिणाम— बच्चेकी हठ सीमा तक तो पिताको सहन हो जाती है, जहा तक इस पिताके आशयका अत्यन्त विरोध न हो जाय। जब कोई बालक सीमासे अधिक हठ करता है तो बालक लाभमें नहीं रहता हानि ही पाता है। यह जीव बालक थोड़ी बहुत हठ किया करे जो हठ इस हितके फार्म पर सही है किन्तु इसके इस स्वरूपका विरोध न होता हो। यद्यपि इतना भी हठ वास्तवमें बाधक है, किन्तु सीमासे जो अधिक हठ है जैसे विषयोंके सुख भोगनेका ख्याल आना, मुसाफिरकी भाति नश्वर समागम वाले जगत्के जीवोंसे स्नेह करनेकी आदत होना, यह हठ सीमातोड़ हठ है। इस हठसे यह जीव उपयोग लाभ न पायेगा, हानि में ही रहेगा। इस हठका त्याग करो, अपने आपमें शाश्वत विराजमान् शरणभूत इस चैतन्यस्वभावको निरखो और ऐसा दृढ़ निर्णय करो कि मेरा तो मात्र यह चैतन्यस्वभाव है। मैं तो केवल चैतन्यस्वभावमात्र हू। ऐसे विशुद्ध अनुभवमें जितने क्षण व्यतीत होंगे उतने तो क्षण सफल हैं और इससे च्युत होकर बाह्यपदार्थोंमें जितने लगाव चलेंगे उतना ही समय निष्फल हैं।

शुद्ध ध्येयके ध्यानमें हित— इस आत्मतत्त्वमें किसी भी परद्रव्यका सम्बन्ध नहीं है। यह स्वयं समर्थ है, स्वय सुरक्षित है, सद्भूत है, ज्ञानानन्दमय है, अपने ज्ञानको बढ़ानेके लिए बाहर क्या यत्न करते हो? सारे यत्नोंको छोड़कर यदि एक इस परमशरणभूत निरालम्बज्ञानस्वभाव का ही ज्ञान बनेगा तो एकदम ज्ञान विकसित हो जायेगा। बना-बनाकर, श्रम कर-कर ज्ञान बढ़ाने और कमानेमें श्रम किया जा रहा है, ठीक है। शुद्ध ध्येय हो तो वहा श्रम ज्ञानवृद्धिका कारण ही होता है और वह लाभदायक है, किन्तु वह ज्ञान यह उपदेश देता है कि किसी क्षण यदि तुम समस्त विकल्पोंको त्यागकर निर्विकल्प समतारससे परिपूर्ण रागद्वेष रहित सहज आनन्दकारि भरे हुए इस चैतन्यस्वभावको भी तो देखो तो बाहर डोलना इस जनको हितरूप नहीं है।

लोकसुखकी भी आनन्द गुणसे प्रादुर्भूति— बाह्यपदार्थोंमें उपयोग लगाने पर जो कुछ थोड़ा बहुत सुख मानते हो, वह सुख तो बड़े बर्तनमें

बची हुई खरोंचकर निकाली गई खिचड़ी जैसा है। जैसे किसी बड़े मटके में खिचड़ी बनाई और वह लोगों को परोस दी, सारा मटका खाली हो गया, फिर भी एक दो भिखारी आ जाये तो थरीते से निकालकर उन एक दो भिखारियोंको खिचड़ी दी जा सकती है, इसी प्रकार विषयोंकी प्रीतिमें अपना सहज आनन्द गंवा दिया, लेकिन चूँकि तुम प्रभु हो समर्थ हो, कितना भी तुम्हारा आनन्द खत्म हो गया, फिर भी विषयसुखोंके रूपसे जली बची खुर्चन तुम्हारे हाथ लग जाती है। बाह्यपदार्थोंसे आनन्दकी आशा ही करनेमें सब आनन्द नष्ट हो जाता है और जो कुछ भी भ्रम वाला सुख प्रतीत होता है वह भी बाह्यपदार्थों से आया हुआ नहीं है, किन्तु अपने ही आनन्दस्वभावका विकार है।

निश्छल आश्रय तत्त्व— भैया! बाहरमें किसका आलम्बन तकते हो? कौन तुम्हारे लिए लोकमें शरणभूत है? बाहरमे तो सब धोखा ही धोखा देने वाले हैं। अरे तुम्हें कोई दूसरा धोखा नहीं दे रहा है, तुम ही उल्टी चाल चल रहे हो, बाह्यपदार्थोंसे सुखकी आशा लगाई है तो उनसे धोखा तो प्रकट ही है। धोखा तो अपनी ही कुबुद्धिसे है। परपदार्थोंमें देखते जाओ जो जिस प्रकार अवस्थित है वहां वह धोखा नहीं खा सकता। किसीसे राग किया गया तो वह राग ही स्वयं धोखा है। फिर किसी अन्य वस्तु पर धोखेका इल्जाम लगाना बुद्धिमानी नहीं है। खूब परख लो कौन सा वह तत्त्व है जिसका आलम्बन करूं तो जिसमें न कभी धोखा हो, न कभी वियोग हो। ऐसा आलम्बनेयोग्य तत्त्व है तो अपने आपका सहजस्वरूप है।

रागकी स्वरूपबाधकता— यह सहजस्वरूप निरालम्ब है, इस निरालम्ब आत्मस्वरूपमें किसी ने बाधा डाली है तो वह है परपदार्थके प्रति होने वाला राग। यह राग परिग्रह है। बाह्यवस्तुका परिग्रह नाम उपचारसे है। वह क्यों परिग्रह है? कोई बाह्य पदार्थ मुझमें लगा है नहीं, चिपका है नहीं, स्वरूपमें है नहीं, तब फिर कोई बाह्यपदार्थ मेरा परिग्रह क्यों है? वह तो जहां है वहां ही पड़ा हुआ है। घर जहां खड़ा है वहां ही खड़ा है, तिजोरी जहां है वहां ही है। वह मेरा परिग्रह नहीं है, किन्तु उन बाह्यपदार्थोंमें जो राग लगा है, लपेट आत्मीयताका परिणाम हो रहा है वह परिणाम मुझमें लगा हुआ है। यही परिग्रह है।

रागसे बरबादी— जैसे छेवले के पेडमें लाख लग जाय तो वह लाख कोई बाहरसे आई हुई चीज नहीं है, वह छेवले के अंगसे ही उद्भूत चीज है, लेकिन वह लाख उस छेवलेके पेड़को बरबाद करके रहती है, फिर वह

पेड़ पनप नहीं पाता, धीरे-धीरे सूखने के उन्मुख हो जाता है। अंतमें सूख कर ठूठ रह जाता है। ऐसे ही इस आत्मामें जो रागकी लाख लगी है वह कहीं बाहरसे आकर नहीं लगी है, यह मेरी ही अयोग्यता से मेरे ही एक परिणमनरूप परिणमकर मेरे साथ लग है रागलाख। यह राग इस मुझ को बरबाद करके ही रहता है, इसके ससर्गसे यह जीव कोरा ठूठ, ज्ञानकी ओरसे मूढ़, आनन्दकी ओरसे दुखी ऐसा कोराका कोरा रह जाता है, यह आत्मा पनप नहीं सकता। राग हो तो आत्मा उन्नत नहीं बन सकता।

परिग्रहोंका प्रतिनिधि राग— ऐसे ये परिग्रह विस्तारसे बताये जायें तो १४ प्रकारके हैं। मैं उन समस्त परिग्रहोंसे दूर हू। यद्यपि वे कहनेमें १४ प्रकारके हैं, फिर भी सबका अन्तर्भाव एकरागमें हो जाता है। चाहे यह कह लो प्रभु वीतराग है, चाहे यह कह लो प्रभु समस्त परिग्रहोंसे रहित है। राग एक उपलक्षण है। समस्त परिग्रहोंका प्रतिनिधित्व करने वाला यह राग है। वे १४ परिग्रह कौन हैं? पहिला मिथ्यात्व, यह मिथ्यात्व परिग्रह जीवमे ऐसा विकट लगा हुआ है कि इससे जीव परेशान है। जीवकी सब परेशानियोंकी जड़ है मिथ्यात्व। विपरीत आशयका बनाना मिथ्यात्व है। इस विपरीत आशयपर ही सारे संकट खेल कूद रहे हैं।

मिथ्यात्वकी तह— भैया! ऐसा भी कोई तपस्वी हो जाय जो अपने आप ईमानदारीसे व्रत तपस्यामें लग रहा है, निर्ग्रन्थ हो गया है, नग्न है, तपस्यामें लगा है, शत्रु मित्रको एक समान मानता है। कोल्हूमें पिल जाय तो उस पेलने वाले शत्रु पर द्वेष भाव नहीं करता है, वह अपने अन्तरमे भाव बनाता है कि मैं साधु हू, मुझे रागद्वेष न करना चाहिए, हमें मोक्षमार्गमें लगाना है, हमारा कर्तव्य समतासे रहना है, इतने उच्च विचार करके भी किसी प्रकारका मिथ्यात्व अन्तरमें रहा हुआ रह सकता है। अब सोचिए कि इतनी बड़ी साधना, शत्रु मित्रको समान माननेकी भावना, कितनी भी बहुत मद चारों कषाए क्रोध, मान, माया, लोभ हों जिस पर भी मिथ्यात्व लगा है तो वह क्या लगा है? इसको बतानेकी कोई शब्द नहीं हैं। मोटे रूपमे बाकायदा कहो यदि कोई शब्द है तो यही शब्द है कि उस साधुने भी जो अपने आपमें भाव बनाया है—समता करना चाहिए, मैं साधु हू, रागद्वेष करना मेरा कर्तव्य नहीं है, ऐसे जो उसने उच्च विचार बनाये उन विचारों मात्र अपने आत्माको जगाता है। बस यही मिथ्यात्व है। सर्व प्रकारके परिणमनों से विविक्त चैतन्यस्वभावमात्र अपने आपका आत्मा उसके ज्ञानमे ग्रहीत नहीं हो पाता। शब्दोंमें यही कह सकते हैं।

- मिथ्यात्वका जगत्में एकछत्र साम्राज्य—अब जानिए कि इस मिथ्यात्वको इस जीवलोक पर कितना एकछत्र साम्राज्य चल रहा है? अनेक प्रयत्न करके एक मिथ्यात्वभावको हटा लिया तो मनुष्यजन्ममें बहुत अपूर्व काम किया समझो। धन, वैभव, इज्जत, पोजीशन सब मायारूप ही चीजें हैं इनकी दृष्टिमें और इनकी बुद्धिमें तत्त्व कुछ भी हासिल न होगा। इसमें किस प्रकारका और कैसा फल मिलता है? यह वक्त गुजर जाने पर ही विदित होता है।

काम परिग्रह— मिथ्यात्व परिणाम पर जीवित रहने वाले शेष १३ परिग्रहोंमें से प्रथम अब वह परिग्रह कहते हैं, जो इन १३ परिग्रहोंमें से भी बड़ा अपना अव्वल नम्बर रखता है। वह परिग्रह है वेद याने कामवासना, कामसंस्कार। कामसंस्कार एक बहुत गन्दा परिणाम है। एक भजन है, उसकी टेक है—

काम नाममें देव लगाया किसने?
यह तो प्रधान उनमें हिंसक हैं जितने।

लोग कहते है ना कि कामदेव, अरहंतदेव, सिद्धदेव। तो कामदेव कहते हुए लाज नहीं आयी? काम जैसा गन्दा विकार जो इस जीवको भव भवमें रुलाता और भटकाता है, स्वरूपसे चिगाता है और अत्यन्त दुःसह क्लेशका पात्र बनाता है और उस काम नाममें देव लगा दिया। अरे! यह काम तो अत्यन्त हिंसक है—

यह जीवरूप मछली पर संकट डाले।
जिनधर्म उदधिते बाहर फैंक निकाले॥
नारीतन पले के कांटे पर लटकावे।
संभोग भाड़में बारहि बार भुंजावे।

काम विभावकी हिंसकता— एक भजनका अंश मनोहर पद्यावलिमें इसमें बताया है कि कहार, ढीमर और कसाई आदिसे भी अधिक हिंसक है काम। वे भी यद्यपि जीवोंको मारने वाले होते हैं, बड़े हिंसक हैं, फिर भी कामको उनसे कम हिंसक न समझो। यह है कामकी विशेषता। इस जीवरूपी मछली पर इस कामहिंसकने संकट डाला है। क्या किया पाप कि जैनधर्मरूपी समुद्रसे निकालकर इसे बाहर फैंक दिया? जो कामवासना से पीड़ित पुरुष है, वह जैनधर्मकी उपासना क्या करेगा? नामके लिए हम उसे जैन-जैन कहें तो नामके लिए तो कुछ भी कह लो, किन्तु इस कामके विकारने जैनतत्त्वके विलासरूप इस जलसे भरे हुए जिनधर्म समुद्रमें से निकालकर बाहर फैंक दिया। फैंककर फिर क्या किया है कि परशरीर,

स्त्रीशरीर और पुरुषशरीर ही हुई, उसको एक जगह रोक देनेकी कील। उन कीलोंमें पिरो पिरोकर इस जीवमछलीको एक ठिकाने पर कील दिया और उस काटे पर लटका दिया और फिर क्या किया इस कामने कि यह सभोगरूप भाडमें इसे बार बार भूना, जैसे रौद्राशयी आगमें मछली को डालकर भूनते हैं। ये विषयभोग पहिले तो बडे सुहावने लगते हैं, पर अन्त में इनका फल कटुक होता है। ऐसे ये वेदविभावरूप परिग्रह इस आत्मतत्त्वमें कहा हैं? फिर क्यों ये जगतके जीव अपने स्वरूपसे भ्रष्ट होकर इन बाह्य कुतत्त्वोंकी ओर लगे चले जा रहे हैं, यह वेदभाव परिग्रह है, इसके न होनेसे यह आत्मतत्त्व नीराग है; अब इसके बाद आत्माके अन्य विशेषणोंका वर्णन किया जाएगा।

तीन वेदविभावोंका आत्मतत्त्वमें अभाव— वेदविभाव नामका परिग्रह तीन प्रकारका है – पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपु सकवेद। वेदभावसे तो कामवासनाकी जातिकी अपेक्षा तो तीनोंमें समानता है, किन्तु विषयभेदसे ये तीन प्रकारके हैं। स्त्रीके साथ विषयाभिलाषाका नाम पुरुषवेद है। पुरुष के साथ विषयाभिलाषाका नाम स्त्रीवेद है और दोनों विषयाभिलाषाओंका नाम नपु सकवेद है। यह आभ्यन्तर परिग्रहकी बात चल रही है। इस जीव के प्रदेशके भीतर कौन कौनसी पकडें ऐसी हैं कि जिन पकडोंके कारणसे प्रभुसे मिलन नहीं हो पाता। परिग्रह कहो अथवा पकड कहो, दोनोंका एक मतलब है। परिग्रह शब्द सस्कृतका है और पकड शब्द हिन्दीका है, यह वेदनोकषाय परिग्रह आत्मतत्त्वके नहीं हैं।

आत्मतत्त्वमें क्रोधपरिग्रहका अभाव— इसके बाद परिग्रह कहा जा रहा है क्रोध, मान, माया, लोभ। क्रोधकषाय जीवका परिग्रह है। यह जीव अपने क्रोधको ग्रहण करता है। जो क्रोध करता हो, सो मैं हू। क्रोध करने में अपनी चतुराई मानना, क्रोधको भजानेमें अपना कर्तव्य जानना, ये सब विडम्बनाए क्रोधकषायका परिग्रह करनेसे हैं। ज्ञानी जीवके तो क्रोध कषाय होते हुए भी यह क्रोध मैं नहीं हू, परभाव है, इससे मेरा हित नहीं है, मैं क्रोधरहित शातस्वभावी हू—ऐसी प्रतीति रहती है, जबकि अज्ञानी जीवको क्रोधमें हित जचता है, चाहे उसके फलमें भावी कालमें बडे सकट भोगने पडें और भोगना ही पड़ता है। कलकी ही एक घटना है कि मेहतर लोगोंमें दगा हो गया। एक मेहतर भाई एक आदमीके पेटमें चक्कू मारकर भग गया। क्रोध उससे नहीं सहा गया। अब उसकी कितनी दुर्गति होगी। जो जो भी बात हो तो भी उसे भावी कष्ट दिखते ही नहीं हैं। क्रोध के समय तो केवल यही उसे जचता है कि मैं अमुकका विनाश करूं; अमुक

का नाश हो जाए तो उसकी भलाई है।

आत्मतत्त्वमें मानपरिग्रहका अभाव— मानकषाय अहंकार परिणाम का कर्ता जो कुछ हूं, सो मैं हूं, अन्य लोग तुच्छ हैं, मैं इनका सिरताज हूं, इस प्रकारकी भावनासे मानपरिणाम बनता है। मानपरिणामके फलमें एव जीवोंके द्वारा अपमान होता है। भले ही कोई किसी पोजीशनके कारणसे मुख पर न कह सके, पर सब लोग आपसमें बतलाते हैं कि अमुक बड़ा मानी है। मानी-पुरुषका मान सासारिक मायनेमें भी तो निभता नहीं है और आत्मस्वरूपके दर्शन करनेमें कषायें तो सभी बाधक हैं, किन्तु यह मानकषाय मालूम होता है कि अधिक बाधक है। जिसको परभावोंमें, परपदार्थोंमें अहकार लगा हुआ है, वह पुरुष आत्मस्वरूपके दर्शनका कैसे पात्र हो सकता है?

आत्मतत्त्वमें मायापरिग्रहका अभाव— मायाकषाय छल कपट करने को कहते हैं। मायाकी मा है तृष्णा। किसी वस्तुविषयक तृष्णा होगी या किसी पोजीशन सम्बन्धी तृष्णा होगी तो मायाचार करना पड़ता है। जिसके तृष्णा नहीं है, वह मायाचार क्यों करेगा? छल कपट करने वाले का हृदय इतना टेढ़ा होता है कि उसमें धर्म जैसी सीधी बातका प्रवेश नहीं हो सकता है। जैसे मालाकी गुरियामें यदि टेढा छेद हो जाए तो मालाका सूत उसमें पिरोया नहीं जा सकता। ऐसे ही जिसका हृदय ऐसा वक्र है कि मनमें कुछ है, वचनसे कुछ बोलता है, शरीरकी चेष्टा कुछ है—ऐसा पुरुष बड़ा भयकर होता है। मायावियोंमें बहुत बड़ा धोखा खाना पड़ता है। ऐसे छल-कपट वाले मायावियोंके हृदयमें धर्मकी बात प्रवेश नहीं कर सकती है और फिर यह मायावी पुरुष भी अपनी मायाकी पकड़ रखता है।

मायामें आत्मदर्शीका अभाव— क्रोध कषाय तो उत्पन्न हुई, चली गयी। ऐसी ही मनकी बात है, पर ये मायाकषाय तो २४ घण्टे भयभीत बनाए रहते हैं और कुछ न कुछ अपने चित्तमें कल्पना उठाती रहती है। मायाकी पकड़ संसारकी जकड़ है। मायापरिग्रहमें यह आत्मदर्शन नहीं हो सकता। यह आत्मतत्त्व इन सब कषायोंसे परे है।

आत्मतत्त्वमें लोभपरिग्रहका अभाव—लोभकषाय भी विचित्र परिग्रह है। है कुछ नहीं अपना, बाह्यपदार्थ पुण्यके उदयके फल हैं। जब आना है तो आते हैं, जब नहीं आना है तो नहीं आते हैं। जब तक रहते हैं तो हैं, जब नहीं हैं तब नहीं हैं। जिनसे रञ्च सम्बन्ध नहीं है, ऐसे ये धन वैभव, मकान, परिजन इन सबमें लोभपरिणाम होना, इनको अपनानेकी बुद्धि

करना, संचयका ख्याल बनाना—ये सब हैं लोभ परिग्रह। कहते भी हैं कि लोभ पापका बाप बखाना है। लोभी पुरुष कुछ भी कर्तव्य अकर्तव्य न गिनकर जैसी चाहे वृत्ति करनेको उतारू हो जाता है।

आत्मतत्त्वमें हास्य परिग्रहका अभाव— एक हास्य भी परिग्रह है, किसी की चेष्टापर अपने आपमें हंसी लाना अथवा किसीका मजाक करना दिल्लगी उड़ाना यह हास्य परिग्रह है। हास्य परिग्रहकी पकड़में भी प्रभुदर्शनकी पात्रता नहीं रहती। जिस जीवको अपने आपमें उठे अपने गौरव का भाव होता और दूसरे जीवोंमें ये मूढ़ हैं ऐसा परिणाम हो तब यह हसी मजाक कर सकता है। तो यह हास्य नामक परिग्रह भी इस शुद्ध आत्मतत्त्वके नहीं है।

आत्मतत्त्वमें रतिपरिग्रहका अभाव— एक रति परिग्रह होता है। किसी भी बाह्यपदार्थको इष्ट मानकर उसमें प्रेम रखना रतिपरिग्रह है। इस जगतमें इस आत्माका इष्ट कौन पदार्थ है, खूब ध्यान लगाकर देखलो। मोहवश जो पदार्थ इष्ट जचते हैं कोई मनमुटाव होने पर अथवा मोह न रहने पर वह पदार्थ फिर इष्ट नहीं रहता। जो इष्ट हैं उन ही के कारण इस जीव पर संकट आया करते हैं। जो इष्ट नहीं हैं उन पदार्थोंके कारण सकट नहीं आते। जितने बधन हैं वे इष्ट पदार्थके कारण हैं। इष्टका व्यामोह एक परिग्रह है। यह रति नामका परिग्रह इस शुद्ध अतस्तत्त्वमें नहीं होता। यहा चर्चा चल रही है कि मैं जीव हू क्या और बन क्या गया हू ? अपने जीवका सहजस्वरूप जो अपने सत्त्वके कारण है, ईमानदारीका रूप है वह तो है शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप, ज्ञानभाव और आनन्दभाव, इस ही का नाम आत्मा है। ऐसा यह एक विलक्षण पदार्थ है कि जिसमें ज्ञान और आनन्दस्वभाव पड़ा हुआ है। ऐसे ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मतत्त्वमें रति नामका परिग्रह नहीं है।

आत्मतत्त्वमें अरतिपरिग्रहका अभाव— अरतिपरिग्रह अनिष्ट पदार्थमें अप्रीति होना, द्वेषका भाव जगना सो अरतिपरिग्रह है। ये सभी कषाय राग और द्वेष इन दो मे शामिल हो जाते हैं। राग अलगसे परिणाम नहीं है, द्वेष अलगसे परिणाम नहीं है, किन्तु क्रोध मान अरति शोक भय जुगुप्सा ये तो हैं द्वेषरूप परिणाम। माया, लोभ, हास्य, रति, पुरुष वेद, स्त्रीवेद, नपुसकवेद ये हैं रागरूप परिणाम। अरति भाव तब होता है जब इष्ट विषयमें कोई विघ्न समझा जाता है। तो उस विघ्नके निमित्तभूत पदार्थोंसे द्वेष हो जाता है। द्वेषकी तीव्रतामें यह परके विनाश करनेका यत्न करता है। वैसे वहा कुछ विवेक नहीं रहता। यहा तक

कि चेतनका विनाश करना सोचते हैं सो तो उसकी प्रकृति है ही, किन्तु अचेतनका भी विनाश सोचते हैं। बरसातके दिनोंमें चूल्हेमें यदि आग न सुलगे और आध घंटेसे हैरान हो रहे हों तो कहो चूल्हे को भी फोड़ दें, ऐसा भी द्वेष हो जाता है। हालाकि चूल्हा कोई जानदार पदार्थ नहीं है पर द्वेष परिणाम जगने पर यह इच्छा होती है कि जो मेरे इष्ट पदार्थोंमें विघ्नरूप होता है उसका मैं विनाश करूं। जीवका स्वभाव स्वयं ही शांतरूप है। इसे आनन्द शांति पानेके लिए कुछ नई तरकीब करना ही नहीं है। चीज न हो तो उसका यत्न करे, पर आनन्द ही का नाम तो आत्मा है। आनन्दके लिए क्या कोशिश करना? पर अज्ञानवश, भ्रमवश अनादि से विपरीत जो चेष्टाए कर डाली हैं उन चेष्टावों को दूर करना है। आनन्द अपना अपने आप है।

आत्मतत्त्वमें शोकपरिग्रहका अभाव— एक शोक परिग्रह होता है, रंज करना, इष्ट वियोग हो गया अब शोकमें पड़े हुए हैं। यह शोक परिग्रह है। कितने ही लोग तो शान समझते हैं शोक करके। घरमें कोई गुजर जाय, जैसे मान लो पति गुजर जाता है तो अनेक स्त्रिया तीन चार माह तक मंदिर नहीं आतीं। वे इसमें अपनी शान समझती हैं कि ऐसा ही करना हमारा काम है। चाहे उनके चित्तमें इतनी रंचका शोक न हो लेकिन लोकमें अपनी पोजीशन रखना है सो मंदिर नहीं आती हैं। इसमें अपनी शान मानती हैं। मगर जो जितना अधिक शोकमें पड़ता है वह उतना अधिक मिथ्यात्वको पुष्ट करता है। जब संसारके समस्त पदार्थ अत्यन्त भिन्न हैं तो उनके ज्ञाताद्रष्टा रहनेमें बुद्धिमानी है या उनका शोक करने और मोह मिथ्यात्व बढ़ानेमें बुद्धिमानी है।

आत्मतत्त्वमें भयपरिग्रहका अभाव—एक भय नामका परिग्रह है। कोई लोग कहते हैं कि इस जीवके आगे पीछे दो शैतान लगे हुए हैं। वे दो शैतान कौन हैं? स्नेह और भय। एक शैतान तो आगे चलता है और एक शैतान पीछे चलता है। अच्छा बता सकते हो कि दो शैतानोंमें से आगे चलने वाले शैतानका नाम क्या हो सकता है? भय! नहीं स्नेह। स्नेहकी गति आंखोंके आगे होती है और भयकी गति पीठके ऊपर होती है। उदाहरणके लिए किसी मित्रसे स्नेह करें तो सब आंखोंके आगे झुकाव रहता कि तब राग बढ़ेगा। आखोंके आगे यदि कोई चीज गिर जाय और जान रहे हैं तो उसको भय न सतायेगा किन्तु पीछे कोई चीज गिर जाय तो उसका भय लगेगा। चोर लोग चोरी करके कहीं जा रहे हों तो आखोंके आगे सब दिखता है, भय आंखोंके आगे नहीं आता, किन्तु पीछे

कहीं एक पत्ता भी खुरक जाय तो उनके भय आ जाता है। तो यह भयका शैतान पीछे लगा हुआ है और स्नेहका शैतान आगे खड़ा रहा है। भय भी एक परिग्रह है। यह जीव भयको जकड़े हुए है। भयको न जकड़े होता तो भयरहित शुद्ध ज्ञानस्वभाव अपने आपको इसे विदित रहता। यह भय परिग्रह भी इस शुद्ध अतस्तत्त्वमें नहीं है।

आत्मतत्त्वमें जुगुप्सा परिग्रहका अभाव— एक परिग्रह है घृणाका, यह भीतरी परिग्रहकी बात चल रही है। ऐसे कौनसे भावोंकी पकड़ यह जीव रखता है जिस पकड़में प्रभुका दर्शन नहीं हो पाता है? दूसरे जीवों को देखकर घृणा करना सो जुगुप्सा नामक परिग्रह है। जुगुप्सा करते समय इस जीवको भान नहीं रहता कि इसका स्वरूप मेरी ही तरह शुद्ध-ज्ञानानन्दका है अथवा जैसी प्रभुता ऐश्वर्य मेरे अंतस्तत्त्वमें फैली है ऐसी ही प्रभुता इस जीवमें भी पड़ी है, यह भान नहीं रहता तब दूसरे जीवोंसे ग्लानिका परिणाम रहता है। यह घृणाका परिग्रह हुआ है। ऐसे ये १४ प्रकारके परिग्रह शुद्ध अतस्तत्त्वमें नहीं हैं। इस कारण यह आत्मा नीराग है।

अपना नीराग स्वभाव— भैया! बाह्य परिग्रहोंके निषेधकी चर्चा यहां नहीं चल रही है, वे तो प्रकट जुदे हैं, और बाह्यपदार्थोंकी पकड़ भी कोई नहीं कर सकता। जो भी मोही जीव हैं, परिग्रही जन हैं वे अपने आपके अन्तरकी पकड़ रखते हैं विभावोंकी। यहां तक नीराग विशेषणके वर्णनमें यह बताया है कि इस आत्मतत्त्वमें आभ्यंतर परिग्रह नहीं है। यह चर्चा किसी दूसरेकी नहीं की जा रही है, यह हमारी और आपकी चर्चा है। इसको सुनते हुए अपने आपमें घटित करना है कि ओह ऐसा मैं हूं। अपना यथार्थ स्वरूप पहिचाना है, जिसने, उसके मोहकी यह विपदा दूर हुई। बाह्य परिग्रहोंकी कल्पना करके जो अन्तरमें भार बढाया है उस भार से रहित शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप का अनुभव जगे—इस प्रयोजनके लिए यह आत्मस्वरूपकी चर्चा की जा रही है।

आत्मतत्त्वकी निर्दोषता— यह आत्मतत्त्व निर्दोष है। इसका तो एक ज्ञान ही पवित्र शरीर है। ज्ञानके सिवाय इस आत्माको और क्या कहा जायेगा? किसे आत्मा बतायेंगे। ज्ञान ही एक असाधारण लक्षण आत्म-तत्त्वका है। सहज ज्ञानमय यह आत्मा है। केवल ज्ञातृत्वमें दोषकी बात ही कहां है? दोष तो अवगुणोंको कहा जाता है। जितने विकार हैं वे सब दोष हैं। अरहंतदेवमें जिन १८ प्रकारके दोषोंका अभाव बताया है वे सब १८ दोष आत्मस्वरूपमें नहीं पडे हैं। संसार अवस्थामें यदि दोषरूप

स्वभाव बन जाता या होता तो जीव कभी भी दोषोंसे मुक्त न हो सकता, ये दोष परभाव हैं, औपाधिक हैं, आत्मस्वरूप नहीं हैं।

सहजज्ञानस्वभावकी निर्दोषता-- मेरा यह सहजज्ञान शरीर कैसा है कि समस्त पापमलके कलंकोंको, कीचड़ोंको धोनेमें समर्थ है। जितना भी बोझ लदा है इस जीव पर विभावोंका, विकारोंका वह सब बोझविकार एक शुद्ध सहजज्ञानस्वरूपका अनुभव करने पर सब गल जाता है। सारे विकार सहजज्ञानस्वरूपसे च्युत बने रहनेमें इकट्ठे होते हैं। सर्वकलंकोंको धो ही डालनेमें समर्थ यह सहजज्ञान शरीर है। जिसका दर्शन बाह्यविकल्पोंके परित्यागके उपाय द्वारा अपने आपमें सहज विराजमान् वीतरागतारूप आनन्दरसमें मग्न होने पर प्रकट होता है। मैं तो अपने सहजअवस्थारूप हूं, सहजस्वभावरूप हू, इस प्रकारके सहजस्वभावी आत्मतत्त्वके दोषका तो कोई काम नहीं है।

स्वरूपकी दोषविविक्तता— कोई भी पदार्थ अपने स्वरूपसे अपने आपमें दोषी नहीं है। दोष जो भी आते हैं, वे किसी पर-उपाधिको पाकर आते हैं। वस्तु तो अपने स्वरूपमात्र है। ऐसे अपने अन्तरके ज्ञानस्वभावको पकड़ सके कोई कि मैं ज्ञानस्वभावमात्र हू, केवल ज्ञाता रहना मेरा कार्य है, इसके अतिरिक्त जो कुछ होता है, वह मेरे स्वभावसे उठकर नहीं होता है, पर-उपाधिका निमित्त पाकर यह हुआ करता है। इस जीवका जन्म तो आत्माके नहीं होता है, बुढ़ापा, मरण, क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, विषाद, चिन्ता, रोग, शोक, आश्चर्य आदिक जितनी भी गड़बड़िया हैं--ये इस आत्मस्वभावमें नहीं हैं।

अपूर्व प्रज्ञाबल— देखिए, कितना बड़ा विवेक बल लगाना पड़ेगा अपने आपके सत्यस्वरूपके परिचयके लिए कि छा रहा है इस पर यह सब दोषसमूह, फिर भी उन दोषोंको चीरफाड़कर उनमें न रुककर अन्तरमें पहुचकर ज्ञानानन्दस्वभावी सहज शुद्ध आत्मतत्त्वको जानना है। जैसे कि ऐक्सरा लेने वाला यन्त्र मनुष्यके चर्म, खून आदिकी फोटो न लेकर बहुत भीतर बसने वाली हड्डीका भी चित्र लिया करता है, यह उसमें विशेषता है। ऐसी ही इस ज्ञानकी इतनी तीक्ष्ण गति है कि जो ज्ञान जिस तत्त्वको जाननेके लिए उद्यत हुआ है, वह रास्तेमें आए हुए सभी पदार्थोंमें न अटक कर उन्हें पार करके अपने लक्ष्यभूतको जान लेता है।

ज्ञान द्वारा ज्ञानका ज्ञानमें अव्यवधान-- यह ज्ञान बाहरसे नहीं आता है, जिसे जानना है, वह अन्तरमें है और जो जानेगा, वह भी इस अन्तरमें है। इसलिए अन्तरका ज्ञानगुण अन्तरके ज्ञानस्वरूपको जाने तो

इसमें पार करनेकी बात ही क्या रही ? किसे पार करना है ? बीचमें कोई व्यवधान है ही नहीं, बल्कि रुकावट होनी चाहिए बाहरी पदार्थोंके जाननेमें, क्योंकि ज्ञानका स्थान तो आत्माके अन्तरमें है। यह अपने अन्तरके स्थान को छोड़कर बाहर भाग रहा है तो बाह्यवस्तुओंकी जानकारी कठिन होनी चाहिए, क्योंकि उसमें बाह्य यत्न करना होगा। अपने आपके स्वरूपकी बात जाननेमें इस ज्ञानको क्या कठिनाई हुई ? अनादिकालीन मोहवश इस जीवको अपनी बात जानना कठिन हो रहा है, परकी बात जानना इसको सुगम हो रहा है। इस स्थितिमें भी वास्तवमें वह परको नहीं जानता, पर परको विषयमात्र करके अपने आपके प्रदेशमें ज्ञानगुणका परिणमन करता है। यदि इस मर्मका पता हो तो यह ज्ञानी हो जाए। इस मर्मसे अनभिज्ञ यह जीव यही जानता है कि मैं बाह्यपदार्थोंको जानता हू और इनसे ही सुख भोगता हूं। ये समस्त प्रकारके दोष और मिथ्या, धारणायें व विकार इस जीवके नहीं हैं। यह तो सहज ज्ञानशरीरमात्र है। इस प्रकार यह शुद्ध आत्मतत्त्व निर्दोष है।

आत्माके निर्दोषत्वका उपसहार— आत्मा निर्दोष है। इस प्रकरणमें आत्मतत्त्वके सहजतत्त्वका विवरण किया जा रहा है कि यह सहजज्ञान शरीरी है। उस सहजज्ञानके स्वरूपमें सहजअवस्था है। यहां सहजअवस्था से प्रयोजन शुद्ध परिणमनका नहीं है, किन्तु ज्ञानस्वभावके सत्त्व बने रहने के लिए जो वर्तना चाहिए, वह सहजअवस्था है। वह सहजअवस्था वीतराग आनन्दसमुद्रके बीच स्फुटित होती है। ऐसी सहजअवस्थात्मक सहजज्ञानमय होनेके कारण अन्य किसी परतत्त्वमें इसकी गुंजायश नहीं है, इसी कारण यह आत्मा निर्दोष है।

परिच्छेदकत्व तथा निर्मूढत्व— अब यह आत्मा निर्मूढ है, इस ही विषयका वर्णन किया जा रहा है। सहजनिश्चयनयकी दृष्टि करके देखा जाए तो यह आत्मा सहजचतुष्टयात्मक है। जैसे शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे भगवान् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य करि सहित हैं तो सहजनिश्चयनयसे अर्थात् परम शुद्ध निश्चयनयसे देखा जाए तो यह आत्मतत्त्व सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजवीर्य और सहजसुखमें तन्मय है। यह आत्मतत्त्वमें पाये जाने वाले धर्ममेंसे एक प्रधानधर्म है। ऐसे ऐसे सहजधर्म इस आत्मतत्त्वमें अनन्त हैं। उन धर्मोंका आधारभूत जो निज परमतत्त्व है, उसके परिच्छेदमें, ज्ञानमें समर्थ होनेके कारण यह आत्मा निर्मूढ है। यहां पर द्रव्योंकी जानकारी करता है, इस कारण निर्मूढ नहीं कहा गया है, किन्तु अपने ही सहजस्वभावके परिच्छेदनमें समर्थ है, इस

कारण इसे निर्मूढ कहा है।

मोहका सीधा अर्थ— मूढका अर्थ है मोही। अपने आपकी दृष्टि न हो पाये, इसे मोह कहते हैं। लोग जिन परवस्तुओंमें मोह बताया करते हैं, उसका भी अर्थ यही है, बाह्यवस्तुओंका तो बहाना है, उसमें भी मोहका होना साक्षात् यही हुआ कि वह अपने स्वरूपको शुद्ध जैसा स्वयं है, नहीं जान पाया। किसी भी परवस्तुमें आत्मीयताकी बुद्धि करनेसे इस आत्मामें मोह पैदा होता है। इस मोहका साक्षात् कार्य परको अपनाना नहीं है, पर अपने स्वरूपका परिचय नहीं हो पाना है। लोकमें जिसे बेहोशी कहते हैं, उसका सीधा अर्थ कुछ बड़बड़ाना नहीं है या अटपट क्रियाए करना नहीं है, किन्तु अपनी सुधि खो देना है। अपनी सुधी खो देनेके परिणाममें अटपट बड़बड़ क्रियाए होती हैं।

दृष्टांतपूर्वक मोहके अर्थका प्रकाश-- कोई यदि मदिरा पीकर सड़क पर चल रहा है और अटपट बकबक कर रहा है, तो लोग कहते हैं कि इसे नशा है। उस नशेका कार्य क्या है? लोगोंकी जानकारीमें सीधी बात तो यह बैठती है कि नशेमें अटपट बका जाता है। यदि कोई नशेमें अटपट न बके, किन्तु वह बेसुत पड़ा रहे तो उसे नशेमें कहेंगे या नहीं? वह भी नशा है। नशेका वह कार्य बताओ, जो हर जगह कहा जा सके। वह कार्य है अपनी सुधि खो देना। अकबक बक रहा है तो वहां भी सुधि खोए हुए है और कहीं मरासा पड़ा है तो वहा भी सुधि खोए हुए है। जैसे नशेका कार्य है अपनी सुध खो देना, इसी प्रकार मोहका कार्य है अपनी सुधि खो देना। अपनी सुधि खो देनेके परिणाममें कोई जीव परिजनोंसे रागद्वेष मोह करता है, कोई परिजनोंसे रागद्वेष मोह नहीं कर पाता, फिर भी अपने ही आपकी पर्यायमें सुधि खोए हुए कुछसे कुछ अनुभवन करता है, जैसे ऐकेन्द्रिय जीव। उनके कहा कुटुम्ब है और कुटुम्बमें वे प्रेम कहा करते हैं? फिर भी उनमें मोहका कोई अर्थ नहीं है। मोहका यही एक अर्थ है कि अपनी सुधि खो दी, लेकिन यह आत्मतत्त्व अपने आपका जो सहजस्वरूप है, उस सहजस्वरूपके परिच्छेदनमें सहजरूपसे सहजसमर्थ है, इसलिए यह आत्मतत्त्व निर्मूढ है।

पदार्थोंकी गुणपर्यायात्मकता— पदार्थ गुणपर्यायात्मक होते हैं। द्रव्यका लक्षण भी सूत्रजीमें यह बताया है कि "गुणपर्ययवत् द्रव्यम" याने आत्मा भी एक द्रव्य है, यह आत्मा भी गुणपर्यायवान है, उन गुणपर्यायों मेंसे पर्यायका परिचय तो इस जीवको लगा है, शीघ्र हो जाता है, किन्तु पर्यायोंकी स्रोतभूत जो शक्ति है। जैसे पूछा जाए कि आखिर यह परिण-

मन किस शक्तिका है ? तो समाधानमें जिसका लक्ष्य बना, वह गुण कहलाता है। जैसे पुद्गलमें हरा, पीला, नीला आदि अनेक रंग होते हैं और एक ही पुद्गल कोई ले लो, जो रंग बदलता है। जैसे आम है, जब वह फूलमें से निकलनेको होता है, तब वह काला होता है और जब कुछ बढ़ता है तो वह नीला रूप रखता है तथा और बढ़ने पर हरा रूप हो जाता है, यह हरा रूप उन दोनों रूपोंमे कुछ देर तक टिका रहता है, फिर पकने पर पीला लगता है और कोई कोई तो विशेष पकाव पर लाल रूप रख लेता है और जब सड़ जाता है, तो धीरे धीरे वे रंग सब दूर होकर एक सफेदसा रूप रख लेता है। एक आम जो जीवनमें इतने रंग बदलता है तो जो भी व्यक्त मालूम पड़ा है हरा, पीला वगैराह, वह तो है रूप पर्यायरूप परिणमन, क्योंकि परिणमन सदा नहीं रहता है। अब इतनी बदल होने पर भी, जब यह पूछा जाए कि बदलता रहता कौन है ? रूपपरिणमन नहीं बदलता रहता, किन्तु रूपशक्ति अन्य अन्य पर्यायोंमें होनेरूप बदलती रहती है। यह परिवर्तन रूपशक्तिका हुआ है। यह रूपशक्ति काली अवस्थामें, नीली अवस्थामें, सर्वअवस्थाओंमें एकरूपसे अन्तःप्रकाशमान् है, वह रूपशक्ति कुछ हरेरूप हो गई, अब वह रूपशक्ति पीलेरूप हो गयी। ये हरे पीले आदिक रंग तो परिणमन हैं, उन परिणमनोंकी आधारभूत रूपशक्ति गुण है। इसी प्रकार पुद्गलमें अनन्तपरिणमन हैं और उन परिणमनोंके आधारभूत अनन्तशक्तियां हैं।

शाश्वत् ज्ञानगुण— ऐसा ही जीवपदार्थमें विश्वास होना, जानकारी होना आदिक अनेक परिणमन चलते हैं। जैसे एक जानकारीका परिणमन देखो कि अभी पुस्तककी बात जान रहे हैं तो थोड़ी देर बाद घरकी बात जान रहे होंगे तो ये जानकारियां बदलती रहती हैं। अभी कुछ जानकारी है, बादमें और कुछ जानकारी हो तो ये जानकारियां, ये सब परिणमन हैं, विनाशीक हैं, मिटती हैं, नई होती हैं, पर ये सब जानकारियां जो क्रमसे अनन्त हो जाती हैं, ये सब एक ज्ञानशक्तिमें पिरोए हुए मालाके दानेकी तरह हैं। ज्ञानशक्ति शाश्वत् है, उस ही ज्ञानशक्तिका परिणमन इस पुस्तककी जानकारीरूप है तो उस ही ज्ञानशक्तिका परिणमन थोड़ी देर बाद गृहस्थकार्यकी जानकारीरूप हुआ, इस ही ज्ञानशक्तिके परिणमन चल रहे हैं। वहां जो ज्ञानशक्ति है, उसको कहते हैं सहजज्ञान। जो परिणमता नहीं है, जो बदलता नहीं है, एकरूप रहता है, जबसे आत्मा है तबसे यह स्वभाव है। कबसे है यह आत्मा ? अनादिकालसे। तो यह ज्ञानस्वभाव भी अनादिकालसे है। जब तक आत्मा रहेगा तब तक यह रहेगा। कब तक आत्मा

रहेगा ? अनन्तकाल तक अर्थात् सदाकाल तक और तब तक यह सहज-ज्ञान बराबर रहेगा ।

आत्मतत्त्वकी सहजभावात्मकता—ऐसे सहज ज्ञानरूप इस ही प्रकार दर्शनके समस्त परिणमनोंका आधारभूत सहज दर्शनरूप और सुख का आधारभूत सहजसुखरूप और शक्तिका आधारभूत सहजवीर्यरूप यह आत्मतत्त्व है, यही हमारा मर्म है, इससे आगे आत्मामें विकल्प मचाया जाता है, बस वहींसे विपदा शुरू हो जाती हैं। मैं अमुक नाम वाला हूं, ऐसे सम्बन्ध वाला हू, कहा हैं ये सर्वविकल्प सम्बन्ध इस आत्मतत्त्वमें ? यह तो सहजशक्तिस्वरूप है। इस मर्मका जिन्हें परिचय नहीं है, वे पुरुष ही संसारमें जन्ममरण बढाते रहते हैं।

आत्माका परिच्छेदन धर्म— भैया ! धर्मपालनके लिए क्या करना है ? अपने ही भीतरमें प्रवेश करके उस सहजतत्त्वमें रमना है, आत्मामें लगना है, बस यही धर्म करना है, सब भ्रमोंको दूर करना है, यही धर्म तो करना है। यह आत्मतत्त्व परमधर्मका आधारभूत जो निज परमात्मतत्त्व है, उस सहजस्वरूपका परिच्छेदन करनेमें समर्थ है। जानना और परिच्छे-दन दोनोंका यद्यपि एक ही अर्थ है, पर विधिमें अन्तर है। जैसे इगलिश भाषामें इसका ज्यादा ख्याल किया जाता है, एक ही अर्थके कई मायने दिए हैं। जैसे देखनेके सी, परसीव और लुक आदि जितने वर्ब हैं, उन सबका अर्थ सूक्ष्मदृष्टिसे जुदा-जुदा है। किसीका अर्थ किसीसे मिलता नहीं है। इसी तरह हिन्दी और संस्कृतके शब्दोंमें भी जितने शब्द हैं, उन समस्त शब्दोंका अर्थ तो सूक्ष्मदृष्टिसे बिल्कुल जुदा जुदा है। स्थूलदृष्टिसे एक ही बात कह सकते हैं।

शब्दभेदसे अर्थभेद—जैसे जिसको स्त्री कह दिया, उसीको भार्या कह दिया, कलत्र कह दिया, दार कह दिया, महिला कह दिया, अबला कह दिया—ये सब स्त्रीके नाम हैं, पर सबके अर्थमें अन्तर है। स्त्री उसे कहते हैं जो गर्भ धारण करे अथवा गर्भधारणके योग्य हो, यह स्त्री शब्दका अर्थ हुआ। भार्या—जो अपनी गृहस्थीका भरण-पोषण एक जिम्मेदारीके कर सकनेमें समर्थ हो, उसका नाम भार्या है। कलत्र—कल मा[illegible] पतिका शरीर, पुत्रका शरीर, उन सब शरीरोंकी रक्षा करनेमें [illegible] बच्चोंको नहलाना, धुलाना, संभाल करना स्त्री करती है। [illegible] करते हुएमें उसका नाम स्त्री नहीं है, उसका नाम कलत्र [illegible] वारण करा दे, अलग करा दे, उसका ही नाम दार [illegible] ही भेद हुआ।

जैसे पुरुष, मानव, मनुष्य इत्यादि अनेक शब्द हैं, पर अर्थ जुदा ही जुदा है। पुरुष उसे कहते हैं जो आत्माका स्वरूप है, स्वभाव है, उसकी भावना में अपनी हिम्मत लगाकर यत्नशील जो हो रहा हो, उसका नाम ही पुरुष है। मानव—जो मनुकी संतान हो अर्थात् जिसके पुरखे पहिले मनु आदिक कुलकार थे। जिसकी परम्परासे जो इस जड़में रहता है, उसका ही नाम मानव है। मनुष्य—जो मनके द्वारा हित अहितका विवेक करने मे समर्थ हो। कहनेको तो एक ही आदमीको सब कुछ बातें कह डालते हैं, पर शब्दोंके अर्थ न्यारे-न्यारे हैं।

जानन और परिच्छेदनमें सूक्ष्मभेददृष्टि— ऐसा ही जानना और परिच्छेदन दोनोंका स्थूलरूपसे अर्थ एक है, फिर भी जानना तो मात्र एक विधिरूप काम है और परिच्छेदन अनेकको छोड़कर किसी एकको चुन लेना, उसका नाम है परिच्छेदन। जैसे थालीमें चावल रखे हैं, यह अब भी जान रक्खा है कि ये चावल हैं और जिस समय बीन रहे हैं, उस समय भी जान रहे हैं कि यह चावल हैं, पर बीनते हुएकी स्थितिमें चावलके जानने का नाम परिच्छेदन है और सीधे थालीमें पडे हैं, उन्हें जाननेका नाम ही जानना है। आत्मतत्त्वके परिहारसहित आत्मतत्त्वमें उपयोग पहुंचनेका नाम परिच्छेदन है। यह आत्मतत्त्व निज परमधर्मके आधारभूत निजतत्त्व के परिच्छेदनमें समर्थ है, इस कारण यह निमूढ है।

शुद्ध सद्भूतव्यवहारनयमें आत्माकी निमूढता— यह आत्मतत्त्व दूसरी प्रकारसे निमूढ है, इस बातको भी समझाना है। अब तक जो भी निमूढता बताया है, वह सहजस्वरूपमें बताया है, किंतु केवल शक्ति-मात्रके रूपमें ही निमूढता नहीं है, किन्तु जगत्के समस्त द्रव्यगुणपर्यायोंको एक ही समयमें जाननेमें समर्थ जो निर्मल केवलज्ञान है, उस केवलज्ञानकी अवस्थाका भी इसमे स्वभाव पड़ा है, इस कारण यह निमूढ है। जैसे दीपक को प्रकाशक कहनेमें दो पद्धतियोंसे प्रकाश समझमें आता है, एक तो खुद ही खुदको प्रकाशमय बनाए हुए है, स्वयं प्रकाशस्वरूप है। इस पद्धतिसे वह दीपक प्रकाशक है और कमरे भरकी सारी वस्तुएं प्रकाशमें आ गई, इस तरह भी प्रकाशक है। पहिली पद्धतिका प्रकाश निश्चयनयकी दृष्टिसे ही बताया गया है और दूसरी पद्धतिका प्रकाश व्यवहारनयकी दृष्टिसे बताया गया है।

व्यवहारका उपकार— भैया! व्यवहारनय असत्य नहीं होता, किंतु पदार्थमें होने वाली उस एक ही बात को परपदार्थका आश्रय करके वर्णन किया जाए तो वह व्यवहार हो जाता है। जैसे आप क्या करते हैं, इस

समय क्या करते हैं ? क्या दो काम कर रहे हैं, एक ही काम कर रहे हैं, उस एक काम को निश्चयकी दृष्टिसे देखेंगे तो यों कहेंगे कि आपके जो सहज ज्ञानादिक स्वभाव हैं उन स्वभावोंकी वर्तना आप कर रहे हैं। आप अपने ही ज्ञान गुणका ज्ञानवृत्तिसे परिणमन कर रहे हैं। ऐसी बात कहने पर कुछ समझमें नहीं आया होगा। नहीं समझमें आया तो लो हम बताते हैं, आप चौकीको जान रहे हैं, कुर्ताको जान रहे हैं, मंदिरको जान रहे हैं इतने पुरुषोंको जान रहे हैं, यह बात जल्दी समझमें आ गयी होगी, लेकिन यह कथन परकी अपेक्षा लेकर कहा गया है, इस कारण व्यवहार है। ज्ञानगुणका जो परिणमन हो रहा है उस परिणमनको ज्ञानगुणकी ओरसे कहेंगे तो वह कठिन लगेगा। वह निश्चयदृष्टिका वक्तव्य था पर वह झलका क्या, जानना क्या हुआ ? वह झलकका रूप क्या था, इसको समझाने के लिए जब बाह्यपदार्थों का नाम लिया गया तो झट समझमें आ गया।

विकसित निमूढता— इसी प्रकार आत्मतत्त्वकी निमूढता पहिली दृष्टिसे तो सहज अवस्थात्मक सहजस्वरूपका परिच्छेदन करनेमें समर्थ है, ऐसा कहा गया था। अब आखिर वह सहज परिच्छेदन व्यवहारी जनोंको तो समझमें आया। हुआ क्या वहां, सारे विश्वके समस्त पदार्थोंकी झलक बन गयी, जिसकी नहीं बनी है उसमें भी उसकी सामर्थ्य है— ऐसा बताकर आत्माकी निमूढता कही गयी है। इसमें उस सहजस्वभावके शुद्धपरिणमनको दृष्टिमें लेकर वर्णन है। वह केवल ज्ञानपरिणमन जो स्वभावके अनुरूप विकसित हुआ है, आदि सहित है, किन्तु अंतरहित है। ऐसा केवलज्ञान सदा काल तक रहेगा। केवल ज्ञानका अभाव नहीं होता। पर आदि तो होता है। जिस क्षण ज्ञानावरणका क्षय होता है उस क्षणमें केवल ज्ञान आया। अब उसके बाद अनन्त काल तक रहेगा। जितना प्रयोजन है उस प्रयोजन माफिक दृष्टि रखना है। सूक्ष्मदृष्टिसे तो केवलज्ञान भी प्रति समयका एक एक परिणमन है— तो एक क्षणको होता है, दूसरे क्षण में विलीन हो जाता है। पर दूसरे क्षणमें केवलज्ञान ही नवीन होकर विलीन होता है और इन केवलज्ञानोंमें जो जानकारियां चलती हैं वे भी अत्यन्तपूर्ण समान चलती हैं। इस कारण स्थूलरूपसे यह कहना युक्त है कि केवल ज्ञान अनिधन है, ऐसा अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभावका जब वर्णन करनेकी दृष्टि रखते हैं तो यों वर्णन किया जायेगा कि लो यह केवलज्ञान तीन लोक, तीन कालके समस्त चर अचर पदार्थ, समस्त द्रव्यगुणपर्याय इन सबको एक ही समयमें जाननेमें समर्थ है, सहज निर्मल केवल ज्ञानसे

युकता होनेसे यह आत्मतत्त्व निर्मूढ है।

आत्माकी निर्भयता— यह आत्मतत्त्व निर्भय है, भयरहित है। निर्भयता तब प्रकट होती है जब किसी जगह भय न रहे की जगहमें आवास मिल जाय। एक बालक जो घरके द्वारसे बाहर निकट खेल रहा है और पाससे ही कोई भस्म लगाए हुए, विचित्र कपड़े पहिने हुए सिर दाढ़ीके बाल रखाये हुए जा रहा हो तो यह बालक उसको देखकर डर जाता है और डर कर एकदम घरकी ओर दौड़ता है और ज्यों ही दरवाजे के भीतर आया कि वह निर्भयता अनुभव करने लगता है। उस निर्भयता का आधार है भयरहित निज स्थानमें पहुंच जाना। इस लोकमें सर्वत्र भय ही भय हैं। इन सब भयोंसे बचने का उपाय एक यही है कि भयरहित जो निज शुद्ध अतस्तत्त्व है उस शुद्ध अंतस्तत्त्वमें जो कि अनुपम महान दुर्ग है उस दुर्गमें आवास हो जाय, वही जिसका घर बन जाय ऐसा आत्मा निर्भय होता है। अब इस ही विषयमें और वर्णन चलेगा कि आखिर वह शुद्ध अतस्तत्त्व कैसा निर्भयका स्थान है और केवल इतना ही नहीं कि निर्भयताका स्थान हो किन्तु निर्भयरूपसे इस निर्भय स्थानमें रहते हुए यह आत्मा जिनसे भय पा सकता है, उन सबका क्षय भी कर देता है, इस तरहसे निर्भयताका वर्णन चलेगा।

आत्माका निर्भय आवास स्थान— इस आत्माका आवास ऐसे महान् दुर्गमें है जिस दुर्गमें समस्त पापरूप वीर वैरी प्रवेश नहीं कर सकते, मैं उस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हू जिस स्वरूपमें विभाव कर्पायोंका प्रवेश नहीं है। यद्यपि इस आत्मप्रदेशमें ही इन विभाव वैरियोंका जमाव है लेकिन स्वरूपमे जमाव नहीं है। जैसे पानी गरम हो जाने पर यद्यपि गरमी पानी में है, किन्तु पानीके स्वरूपमें गर्मी नहीं है। उस गरम पानीमें भी गरमी की दृष्टिको छोड़कर स्वरूपदृष्टिकी जाय तो वहा गरमी नहीं दिखती यह शुद्ध अंतस्तत्त्व अपने सत्त्वके कारण अपने आपके सहज स्वभावमय यह आप समस्त कर्मवैरियोंके प्रवेश से रहित है अथवा उसमें प्रवेश कठिन है। ऐसे शुद्ध अंतस्तत्त्वरूप महान् दुर्गमें निवास होने के कारण यह आत्मा निर्भय हू।

भावरूप द्रव्यके भावका कर्तृत्व— अभी तक जो इस गाथामें वर्णन आया है वह आत्माकी विशेषता बताने वाला है। उस वर्णनसे शिक्षा मात्र एक यह लेना है कि ऐसा शुद्ध आत्मा उपादेय है। जो पुरुष इस कारण समयसारकी भावनामें परिणत होते हैं वे संसारके संकटोंसे परे जो शुद्ध आत्मा है उसको प्राप्त करते हैं। यह आत्मा सर्वत्र केवल भाव बनाता है

इसके अतिरिक्त कहीं करता कुछ नहीं है। चाहे गृहस्थ हो, साधु हो, मिथ्यादृष्टि हो, कोई भी जीव हो प्रत्येक जीव अपना भाव भर करते हैं, इसके आगे और जो कुछ होता है वह निमित्तनैमित्तिक भावका परिणाम है, पर जीव केवल भाव ही करता है।

उत्तमभावरूप वर्तनेकी प्रेरणा— जैसे नन्हें बालक जब कोई खेल करते हैं, गुड्डा गुड्डीका विवाह खेलते हैं तो उसमें पंगत करते हैं। पंगत में उनके पास दाम पैसा तो हैं नहीं, भोजन सामग्री भी कुछ नहीं है। तो वे कहींसे पत्ते तोड़ लायेंगे सो पत्तोंको रोटी कहकर परोसेंगे। अरे वहां केवल भाव ही तो किया जा रहा है और कुछ नहीं किया जा सकता। भावोंकी वह पंगत है। तो जब भावोंकी ही पंगत है तो उन पत्तोंको रोटी कह कर क्यों परोसें, उसे खाजा कह कर परोसें, भावोंकी ही बात है तो पत्थरके टुकड़ोंको चना कहकर क्यों परोसें, उन्हें बूंदी कहकर परोसें। और जो ऊंचे घरानेके बालक हैं वे यदि ऐसी भावभीनी पंगति करें तो वे चना न सोच सकेंगे। वे बूंदी ही सोचेंगे। भावभरी बातमें भावोंको हल्का करना, भावोंको बड़ा बनाना यह मात्र हो रहा है उन नन्हें बालकों में। इस ही प्रकार साक्षात् वैभव भी हो, घर भी है वहां पर भी ये सब जीव केवल भावोंका ही परिणाम करते हैं, भावोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं करते।

अन्तस्तत्त्वकी विविक्तता— यह आत्मा अमूर्त है। यह छूने से छुवा नहीं जा सकता। यह करेगा क्या दूसरी जगह ? एक पुद्गल भी जो छुवा जा सकता है, रोका जा सकता है वह भी दूसरे पुद्गलमें कुछ नहीं करता। जब बाहरमें ये पुद्गल स्कंध भी अन्य पदार्थोंमें कुछ नहीं कर पाते तो यह अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व बाहरमें क्या करे ? ये जगतके जीव करने करने के भावमें बीमार पड़े हुए हैं, कर कुछ नहीं सकते, किन्तु करनेका परिणाम किया जा रहा है। मैंने ऐसा किया, मैं यों कर रहा हूं, मैं यह कर दूंगा। केवल करने के अभिप्रायको लिए हुए दुखी होता चला जाता है। प्रथम तो इस आत्मद्रव्यको ही देखो तो यह परमें कुछ नहीं करता। फिर इसका सारभूत जो शुद्ध अंतस्तत्त्व है उसको निरखो तो यह कुछ परिवर्तन भी नहीं करता, केवल अपने स्वरूपरूप वर्तता रहता है।

ज्ञायकस्वभावकी निष्पापता— यह कारणसमयसार जिसके सम्बन्ध में ये सब विशेषताएं बतायी गयी हैं, यह आदि अंतसे रहित है, पापरहित है। देखो यह परमात्मतत्त्व निष्पाप है। यह तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है। इसमें द्वितीय किसी पदार्थका सम्बन्ध ही नहीं है, अविनाशी है, महान्

ज्ञानका पुञ्ज है। ऐसा ज्ञानस्वरूपमात्र मैं हूं—इस भावनामें परिणमते हुए जो कोई भी सर्वसंकटोंसे परे आत्मसिद्धिको प्राप्त होता है, उसे अपने इस आत्माका उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त हो जाता है। मोहसे इस जीवपर बड़ा संकट छाया है। है तो अकेला, समस्त परद्रव्योंसे न्यारा, पर झटपट ही चाहे जिस जीवको मान लेता है कि यह मेरा है, मेरे हितरूप है। यह एक बड़ा सकट छाया है। कुछ हो तुम्हारा या कुछ लोभ होता हो तो ये संकट न कहलाए, मगर लाभ रच भी नहीं है, फिर भी अपना मानकर अपने ऊपर ही बोझ लादे जा रहे हैं। यहा किसीका कुछ नहीं है।

रुचि और पूजा— देखो कि जिसको चित्तमें आदरपूर्वक धारण करते हो, पूजा तो उसकी ही कहलाती है। मुखसे चाहे बोलनेका ढग यह बनाओ अथवा न बनाओ, पर चित्तमें जिसका आदर है, उसकी ही पूजा है। चित्तमें यदि इस जगह वैभवका आदर है तो धर्मके प्रसगमे कितना ही व्यवसाय किया जाए, परिश्रम किया जाए, पर आदर किसका है वहा? जिसका चित्तमें भाव बना हो तो पूजा उसीकी है। अपने आपको खोजिए कि मैं किसकी पूजामे बना रहता हू? यदि चित्तमे धनवैभव ही का चित्र बना रहता है, उसका ही शल्य रहता है, उसका ही ख्याल होता है तो यह समझिए कि धनवैभवकी पूजा कर रहे हैं। किसी परिजन इष्टका ख्याल निरन्तर रहता है तो यह मानो कि हम उस इष्ट की पूजा कर रहे हैं। जैसे धनवैभवके सञ्चयकी धुनि रखने वाले लोग अपनी आयके कारण कहीं कुछ नियम ले लेते हैं कि हम रोज दर्शन पूजन करेंगे और यदि नियम नहीं निभाया तो मेरे पापका उदय आ सकता है, धनवैभवमें हानि हो जायेगी। इस भावसे वे दर्शन करने जाते हैं, इस तरह कि अब टाइम हो गया, लो करना पड़ेगा। ऐसी कुछ जबरदस्तीकी सी बात मनमें मानकर धर्मके लिए, दर्शनके लिए १० मिनट समय निकालनेमें कष्ट होता, जबकि ज्ञानतत्त्वके रुचिया श्रावकको चूंकि उसे आदर है इस ज्ञानस्वरूपमात्रमें मग्न रहनेके लिए अन्तस्तत्त्वका, सो उसको जब परिजनोंको पालना पड़ता है, किसी और अन्य अन्य ग्राहकोंसे बात करनी पड़ती है तो भी उसमें आपत्ति ही मानता है।

ज्ञानी और अज्ञानीकी रुचि— कोई दूकान पर अथवा व्यापारमें जुटे रहने पर खुशी मानते हैं और धर्मकार्यमें आपत्ति मानते हैं। अबकि ज्ञानी जीव धर्मकार्यमें खुशी मानता है। उसके लिए सारा समय है और व्यापार आजीविका या परिजन पोषण इनके लिए जबरदस्ती समय निकालता है, करना पड़ता है। जिसके चित्तमें आदर हो, पूजा उसीकी कहलाती

है। अपने आपके सहजस्वरूपका ही आदर रक्खूं, उसकी ही भावना करूं, बाह्य सब जीव परिपूर्ण हैं, अपने अपने भाग्यको लिए हुए हैं, उन से मुझमें रंच भी कुछ नहीं आता है—ऐसा पक्का निर्णय पहिले किया जाए। ये सब हो रहे हैं अपने आप काम। सबके उदय हैं, सबके भविष्य हैं, उनमें मेरी कोई ऐसी करतूत नहीं है कि मेरे ही द्वारा होते हैं। इन बाहरी परिजन सम्बन्धी विकल्पोंको त्यागकर जरा अपने ही आपका जो वास्तविक शरण है, रक्षक है, जिसकी दृष्टि बिना संसारके सब क्लेशोंसे छुटकारा नहीं पा सकते वर्तमान कालमें भी जिसकी दृष्टिके बिना शुद्ध आनन्द नहीं पा सकते हैं—ऐसे अपने आपमें बसे हुए इस चैतन्य महाप्रभुका आदर करो, भावना करो कि मैं इसको ही पूजता हूं। इस शुद्ध अंतस्तत्त्वके पूजनेका साधन चावल और फूल नहीं है, इसकी पूजाका तो साधन स्तवन या चिल्लाना नहीं है, किन्तु रागद्वेषको दूर करके समतापरिणामको अपना लेना, यह ही मात्र इस अन्तस्तत्त्वके पूजनेका साधन है।

अन्तस्तत्त्वकी अनाकुलरूपता— यह समयसार अनाकुल है, अपने स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होता। जन्ममरण, रोग आदि कुछ भी विकार इस आत्मतत्त्वमें नहीं हैं, यह सहज निर्मल है, सहज सुखस्वरूप है। इस निज अन्तस्तत्त्वको समतारससे सदा पूजता हूं। यह किसकी कथनी चल रही है? ऐसे भाव बिना यह सब वर्णन कुछ भी समझमें नहीं आ सकता। यह चर्चा चल रही है अपने आपमें विराजमान परमात्मस्वरूपकी, जिसके दर्शनसे कल्याण होता है, सारी बाधाएं मिट जाती हैं। बाधाएं और कुछ हैं ही नहीं, यह मेरा है-ऐसी कल्पना ही बाधा है। है कुछ नहीं और मानते हैं कि मेरा है, यही तो संकट है। इस आत्माका निजआत्मस्वरूपके अतिरिक्त क्या है भी कुछ? नहीं है। फिर भी यह मानते जाते हैं कि यह मेरा है, यही तो सब अपराध है। अपराध करने वाला तो स्वयं दुखी होता है।

निरालम्बका आलम्बन— इस आत्मतत्त्वमें कोई वर्ण नहीं है और आकार भी नहीं है, यह सर्व अहितोंसे, विकारोंसे परे है, शाश्वत है। एक दो या अनेक किसी भी संख्यामें आता नहीं है, रूप-रस-गन्ध-स्पर्शसे रहित है, पृथ्वी जल आदिक सर्वपिण्डोंसे परे है—ऐसा निरालम्ब सबसे विविक्त शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें जो रति करता है, उसकी ही रुचि रखता है तो वह संसार के संकटोंसे दूर हो जाता है।

मोहका नाच— भैया, मगर मोहका ऐसा प्रबल नाच है कि जैसे

५-७ दिनकी बासी रोटी झोलेमें रखने वाला भिखारी किसीके घरपर रोटी मांगने आया और उसे मालिक यह कहे कि तुझे मैं ताजी पूड़ियां दूंगा, तू इन बासी रोटियोंको फेंक दे, तो उसे नहीं विश्वास होता है और न ही ऐसी हिम्मत बनती है कि वह उन बासी रोटियोंका परित्याग कर दे। यों ही भव भवके भोगे हुए जूठे, बासे इन पञ्चेन्द्रियविषयोंको अपनी कल्पना की झोलीमें रक्खे हुए यह संसारी भिखारी सुख मागने जाता है, धर्मसाधन में, मन्दिरोंमें, सत्संग अथवा अन्यत्र कहीं। उसे गुरुजन समझाते हैं कि तू इन जूठे बासे इन्द्रियविषयोंको अपनी कल्पनाकी झोलीमें से निकाल दे तो तुझको सत्य स्वाधीन निराकुल आनन्द देंगे, परन्तु इस मोहीको न तो यह विश्वास ही होता है और न ही ऐसी हिम्मत जगती है कि मैं इन बाह्यपदार्थोंके मोहको तोड़ दूं और इस शाश्वत् स्वाधीन आनन्दका लाभ लूं।

ऐश्वर्यस्मरण— यह परमात्मतत्त्व घट-घटमें विराजमान् है। निधि न हो घरमें तो गरीब कहलावे, पर घरमें इतनी तो निधि पड़ी हुई है, लाखोंकी, करोड़ोंकी सम्पदा हीरा जवाहरातके रूपमें। पर जिसे पता नहीं है कि मेरे घरमें यह सब सम्पदा पड़ी हुई है तो वह तो दीन ही अपनेको मानेगा। ऐसे ही यह जीव स्वयं तो है आनन्दनिधान परमात्मस्वरूप, पर इसकी खबर नहीं है और बाह्यविषयोंमें अपने हितकी कल्पनाएं करता है तो यह तो दीन होता है, परकी आशा करता हुआ रुलेगा ही संसारमें। इस परमात्मतत्त्वकी मोहियोंको खबर नहीं है।

अन्तस्तत्त्वकी पवित्रता— यह अन्तस्तत्त्व पापरूपी बनोंको छेद देनेमें कुल्हाडेकी तरह है। जहां जिस उपयोगमें यह शुद्ध कारणसमयसार विराज रहा हो, वहां पापका प्रवेश नहीं है, पवित्र वही है और जो ऐसे निज ज्ञायकस्वरूपकी भावनामें रहा करता है, उसका शरीर भी लोकमें पवित्र माना गया है। शरीर कहीं पवित्र नहीं है, पर बडे आफीसरके साथ रहने वाला चपरासी भी लोगोंके द्वारा आदर पाता है। जब तक उस बडे मन्त्रीसे उसका सम्बन्ध है। ऐसे ही ज्ञानभावनावान् आत्मदर्शी इस प्रभुके साथ जब तक शरीरका सम्बन्ध है, तब तक इस पवित्र अंतस्तत्त्वकी संगति के कारण यह शरीर भी पवित्र माना जाता है और जब यह सम्बन्ध बिल्कुल ही छूट जाता है, तब शरीरमें आदर सेवा पूजाका भाव नहीं रहता है।

अन्तस्तत्त्वकी दृष्टिमें स्वाधीनता— यह शुद्ध अंतस्तत्त्व निष्पाप है, परपदार्थोंकी परिणतिसे अत्यन्त दूर है अथवा परपदार्थोंका निमित्त पा

कर होने वाली आत्मामें जो विभावपरिणति है, उससे अत्यन्त दूर है। इसमें रागद्वेष सब शांत हैं, नष्ट हो गए हैं, सत्य सुख जलसे भरपूर है—ऐसा यह समयसार जो काम क्रोध-मान-माया-लोभ आदिक समस्त विकारोंसे परे है वह अतःप्रकाशमान् हे समयसार! मेरी रक्षा करो। भीतरकी बात तो भीतर बनाई जा सकती है। जैसे आमचुनावके समयमें वोट लेने वाले बड़ा जोर देते हैं कि हमको वोट देनी पड़ेगी, पर वोट देते समय वह कितना स्वाधीन हैं कि चाहे कितना ही उसे कोई दबाये हो, पर जिसके लिए मन है, उसको वोट देनेसे कौन रोकता है? चाहे यहां कितनी भी परिस्थितियां ऐसी हों कि जिनका दबाव हो, फिर भी अपने आपमें ही शाश्वत् विराजमान् इस समयसारकी दृष्टि करने चलो तो लड़ने वाले भाई बन्धु स्त्री आदिक इसमें क्या बाधा डाल सकते हैं? यह स्वाधीनकार्य है। हे समयसार! मेरी रक्षा करो।

ब्रह्मस्वभाव— हे निजनाथ! यह मैं उपयोग लायक नहीं हूं कि मैं तुम्हें इतना उठा सकूं और आदर कर सकूं, किन्तु तुम्हारा तो स्वभाव ही ऐसा है कि तुम वर्द्धनशील हो, ब्रह्म कहलाते हो। इस अपने ब्रह्मस्वरूपका भी तो ध्यान करो। मुझमें बल आएगा कहां से? पहिले आप दर्शन तो दें, फिर इस उपयोगमें वह बल प्रगट होगा कि आपको इस ज्ञानदृष्टिसे ओझल न कर सकूंगा। हे समयसार! तुम इस जगत्में जयवंत प्रवर्तो। जिस समयसारमें किसी भी प्रकारका विकल्प नहीं है, जो परभावसे ही भिन्न है, परिपूर्ण है, आदि अंतसे रहित है, जिसके अन्तरमें कोई संकल्प विकल्पजाल नहीं है—ऐसा यह शुद्ध अन्तस्तत्त्व प्रत्येक आत्मामें विराजमान् है। यह मैं परभावसे भिन्न हूं, रागद्वेषादिकसे परे हूं। रागादिकसे परे तो ये मतिश्रुतज्ञान भी हैं, सो परभाव भिन्न हूं, इतना ही विवेक नहीं है, किन्तु यह मैं परिपूर्ण भी हूं, मतिश्रुतज्ञान तो अपूर्ण हैं, मैं मतिश्रुतज्ञानके खण्डविकल्पसे भी परे हूं। यदि इतनेमें केवलज्ञान कहे कि लो यह मैं हूं आत्मस्वभाव, तो ज्ञानी पुरुष उस शाश्वत्स्वभावकी रुचिके केवलज्ञानको भी कहने लगता है कि तुम हो तो हितरूप, पर मेरे स्वरूप नहीं हो, स्वरूपके अनुरूप विकास हो। यदि मेरे स्वरूप होते तो मेरी अनन्तकाल तक ही खबर क्यों नहीं ली? तुम आदिकरि सहित हो, यह मैं ज्ञायकस्वभाव तो आदि अन्तकरि रहित हूं।

निर्विकल्प अन्तस्तत्त्वकी शरणता— लो यह एक चैतन्यस्वभाव मैं हूं। अरे, इसमें एक भी हम कैसे बोलें? एक तब बोला जाता है, जब अन्य संख्याओंको मना किया जाए। एक बोलना भी विकल्प बिना नहीं होता।

ज्ञानानुभवमें रत अध्यात्मयोगी अपने आपको एक ब्रह्मरूप अनुभव नहीं करता, किन्तु ब्रह्मरूप अनुभव करता है। इस एकका भी जहां संकल्प विकल्प नहीं है ऐसे इस शुद्ध आत्मतत्त्वका ही वास्तविक शरण है। हे ज्ञानीसंतों! संसार और भोगसे पराङ्मुख होकर इस संसारके संकटोंका विनाश करने वाले इस ध्रुव आत्मतत्त्वमें दृष्टि क्यों नहीं देते? क्यों अध्रुव, विनाशीक, असार, भिन्न जिनका आश्रय करके केवल क्लेश ही उठाया जाता ऐसे वैभव धन घर परिजन मित्रजन शिष्य, इन परतत्त्वोंमें क्यों दृष्टि लगाये हो? आवो अपने विवेकमार्गसे और अपने आपमें समाये जानेका यत्न करो। यही है धर्मपालन और इसके लिए ही ये समस्त उपदेश हैं। ऐसा यह अन्तस्तत्त्व अपने आपमें है। उसकी दृष्टि करना हमारा धर्मके लिए प्रथम कर्तव्य है।

चित् तत्त्वका सत्य आधार— जैसे बड़ी तेज धूप गरमीसे संतप्त मनुष्य धूपमें गरमीका दुःख सहता हुआ किसी शीतग्राहक मकानके अन्दर का जो शीतलताका अनुभव है उसे नहीं पा सकता है, इसी प्रकार विषय कषायोंके संतापसे तपा हुआ यह प्राणी अपने आपके अन्तरमें बसे हुए सहज ज्ञायकस्वभावके अनुभवरूप परमआनन्दका परिचय नहीं पा सकता। यह अतस्तत्त्वसहज गुणोंका आकर है। जो जीव इस अनुपम स्वाधीन अंतस्तत्त्वको निरन्तर भजता है, अपनी स्वाभाविक परिणतिरूप आनन्द-समुद्रमें अपने आपको मग्न करता है वह पुरुष संसारके समस्त संकटोंसे दूर हो जाता है। इस कारण हे आत्मकल्याणार्थी पुरुषों! जितना करते बने करो, परन्तु अन्तरङ्गमें तो यह अटूट श्रद्धा रक्खो कि मेरी शरण, मेरा रक्षक, मेरा सर्वस्व, चित्स्वरूप यह मेरा शुद्ध अतस्तत्त्व है, सहज ज्ञायक स्वरूप है, इसकी दृष्टि बिना संसारसे हमारा उद्धार नहीं हो सकता। अब इस ही आत्मतत्त्वका कुछ और विशेषणों द्वारा विवरण कर रहे हैं।

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा॥४४॥

अन्तस्तत्त्वकी निर्ग्रन्थता— इस गाथामें भी शुद्ध जीवस्वरूपका वर्णन किया गया है। शुद्ध जीवका अर्थ है केवल जीवका स्वरूप। जीव अपने सत्त्वके कारण किमात्मक है, उस स्वरूपके वर्णनको कहते हैं शुद्ध जीव स्वरूपका वर्णन किया। यह मैं आत्मतत्त्व निर्ग्रन्थ हूं। ग्रन्थि नाम गांठका है, आत्मा गांठ रहित है। संसारी आत्मामें गांठ लगी हुई है परि-ग्रहकी और इसी गांठके कारण इस परिग्रहसे छूटकर जा नहीं सकता।

यह गांठ २४ प्रकारकी है, जिसमें १० गांठें तो बाह्य गांठें हैं और १४ अंतरङ्ग गांठें हैं।

बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितता— बाह्यपरिग्रह है खेत, मकान, पशु, धन, अनाज, नौकर, नौकरानी, वस्त्र, बर्तन, सोना, चांदी, रत्न— ये सब बाह्यपरिग्रह हैं। बाह्यपरिग्रह वस्तुत परिग्रह नहीं कहलाते, किन्तु यह जीव इन पदार्थोंको अपनाए तो उनका नाम परिग्रह बन जाता है। वे सब चीजे तो स्वतन्त्र हैं। जैसे आप सत् पदार्थ हैं वैसे ही ये पुद्गल भी सत् पदार्थ हैं। इनका नाम परिग्रह कैसे पडेगा ? इनके अपनानेका भाव हो तो परिग्रह नाम होता है। जिसके अतरङ्गमें परिग्रहका संस्कार लगा है उसके बाह्यमें ये सब परिग्रह ऐसे निकट चिपके से रहते हैं कि इनका छोड़ना मुश्किल होता है। कल्याणार्थी पुरुषको इसी कारण चरणानुयोगकी विधिसे इन बाह्यपरिग्रहोंका परित्याग करना चाहिए। जैसे लोग कहते हैं ना कि न रहेगा बास, न बजेगी बासुरी। यों ही कर लीजिए। बाह्यका परित्याग किया तो भले ही कुछ दिन तक इसको ख्याल सतायेगा, पर कब तक सतायेगा, ख्याल छूट जायेगा। तो जो हमारे विभावोंके साधन हैं, वे परिग्रह कहलाते हैं और अतरङ्गमें १४ प्रकारके परिग्रह तो परिग्रह हैं ही। इन २४ प्रकारके परिग्रहोंके परित्यागरूप भावको निर्ग्रन्थ भाव कहते हैं।

आत्मसाधनाकी वृद्ध अवस्था— आत्माकी साधनाकी दिशामें जब कोई पुरुष बहुत अधिक बढ़ता है तो उसकी स्थिति हो जाती है बाह्यमें नग्नरूप। ऐसा निर्दोष आत्मसाधक कोई पुरुष हो कि जिसे अन्य किसी वस्तुका कुछ भी ख्याल न रहे तो स्वय ही बाह्यपरिग्रह छूटते हैं और वह उनके ग्रहण करनेका परिणाम भी नहीं रखता, ऐसी तो बाह्यमें स्थिति होती और अन्तरङ्गमें ऐसी निर्विकार स्थिति होती है कि बालकके समान साधुको निर्विकार बताया है, जैसे बालक कभी कोई विकार सम्बधी ख्याल ही नहीं कर सकता। बालकोंमें विकारका अभाव है। तो उनके तो अज्ञान अवस्थामें उस बाल्यावस्थाके कारण विकारोंका अभाव है, किन्तु साधु पुरुषोंमें अपनी ज्ञान अवस्थामें विकारोंका अभाव है, फिर कैसे साधु वस्त्र ग्रहण करे ?

साधुकी निवृत्तिमूलक चर्या— भैया ! साधुकी चर्या लोगोंको प्रवृत्तिरूप मालूम पड़ती है, किन्तु उनकी चर्याका आधार निवृत्ति है। यों ही कोई सोचे कि साधुसंत एक बार आहार करते हैं अरे उसे यों सोचो कि आहारविषयक उनके संज्ञा नहीं रही अथवा अत्यन्त शिथिल है, सो बार बार कैसे आहार करें और शरीर साधने के लिए २४ घंटेमें एक बार ही आहार

पर्याप्त होता है। यों छूट गया बारबारका आहार। साधुजन देखकर जीव दया करके चलते हैं और इसे यों सोचो कि जिसकी दृष्टि शुद्ध जीवतत्त्व की बन गयी है और अपने ही स्वरूपके समान संसारके सब जीवोंका स्वरूप निरखते हैं, अब बिना देखे कहा चला जाय उन साधुजनों से, उनसे हिंसा सम्भव नहीं है। उनके शरीरकी प्रवृत्तिमें निवृत्ति निरखते जावो। प्रवृत्ति हो निरख करके उनका मर्म नहीं पा सकते। निवृत्तिको देखकर मर्मका परिचय होगा।

साधुकी आहारचर्याके मूलमें निवृत्ति— साधुजन खडे ही खडे आहार करके चले आते हैं। अरे यों प्रवृत्तिसे मत देखो, उन्हें इतना अवकाश नहीं है कि बहुत समय गृहस्थोंके घर आहार करनेमें लगाए। इससे शीघ्रतासे खडे ही खडे आहार करके चले आते हैं। कोई गृहस्थके घर अपनी पुजावाके लिए या पीछे भी बड़ा समारोह बनानेके लिए आहार के बाद अथवा कुछ मन मौज वार्तालापमें समय गुजारनेके लिए श्रावकके घर घटे दो घटेको बैठ जाए तो उसने निवृत्तिकी नीतिका उल्लंघन किया। साधु संत बिजलीकी तरह चल देते हैं और आहार शुद्ध क्रिया करके तुरन्त वापिस चले जाते हैं। समय ही उनको इतना नहीं है कि गप्प सप्प करें अथवा बैठकर मौजसे बडे विश्रामसे धीरे-धीरे खायें। इस लायक उनकी वाञ्छा भी नहीं रही। साधुकी प्रत्येक चर्यामें निवृत्ति अंशसे निरखते जाइए।

सामायिककी निवृत्तिमूलकता— लोग यों देखते हैं कि साधु तीन बार सामायिक करते हैं—उसे यों देखिये ना कि साधुजन अर्द्धरात्रिके समय भी आत्मचिंतनके लिए समय निकालते हैं। उसका कारण यह है कि चार पांच घन्टे अन्य-अन्य आचरणोंमें समय गया। उसकी सावधानीके लिए प्रत्येक चार पांच घंटे बाद सामायिकमें बैठ जाता है। श्रावकोंकी भी यह बात है। सुबह ६ बजे सामायिक हुई, अब ५ घन्टे बाद फिर जो क्रियाएं की हैं उनका पछतावा, उनकी आलोचना करनेके लिए फिर दोपहरको सामायिक की। फिर इसके बाद ४-५ घन्टे यहां वहांकी बातोंमें बीते तो फिर पछतावाके लिए, आलोचनाके लिए अतरतत्त्वकी भक्तिकेलिए फिर सामायिक मे बैठ गए और शामके ६ बजे से और सुबहके ५-६ बजे तकके बीचमें सोनेका टाइम निकाल दो तो उसके भी अन्दर ५ घन्टे रह जाते हैं। ५, ५ घंटेमें क्रियावोंका प्रायश्चित्त आलोचनाके लिए सामायिक बनी हुई है। हर बातमें निवृत्ति अंश निरखते जाइए।

परम वैराग्य— आत्मसाधक इतना तीव्र वैरागी है कि उसके पास

धन वैभवका रखना तो दूर रहो, एक वस्तुको भी धारण करनेमें असमर्थ है। यथेन्कु बालकवत निर्विकार निर्ग्रन्थरूप रह जाता है, यह तो है व्यवहार की बात, पर यह अन्तस्तत्त्व तो बाह्य-वर्मे १४ प्रकारके परिग्रहोंसे दूर बने रहनेके स्वभाव वाला है। यह तो अमूर्त है। इसमें तो रागादिक भाव भी नहीं हैं। यह तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है, बाह्यपरिग्रहोंकी तो चर्चा ही क्या ? यों यह आत्मतत्त्व निर्ग्रन्थ है। यह आत्मतत्त्व नीराग है, रागरहित है। राग एक उपलक्षण है। रागके कहनेसे समस्त विकार आ गये। राग-द्वेष मोह सभी जितने चेतनकर्म हैं उन चेतनकर्मोंसे रहित इस अंतस्तत्त्व का स्वभाव है।

अन्तस्तत्त्वकी नीरागता— चेतन कर्म यह न चेतनतत्त्वमें शामिल है, न अचेतनमें शामिल है किन्तु इन्हें चिदाभास कहा गया है। अचेतन तो यों नहीं है कि इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं पाया जाता है। राग-द्वेष भाव चेतन भी नहीं हैं कि ये कोई सद्भूत चीज नहीं हैं, सत् पदार्थ नहीं हैं, स्वभाव नहीं हैं, गुण नहीं हैं, एक उपाधिके सन्निधानमें छाया हुआ है, ये सभी तो माया हैं— काया, खाया, गाया, छाया, जाया, पाया ये सारी मायाएं हैं। कोई इनमें सत स्वरूप हो तो बतावो। तो समस्त अचेतन कर्मोंका अभाव होने से यह अन्तस्तत्त्व स्वरसत. नीराग है। देखो आत्मा तो एक स्वरूप है किन्तु निषेधमुखेन इसका वर्णन करते जाइये तो कितने ही दिन गुजारे जा सकते हैं। एक निज शुद्ध स्वरूपके अतिरिक्त जितने परतत्त्व हैं, पर भाव हैं उन सबका निषेध करते जाइए।

स्वभाव और विभावका बेमेल प्रसग— भैया ! है यह कोरा शुद्ध ज्ञायकस्वरूप, सर्वकल्याणोंका आधार स्वयं सुखस्वरूप परमयोगीजनों का ध्येयभूत। इतनी अपूर्वनिधि तो हम आपके अन्तरमें है और उसकी श्रद्धा न होने से रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले इस पुद्गलमें और मांस हड्डी चाम वाले इस असमानजातीय पर्यायोंमें य. ही सार है—ऐसा मान रक्खा है। एक देहाती कहावत है— कामी न जाने जात कुजात, नींद न जाने टूटी खाट। भूख न जाने जूठो भात, प्यास न जाने धोबी घाट ।। काम ऐसा वैरी है, ऐसी आग है जिसमें झुलसा हुआ प्राणी अपने आत्मस्वरूपके अवलोकन का पात्र भी नहीं हो सकता। सार कुछ नहीं है और विडम्बना इतनी बड़ी बन गयी है। वे गृहस्थ भी धन्य हैं जो घरमें रहते हुए भी निष्काम और ब्रह्मचारी रहते हैं। अब भी ऐसे जवान मिलेंगे ३०, ४०, ५० वर्षकी उम्रके कि घरमें स्त्री सहित रहते हैं, मगर भाई बहिन जैसा नाता बनाकर पूर्ण ब्रह्मचर्यसे रहते हैं।

मिथ्यात्वका ऐब— सब ऐबोंमें दो ऐब विकट हैं— एक तो मिथ्यात्व का ऐब—मोह। यह महा वेवकूफी है कि भिन्न पदार्थोंमें यह कल्पना बनाई जा रही है कि यह मेरा है। एक तो महान ऐब यह है। गृहस्थावस्था है तो परिग्रहकी रक्षा करो, मना नहीं करते, पर दिनमें एक आध बार यह तो सोच लो कि मैं तो सबसे न्यारा केवल शुद्ध ज्ञानमात्र चेतनतत्त्व हू। आज यहा हैं, आयुका क्षय हो जाय तो कल और कहीं हैं, क्या है मेरा यहा, ऐसे शुद्ध विविक्त आत्मस्वरूपकी सुधि तो ले लिया करो, अनुभव जब हो तब हो। पर सुधि लेनेमें क्या कुछ जोर पडता है? धर्मपालन और करना हो जाता है तो पहिला ऐब कठिन है यह मिथ्यात्वका।

कामवासनाका ऐब— दूसरा ऐब कठिन है कामवासनाका। जैसे देखो कि जितनी भी ये कषायें हैं सबमें ऐसा लगता है कि निराट वेवकूफी की जा रही है। खुदको खुदका पता नहीं लगता, क्यों कि वह तो कर ही रहा है। दूसरे जानते हैं कि कितनी मूढ़ताकी बात की जा रही है। प्रथम तो अपने से ही लगा हुआ यह शरीर सुहा जाय तो यह भी विडम्बना है। मैं बहुत अच्छा हू, साफ रहता हू, ताकत्वर हू, सुहावनी शकल है। अपना ही शरीर अपनेको सुहा जाय, यह भी मूढ़ता है और फिर दूसरेका शरीर सुहा जाय तो वह और डबल मूढ़ता है। दूसरोंका शरीर सुहा जाने मे तो कामवासनाको बल मिलता है और अपना शरीर सुहा जानेमें मिथ्यात्वको बल मिलता है।

नीराग स्वभावकी दृष्टिकी प्रेरणा— यह अतस्तत्त्व समस्त मोह-राग द्वेषात्मक चेतन कर्मोंके अभावसे नीराग है। ऐसा नीराग स्वच्छ शुद्ध ज्ञायकस्वरूप इस आत्मतत्त्वकी सुधि लो। अनादिसे तो अपूर्व निधिको भूला चला आया है, जो जब भी मुक्त हो तब ही भला। अनन्त समय तो गया ही है, अब बचा हुआ समय यदि ठीक तरह रख दिया जाय तो यह एक बडी सावधानीका कार्य होगा। इस अपने अतस्तत्त्वको नीराग स्व विकारोंसे रहित केवल ज्ञानस्वरूप देखो। यह कारणसमयसार रागादिक विकार रहित है।

शल्यका क्लेश व स्वभावकी नि:शल्यता— अब बतला रहे हैं कि यह आत्मा नि:शल्य है। चीज सब वहीकी वही है, पर किन्हीं दृष्टियोंसे फेरफार करके कुछ मर्मोंके साथ उस ही तत्त्वको दिखाया जा रहा है। शल्य उसे कहते हैं जो काटेकी तरह चुभती रहे। जैसे पैरमें काटा लग जाय तो चाहे वह एक सूत ही लम्बा कांटा क्यों न हो, चुभता रहता है, चलते हैं तो पैर ठीक तरहसे नहीं धरा जाता है। देखो शरीर तो है डेढ़

मनका और इसमें दो रत्तीका भी दसवां बीसवां हिस्सा बराबर एक सूत लम्बा कांटा पड़ा हो तो वह चुभता रहता है। बड़े बड़े हाथी मदोन्मत्त मन वाले जो किसीसे वशमें न आए, कांटेसे वशमें आ जाता है। एक भी कांटा पड़ा हो, पैरमें लग जाय तो वह बेहाल हो जाते हैं। तो जैसे कांटा शरीरमें चुभता है इसही प्रकार यह शल्य आत्मामें चुभती रहती है। मन कहीं है, आखें कहीं हैं, दिमाग कहीं है। नशा पीने वाले पुरुषके जैसे हाथ पैर आंखें अटपट फैल जाती हैं इसी तरह इस मोह मद वालेके भी ये सब अन्य बहिरङ्ग साधन अटपट बिखर जाते हैं।

निदान शल्य-- ये शल्यें हैं तीन—निदान, माया और मिथ्यात्व। निदान शल्य है इन्द्रियके विषयोंके साधनोंकी वाञ्छाए बनाए रहना। मुझे ऐसा मिल जाय, परभवमें मैं इन्द्र हो जाऊँ, देव बन जाऊं, राजा बन जाऊं, या इसी भवमें लखपति हो जाऊं, करोड़पति हो जाऊं, अब सोचते जाइए ऐसे मेरे पुत्र हो जाएं, ऐसी स्त्री मिले, जितने प्रकारके मनोविषयक व इन्द्रियविषयक साधनोंकी वाञ्छाए लग रही हैं वे इस आत्मामें शल्यकी तरह चुभ रही हैं। कांटा लगने पर जैसे चैन नदारत हो जाती है ऐसे ही शल्यके लगनेसे शांति भी नदारत हो जाती है। जब पुराणोंमें कोई कथा सुनते हैं, अमुक साधुको राजा होनेका निदान बांधा था तो देखो वह राजा हो गया। तपस्यामें बड़ा प्रभाव है। बात वहां कुछ और होती है सोचने लगे कुछ और बात तो यह हुई कि उनकी तपस्या इतनी ऊंची थी कि वे बहुत ऊंचे इन्द्र बनते। इससे भी और ऊंची तपस्या थी कि मुक्त हो जाते, पर मांग लिया भुस, राजवैभव, सो उतना ही रह गये। लखपतिको १००) का कर्जा कौन नहीं दे देता ? निदानसे बिगाड़ ही होता है, आत्महित नहीं।

निदानोंके विस्तार-- निदाननामक शल्य इस जीवको निरन्तर कांटे की तरह पीड़ा दिया करती है। निदान भी अनेक प्रकारके हैं, अशुभ निदान और शुभ निदान। अशुभ निदान भी दो तरहसे होता है—एक धर्म करके अशुभ इच्छा करना। जैसे कोई तपस्वी किसी शत्रुके प्रति ऐसा परिणाम करे कि मैं परभवमें इससे बदला लूँ यह अशुभ निदान है और एक साधारणरूपसे ही धर्मके एवजमें नहीं, किन्तु इच्छा बनाता रहे वह भी अशुभ निदान है। धर्म समागमकी वाञ्छा करना सो शुभ निदान है। निदान अपनी-अपनी योग्यतानुसार सभी शल्य पहुचाते हैं।

मायाशल्य—छल कपट होना सो माया शल्य है। जो पुरुष छल कपट रखता है, वचनोंसे कुछ कहा करता है, मनमें कुछ बात बनी रहा

करती है वह अंतरङ्गमें दुःखी रहा करता है। भले ही मायाचारी पुरुष ऐसा समझे कि हम दूसरोंको चकमा दे देते हैं, धोखा दे देते हैं, पर असलियत यह है कि कोई किसी दूसरेको धोखा नहीं देता—खुद ही धोखा खाता है। मायाशल्यमें मायाकी शल्य तो है ही, किन्तु मायाको भी कोई जान न पाये उसको छिपानेकी भी एक शल्य रहा करती है। पर अवसर माया छिप नहीं पाती। कोई दूसरेकी माया जाहिर करे अथवा न करे, पर सब मालूम हो जाता है कि अमुक पुरुष ऐसा मायाका परिणाम रखता है। धर्मकी बात सीधीसी है, किन्तु धर्म वहां ही प्रवेश कर सकता है जिसका हृदय सरल हो।

मायाकषायके शल्यपनेका कारण— चार कषायोंमें से माया कषाय को शल्यमें कहा है। क्रोध, मान, लोभमें भी भयकर कषाये हैं, पर इनकी शल्यमें गिनती नहीं की है। इन कषायोंमें तो जब कषाय आए तब पीड़ा होती है। पर माया शल्य वाला तो अहनिश भयशील रहा करता है। दोगलापन चुगली ये सब मायाके ही परिवार हैं। दोगला नाम है जिसके दो गले बन जाएँ, अमुकसे कुछ कह दिया, अमुकसे कुछ कह दिया। चुगला नाम है जिसके चार गले बन जायें, चार जगह बात फैला दी और यह भी कहता जाता कि कहना मत किसीसे। तो एक यह भी शल्य हो गयी। मैंने उससे कहा था कि कहना मत। वह कह न देवे। मायामें कितनी ही शल्य बन जाती हैं। क्रोधमें शल्यका विस्तार नहीं है। मानो क्रोध किया और पछतावा हो गया। मान लोभमें भी बात आयी, पछतावा किया, हो गया। मायामें तो शल्योंके ऊपर शल्य बिछती चली जाती है।

मिथ्या शल्य— तीसरी शल्य है मिथ्यात्वकी, जो पदार्थ जैसा नहीं है उसके सम्बन्धमें वैसी बात विचारना, विपरीत बात सोचना इसका नाम है मिथ्याशल्य। सब शल्योंका मूल तो मिथ्यात्व ही है। जिसको अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूपका परिचय नहीं है तो वह निदान भी करता है, मायाचार भी करता है। तो सब क्लेशोंका मूल, शल्योंका मूल मिथ्यापरिणाम है। ऐसे मिथ्यात्व शल्य, माया शल्य और निदान शल्य—इन तीन शल्योंमें यह जगतका प्राणी निरन्तर संक्लिष्ट बना रहता है, किन्तु हे आत्मन्! अपने स्वभावको तो निरखो, अन्तरमर्मको तो देखो। तू तो अमूर्त ज्ञानानन्दस्वभाव है। इसमें तो रागादिक विभावोंका भी प्रवेश नहीं है। शल्य कहांसे होगा? ऐसा यह आत्मतत्त्व तीनों प्रकारके शल्योंसे परे है, निःशल्य है।

आत्माकी सकलदोषनिर्मुक्तता— यह आत्मतत्त्व समस्त दोषोंसे,

मुक्त है। अपने आपको अपने स्वरूप द्वारसे निरखिये। यह शरीर मैं नहीं हू इसलिए शरीरसे सम्बन्धित है, ऐसी दृष्टि न करिये। आकाशवत् निर्लेप अमूर्त भावमात्र ज्ञानानन्द स्वभावमय यह मैं आत्मा हूं। इस आत्मामें न तो शरीरका सम्बन्ध है अर्थात् न शरीरका प्रवेश है, इस मुक्त स्वरूपमें न द्रव्य कर्मका प्रवेश है, और यह भावकर्म भी मेरा स्वरूप नहीं है। तीनो प्रकारके दोषोंसे मैं मुक्त हूं। ये समस्त दोप इन तीनों दोषोंमें आ जाते हैं। जिनमें शरीर तो दूरका दोष है। द्रव्यकर्म मेरे निकट वाला दोष है और भावकर्म अपने आपमें बसा हुआ दोप है। तीनों प्रकारके दोषोंका अभाव है इस मुक्त शुद्ध जीवास्तिकायमें। यह तो अपने शुद्ध द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप है, इस कारण यह आत्मतत्त्व सकल दोषनिर्मुक्त है।

आत्मचर्चा— भैया! यह चर्चा अपने आपके सही स्वरूपकी चल रही है कि मैं वास्तवमें कैसा हू और भूलसे परदृष्टि करके कैसा बन गया हू? यह मैं आत्मतत्त्व निष्काम हूं। इस निज परमतत्त्वमें वाञ्छाका प्रवेश ही नहीं है। इच्छा करना उपाधिके सन्निधानमें होने वाली एक छाया है, झलकती है, वह मेरे स्वभावसे उत्पन्न नहीं होती। स्वभावदृष्टि करके देखो तो मेरा स्वरूप वही है जैसा परमात्माका स्वरूप है। आत्मा और परमात्मामें परम और अपरमका फर्क है। आत्मा तो एक है, एक स्वरूप है— व्यक्तिभेद अवश्य है, क्योंकि अनुभव जुदा-जुदा है, परन्तु जाति पूर्णतया एक है।

स्वरूपकी अपेक्षासे भव्य अभव्यकी समानता— जातिकी दृष्टिसे तो भव्य और अभव्यमें भी अन्तर नहीं है। अभव्य भी ज्ञानानन्दस्वभावी है, भव्यके भी केवलज्ञानकी शक्ति है और अभव्यके भी केवलज्ञानकी शक्ति है। फर्क यह हो जाता है कि भव्यके केवल ज्ञानकी शक्तिके व्यक्त होनेकी योग्यता है और अभव्यके केवलज्ञानकी शक्तिके व्यक्त होनेकी योग्यता नहीं है। यदि अभव्यमें केवलज्ञान शक्ति न हो तो अभव्यके केवलज्ञानावरण माननेकी जरूरत क्या है? केवलज्ञानावरण उसे कहते हैं जो केवलज्ञानको प्रकट न होने दे। भींतमें केवलज्ञानकी शक्ति नहीं है तो भींतके क्या केवलज्ञानावरण चिपटा है? ऐसे अभव्य जीवोंके यदि केवलज्ञानकी शक्ति न हो तो वहा पर केवलज्ञानावरण क्यों होगा?

ज्ञायकस्वरूपका एकत्व— जाति अपेक्षा, स्वरूप अपेक्षा समस्त जीव एक रूप हैं। सो जातिकी अपेक्षा तो एक स्वरूप हैं उसे मान ले कि व्यक्ति सब एक ही है। बस यही मिथ्या अद्वैतवाद हो जाता है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपमें अद्वैत है अर्थात् स्वय अपने आपमें केवल है। ऐसे

अद्वैतमें पद्वैत अनन्त आत्माओंका स्वभाव एक अद्वैत है। जाति अपेक्षासे निहारा जाय तो सभी जीव शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हैं।

आत्माकी निष्कामता— परम शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिमें इस मुझ अतस्तत्त्वमें किसी भी प्रकारकी इच्छा नहीं है। इसलिये यह मैं निष्काम हू। इच्छा एक दोष है। मोक्ष तक की भी जब तक इच्छा रहती है तब तक मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। मोक्षकी इच्छा कुछ पद्धतियों तक कार्यकारी है किन्तु जब तक मोक्षकी इच्छाका सद्भाव है तब तक मुक्ति नहीं है। मुक्ति तो अत्यन्त अनाकांक्ष स्थितिके कारण हुआ करती है। इस प्रकार यह मैं आत्मा सब कामनावोंसे रहित होनेसे निष्काम हू।

आत्माकी निष्क्रोधता— यह मैं अंतस्तत्त्व निष्क्रोध हू, क्रोधरहित हू। शुभ अथवा अशुभ सभी प्रकारके परद्रव्योंकी परिणतिया मुझमें नहीं हैं, इस कारण मैं निष्क्रोध हू। देखो इस सम्बन्धमें उन्हीं शब्दोंसे क्रोधके कारण भी ज्ञात हो जाते हैं। दूसरे द्रव्योंकी परिणतिको अपनानेमें अथवा उस परिणतिको अपने से सम्बन्ध मानने पर क्रोध हो सकता है। इस पुरुषको क्रोध कहासे होगा तो सकल द्रव्यों की परिणतिसे अपनेको भिन्न निरखता। रहे क्रोधको वहा कहां अवकाश है ? वह तो ज्ञाता द्रष्टा रहता है। जान लो यह बात भी। मात्र ज्ञाता रहनेमें इस जीवको आनन्द है, पर किसी परको इष्टरूपमें अपनानेसे अथवा अनिष्टरूपमें अपनाने से यहा क्लेश होता है।

सम्यक्त्वके अभावमें क्षोभ— लोकमे सबसे अचिन्त्य उत्कृष्ट वैभव है तो वह सम्यग्दर्शन है। जब तक सम्यक्त्वका अभ्युदय नहीं होता तब तक आत्माको शांति आ नहीं सकती। जब यह उपभोग अपने स्वभावका लगाव छोड़कर परपदार्थोंमें लगाव रखता है तो इसके क्षोभ होता है। क्षोभका और कोई दूसरा कारण नहीं है। बाहरी पदार्थ यों परिणम गए, इसलिए क्षोभ हो गया—यह उपचार कथन है। वस्तुतः मैं अपने स्वभावसे चिगकर बाह्यपदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट माननेका उपयोग करने लगा, इसलिए क्षोभ होता है।

परपरिणति अपनानेमें क्रोधका वेग— जितनी अधिक दृष्टि बाह्य पदार्थोंकी परिणतिमें होगी उतना ही अधिक क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय प्रबल होगी। ज्ञानीसत समस्त परपरिणतियोंको अपने से भिन्न देखता है, इसलिए क्रोध नहीं होता है और जो अपने आपमें उत्पन्न होने वाली विभावपरिणतियोंसे भी अपने आपको भिन्न देखता है उसे भी प्रकारका क्षोभ भी नहीं होता है। यह मैं आत्मतत्त्व परपरिणतियोंसे दूर

हूं और अपने आपमें भी उठने वाले नैमित्तिक भावोंसे परे हूं, इस कारण में निष्क्रोध हू। यह सब निषेधमुखसे आत्मतत्त्वका वर्णन चल रहा है। उस अपने आपको पहिचानो कि परमार्थसे मैं हू कैसा? यदि परमार्थ-स्वरूप इसके परिचयमें आ जाय तो समझो बस उसी क्षणसे कल्याण हो गया। सबसे बड़ा क्लेश है तो इस जीवको मोह ममताका है। है कुछ नहीं और मोह ममता होती है उससे खेदकी बात है, यह महान् अपराध है। हो कुछ मेरा और मान लें अपना तो उसमें कोई दोष नहीं है। बात ही ऐसी है। अपने आपके यथार्थस्वरूपके परिचय बिना इस जीवमें कषायें जगती हैं और उन कषायोंसे यह आत्मा कसा-जाता है, दु खी होता है।

आत्माकी निर्मानता-- यह मैं आत्मा निर्मान हू। इसमें निरन्तर परमसमतारसका स्वभाव पड़ा हुआ है। मान कब उत्पन्न होता है जब समताकी दृष्टि नहीं रहती है। यह तुच्छ है, मैं बड़ा हू, ऐसा मनमें सकल्प आए बिना मान कषाय नहीं जगता। पर कौन तुच्छ है, कौन बडा है? इसका निर्णय तो करो। आज जिसे तुच्छ माना है वह अपने सदाचारके कारण इस ही भवमें अथवा अगले भवमें उत्कृष्ट बन जायेगा। और जिसे अभी बड़ा मानते हो वह अनीतिके कारण इसही भवमें या अन्य भवमें तुच्छ हो सकता है तो जिसे तुच्छ माना वह बड़ा बन गया और जिसे बड़ा माना वह छोटा बन गया। ऐसा उलट फेर इस जीवमें अनादिकालसे चला आ रहा है। फिर दूसरी बात यह है कि जितने भी आत्मा हैं समस्त आत्मावोंका स्वरूप एक है। सब चैतन्यशक्ति मात्र हैं, निर्नाम हैं, उनका नाम ही नहीं है, निर्दोष हैं। वहा शरीर ही नहीं है। ऐसे चिदानन्दस्वरूप इन समग्र आत्मावोंमें किसीको तुच्छ मान लेना, अपनेको बड़ा मान लेना यह मान-कषाय है, पर मान कषायकी गुञ्जायश इस आत्मतत्त्वमें नहीं है क्योंकि सब जीव एक समान हैं। और फिर यह आत्मा स्वयं अपने आपमें भी समतारसके स्वभाव वाला है। बाह्यपदार्थमें चेतन अचेतन पदार्थमें कोई भला है, कोई बुरा है ऐसा परिणाम नहीं करना है। परमसमरसी-भावात्मक होनेके कारण यह आत्मतत्त्व निर्मान है।

आत्माकी निर्मदता-- इस प्रकार निश्चयनयसे यह आत्मतत्त्व समग्ररूपसे अन्तर्मुख बना हुआ है इस कारण निर्मद है, मदरहित है। मद नाम यद्यपि घमंडका है पर मान और मदमें कुछ अन्तर है। मान तो व्याप्य चीज है मदकी दृष्टिसे और मद व्यापक चीज है। जो जीव अन्तर्मुख नहीं हैं, बहिर्मुख हो रहे हैं उन जीवोंमें बेहोशी है, मद है। उनमें घमण्ड भी आ गया और अपने आपका कुछ पता नहीं, ऐसी एक बेहोशी

भी हो गयी। यह आत्मतत्त्व अन्तरमें अन्तःस्वरूप ही तो है। यह बाह्यरूप नहीं है, बहिर्मुख रूप नहीं है, इस कारण यह निर्मद है।

स्वरूपानुभूतिमें सत्य वैभव— यों अत्यन्त विशुद्ध सहजसिद्ध शाश्वत निरुपराग ऐसा जो निज कारणसमयसारका स्वरूप है यह कारणसमयसार स्वरूप उपादेय है। जैसे आपको मालूम न हो कि हमारी मुट्ठीमें क्या है और हम धरे हों अपनी मुट्ठीमें एक स्याही की टिकिया और आपसे पूछें कि बतावो मेरी मुट्ठीमें क्या है? तो आप अदाजसे कोई बात कहेंगे, पर उत्तर मेरा यह होगा कि मेरी मुट्ठीमें सारी दुनिया है। अरे स्याहीको घोला तो कहो मकान बनादें, बाल्टी बना दें, मंदिर बना दें, नदी बना दें, समुद्र बना दें, पहाड़ बना दें। जो कहो सो बना दें, मेरी मुट्ठीमें सारी दुनिया है। यह तो एक व्यावहारिक कलाका उत्तर है, किन्तु जिसके उपयोग में यह नित्य निरावरण चैतन्यस्वरूप आ गया है उसके उपयोगमें सारी दुनिया एक साथ है।

परपरिणतिके अन्छेदका यत्न— आत्माके अन्दरकी गुत्थीको तोड़ दे, अणुमात्र भी परिग्रह मेरे स्वरूपमें नहीं है ऐसा दर्शन करलो। अन्यथा ऐसा श्रेष्ठ मन बार-बार मिलने को नहीं है। विषय-कषाय तो भव-भवमें भोगने को मिलते हैं किन्तु आत्मसतोषके लिये, प्रभुत्वके दर्शन पाने के लिए बड़ा श्रेष्ठ मन चाहिए। अब इतना श्रेष्ठ मन पाकर इतना तो उपक्रम कर ही लेना चाहिए कि अपने आपमें आदर अपने शुद्धस्वरूपका अधिक हो। समस्त परपरिणतियोंका उच्छेद बने, कर्ता कर्मका भ्रम मिटे और निजमें बसा हुआ जो शाश्वत निरावरण ज्ञायकस्वरूप है उसका अनुभव जगे तो इस उत्कृष्ट नरजीवनकी सफलता है। देखो तो भैया! कितने खेदकी बात है कि सच्चिदानन्दमात्र ऐसे विशद आत्मतेजमें यह उपयोग फिर भी मूर्च्छित पड़ा हुआ है, इसके चलनस्वभावसे विपरीत चल रहे हैं। यदि यह अपने इस ज्ञायक स्वभावकी सहज महिमाको उठाए, अपने उपयोगमें ज्ञातृत्वका आदर बनाए तो यह आत्मशात हो सकता है।

जीवोंका बेकायदा फसाव— जरा अन्तरमें देखो तो सही यह तो पहिले से ही समस्त परतत्त्वोंसे छूटा हुआ है, कल्पनामें अपने को बंधा हुआ समझ लिया है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपमात्र है, इस कारण प्रत्येक स्वय ही मुक्त है, केवल है, ऐसे इस मुक्त स्वभावको न निरखनेके कारण कितने ही बंधन बना डाले हैं। अहो, राग करने बराबर विपदा और क्या हो सकती है? यहांके जीव बेकायदे अट्टसट्ट कोई किसीसे फंस गया है अर्थात् जिसे आपने अपना परिजन माना है—यह मेरा कुटुम्ब है

तो बताओ कि इसमें कौनसा नियम है, कौनसी युक्ति है, कौनसी बात है, जिस बातसे वे चेतनद्रव्य आपके कुछ हो गए, अट्टसट्ट फंस गए ? यह जीव घरमें न आता और कोई दूसरा जीव आ जाता तो उसीमें ही ममता करते। कायदेकी ममता तो हम तब जानें कि ऐसा छटा हुआ काम हो कि वह जीव दूसरे भवमें पहुंच जाए या सबमें से एकको इसीको वहां भी छांटे तब हम जानें कि कायदेकी ममता की जा रही है। यहा तो जो सामने आया, चाहे वह जीव पूर्वभवमें अनिष्ट भी रहा है, पर इस भवमें ममता करने लगे। सो ममता करते जाते हैं, दुःखी होते जाते हैं।

जग धोखेकी टाटी— इस लोकमें पूर्वके पुरुषोंकी बातें देखो, कि आए और चले गए, कोई यहां जमकर न रह सका। बडे पुराण पुरुषोंको देखो— तीर्थंकरका जमाना, श्रीरामका जमाना, सारे जमानोंको टटोल लो उनका कितना प्रभुत्व था, पर वे भी कोई नहीं रह सके। अपने कुटुम्बियोंमें भी सोच लो कि दादा-बाबा वे भी चले गए। जिन जीवोंको निरखते हो, वे भी कोई साथ नहीं निभा सकते। यह जगत् ऐसे अकेले अकेलेके भ्रमण करने वालोंका समूह है। किसीका कुछ शरण सोचना, यह पूरा धोखेसे भरा हुआ है। अपने आपके अकेलेपनका और सारे स्वभावका परिचय हो जाए तो सारे कष्ट दूर हों, कर्मबंधन भी दूर हो, रागद्वेषादिक कल्पनाएं भी समाप्त हों, शरीरका सम्बन्ध भी दूर हो जाए, फिर तो यह शुद्ध ज्ञानदर्शन सुखवीर्यात्मक अनन्तविकास सदाके लिए हो सकता है।

करणीय विवेक— भैया ! विवेक ऐसा करो कि जिससे सदाके लिए संकट टलें। यहा अट्टसट्ट ममताके करनेसे किसी प्रकारकी सिद्धि नहीं हो सकती, केवल क्लेश ही क्लेश बढ़ता चला जाएगा। जैसे दो रस्सियोंकी एक सीधी गाठ होती है, जिसे चमरउ गांठ कहते हैं तो उस गांठको खोलनेके लिए कोई पानी सींचे तो गाठ और मजबूत होती जाती है। इसी प्रकार रागसे उत्पन्न होने वाले क्लेश दूर करनेके लिए कोई रागका ही उपाय बनाए तो उस रागके उपायसे वे क्लेश और मजबूत ही बनते चले जाते हैं। रागसे उत्पन्न हुए क्लेश रागसे दूर नहीं हो सकते, वे तो ज्ञान और वैराग्यसे ही दूर होंगे। इससे अन्य ममताओंकी दृष्टि हटाएं और निर्विकल्प ज्ञानानन्दस्वभावमात्र अपने आपके परिचयका यत्न करें।

विषयकषायके संकट— इस जीवपर विषयकषायोंके पापका घोर अंधियारा छाया हुआ है। इसी कारण इसे अपने आपमें आनन्द पानेका अवकाश नहीं होता है। ये विषयकषायोंकी कल्पनाए हैं। यह अंधकार एक ज्ञानज्योति-द्वारा ही दूर हो सकता है। जिस भव्य आत्माने अपनी प्रज्ञासे

ज्ञानस्वभावके स्वरूपका भान किया है और इसके अनुभवमें शुद्ध आनन्द पाया है, वह पुरुष अतुल महिमा वाला है, नित्य आनन्दमय है, वह देहमुक्त होकर सदाके लिए संसारके समस्त संकटोंसे दूर हो जाता है। सभी मनुष्य शांतिके लिए अथक प्रयत्न कर रहे हैं, रात दिन एक धुनिमें लग रहे हैं कि धनवैभव बढ़े, पोजीशन बढ़े। किसलिए यह किया जा रहा है? ये जीवनके बाद तो साथ देंगे ही नहीं, किन्तु जीवनकालमें भी यह सब जंजाल सुखका साथी नहीं है। कहो अनेक विपदाए, राज्यसंकट, चोरसंकट, कुटुम्बीभय आदि अनेक प्रकारके क्लेश इस वैभव और पोजीशनके साथ लगे हुए हैं।

जीवन और भाग्यका सहवास— भैया! रही एक उदरपूर्तिकी बात। जब चींटी-चींटा, कीडे-मकौडे भी अपनी पर्यायके अनुकूल उदरपूर्तिका सहजसमागम पा लेते हैं, जिससे कि जिन्दगी रहती है। जिस बड़े भाग्य के उदयसे हम आप मनुष्य हुए हैं, क्या यह प्राकृतिक बात नहीं है कि हम आप लोगोंके लिए जो जीवनमें सहायक है—ऐसा कुछ उदयवश संयोग मिल जाए? हो रहा है यह सब प्राकृतिक, किन्तु यह मानव उन सबमें कर्तृत्व-बुद्धि बनाए हुए है कि मैंने किया तब यह हुआ। अरे! ये तो उदयकी चालें हैं। इतनी तो प्राकृतिक बात हो ही रही है, जिसका जैसा उदय है। इस ओर दृष्टि न लगाकर जीवोद्धार आत्महितके सम्बन्धमें अधिक लक्ष्य देना चाहिए. यह तो होता ही है। देखो, किए बिना भी ये सब बातें सहज थोड़े श्रमसे हो जायेंगी, पर जीवोद्धारकी बातें पूरे तन मन वचनको लगाए बिना, फिर सबका उपयोग छोड़े बिना, अपना सारा पुरुषार्थ बनाए बिना नहीं हो सकता है। इस कारण आत्माके उद्धारके लिए अधिक ध्यान देनेकी जरूरत है।

झमेला और ज्ञानीका ज्ञान— यह तो एक झमेला है, चार दिनका मेला है, मिला और बिछुड़ गया। जब मिल रहे हैं, तब भी अपने नहीं हैं और बिछुड़ तो जाने ही वाले हैं। इनमें दृष्टि रखने योग्य कुछ बात नहीं है। आनन्द तो जो करेगा उसको ही मिलेगा। क्या यह बात है बोलनेकी और सुनने की? बोलने सुनने तक की ही बात रह सके, तब तो वह आनन्द न प्राप्त हो सकेगा। इस रूप कुछ भी परिणमन कर सके या इस प्रकार का लक्ष्य बन सके तो आनन्दसे भेंट हो सकती है। इस प्रकरणमे अपने आपके सही स्वरूपकी चर्चा चल रही है। यह मिथ्यादृष्टि जीव तो अपने आपको मैं दादा हूं, मैं बाबा हूं, अमुक घरका हूं, अमुक सम्प्रदायका हूं, मनुष्य हूं आदि कितनी ही बातें अपनेमें बसाए हुए है, किन्तु ज्ञानी संत

पुरुष अपने आपके विषयमें स्पष्ट जान रहा है कि यह मैं आत्मतत्त्व केवल ज्ञानस्वरूप हू, इसमे किसी परतत्त्वका और परभावका प्रवेश नहीं है। अब आगे कुछ व्यञ्जन पर्यायोंका निषेध करते हुए आत्मतत्त्वकी आतरिक स्थिति बतला रहे हैं।

वण्णरसगंधफासा थीपुंसण ओसयादिपज्जाया।
सठाणा सहणणा सव्वे जीवस्स णो सति ॥४५॥

आत्मामें रसका अभाव— इस परमस्वभावरूप कारणपरमात्मतत्त्वके में सभी विकार जो कि पौद्गलिक हैं वे नहीं होते हैं। इस जीवके वर्ण काला, पीला, नीला, लाल, सफेद या इन रङ्गोंके मेलसे बने हुए नहीं है कोई रङ्ग क्या। इस जीवमें किसी ने देखा है? अज्ञानी जन शरीरको ही देखकर जीवका रूप समझा करते हैं, अमुक जीवका रूप अच्छा है, पर केवलज्ञान और आनन्दभावस्वरूप इस अंतरतत्त्वमे क्या कोई वर्ण भी रक्खा है? आकाशवत् अमूर्त, निर्लेप, ज्ञानमात्र आत्मामे कोई वर्ण नहीं है। वर्ण होता तो यह जाननहार पदार्थ ही न रहता, पुद्गल ही कहलाता, जड़ और अचेतन हो जाता। इस आत्मतत्त्वमें खट्टा, मीठा, कडुवा, चरपरा कषायला व इन रसोंके मेलसे बना हुआ कोई भी रस नहीं है। अगर रस होता तो यह आत्मा जाननहार ही न रहता।

आत्मामें रसके अनुभवनका अभाव— भैया! आत्मामें रस होनेकी बात तो दूर जाने दो, यह जीव तो रसका अनुभव भी नहीं कर सकता। कोई रसीला पदार्थ खाते समय देखो तो जरा कि उसे खा कौन रहा है? आत्माने इच्छाकी, उससे योग परिस्पंद हुआ। उसका निमित्त पाकर शरीर में वायुका हलन हुआ, और उस प्रकारसे मुख चलने लगा। भोजनका सम्बन्ध इस पुद्गल शरीरके साथ हो रहा है, एक पुद्गलके द्वारा दूसरा पुद्गल चबाया जा रहा है, पर देखो तो हालत कि उसका निमित्त पाकर इस आत्मामें रसविषयक ज्ञान होने लगता है। यह खट्टा है अथवा मीठा है और उस रसविषयक ज्ञानके साथ चूँकि इष्ट-बुद्धि लगी हुई है इससे मौज मानने लगते हैं और सोचते हैं कि मैंने खूब रस चखा, खूब अनुभव किया, किन्तु इसने रसका अनुभव नहीं किया, रसविषयक ज्ञानका और रागका अनुभव किया। पर पदार्थका यह अनुभव नहीं कर सकता, पर दृष्टि मोहमें ऐसी ही हो जाती, जिस कारण परपदार्थका सचय करनेमें परको ही अपनायत करनेमें तुल जाता है। इस आत्मामें रस नहीं है।

आत्मामें गन्धका अभाव— गध दो प्रकारकी होती है— सुगंध और दुर्गन्ध। क्या आत्मामें किसी प्रकारका गध है? इनका आत्मा सुगधित

है, इनका आत्मा दुर्गन्धित है। अरे शरीरमें सुगंध दुर्गन्ध हो सकती है, वह पुद्गल है। मूढ जन ही शरीरके गंधको देखकर अमुक जीवमें ऐसा बुरा गध है, अमुक जीवमें सुगध है, ऐसा व्यवहार करता है। किन्तु गन्ध नामक पुद्गलका गुण जीवमें त्रिकाल भी नहीं हो सकता। स्पर्श भी इस आत्मतत्त्वमें नहीं है। स्पर्शकी ८ पर्यायें होती हैं--रूखा, चिकना, ठढा गरम, नरम कठोर हलका, भारी। क्या यह अमूर्त ज्ञानानन्द स्वभावमात्र आत्मा वजनदार है? वजनदार नहीं है तो हल्का भी नहीं है। हलका वजनदार अपेक्षासे बोला जाता है। ठढा गरम रूखा चिकना कड़ा नरम कैसा भी यह मैं नहीं हू। यह तो ज्ञानभावमात्र है और मात्रज्ञान द्वारा ही इस प्रकार ख्यालमें आ सकने वाला है।

आत्मामें स्पर्शका अभाव इन्द्रियोंकी असमर्थता-- यह आत्मा स्पर्शरहित है। जिन इन्द्रियोंके द्वारा ये वर्ण, गध, रस, स्पर्श जाने जाते हैं उन इन्द्रियोंकी भी कथा तो देखो कि वे स्वयं को जान नहीं पातीं। आख आंखकी बात नहीं देख सकती। कहा कीचड़ लगा है, कहा काजल लगा है, कहा फु सी हुई, किस जगह रोम अटका है यह सब इस आखके द्वारा नहीं दिख सकता है। स्पर्शन भी यह अपना स्पर्श नहीं जान सकता। हाथ गरम है तो नहीं जान सकता कि हाथ गरम है। एक ही हाथके द्वारा दूसरा हाथ छुवा जाय तो कहते हैं कि अरे गरम है। अरे तुम्हारा शरीर ही तो गरम है तो पड़े रहो, टाग और हाथ पसारे और जान लो कि हम कितने गरम हैं। तो कोई नहीं जान सकता है। शरीरका एक अंग दूसरे अंगको छुवे तो जान सकते हैं कि ठढा है अथवा गरम है। नाना नाच नचाने वाली यह जीभकी नोक अपने आपके रसका ज्ञान नहीं कर सकती। पुद्गल ही तो है, यह भी तो रस है, पर नहीं समझ सकती। अब रह गये नाक और कान। तो जिस जगह ये इन्द्रिय हैं, उस जगहका ज्ञान नहीं कर सकती।

जीभ, नाक, आंख, कान हैं कहा-- ऊपरसे जो ये केवल चार इन्द्रियां नजर आ रही हैं ये सब स्पर्शन हैं, चमड़ा है। कहां घुसी है रसना, जिस जगहसे रस लिया करती है यह? क्या बतावोगे? आप जीभ निकालकर बतावोगे लो यह है रसना। तो हम छूकर बता देंगे कि यह तो स्पर्शन है। जो छुवा जाय, जिसमें ठंढ गरम महसूस हो वह तो स्पर्शन है। असली कान कहा हैं जहासे आवाज सुनी जाती है। जो दिखते हैं ?? तो चमडा मिलेगा और त्वचा स्पर्शन इन्द्रिय है। नाक कहा है जिससे सूंघा जाता है, देखने वाली आख कहा है? तो इन इन्द्रियोंमें कुछ ऐसा

गुप्त रूपसे अणुपुञ्ज है कि जिसके द्वारा यह सुनता है, देखता है, चखता है और सूंघता है।

परमार्थतः इन्द्रियों द्वारा ज्ञानका अभावः— वस्तुतः इन इन्द्रियोंके द्वारा भी यह कुछ ज्ञान नहीं करता है, किन्तु वे ज्ञानकी उत्पत्तिके द्वार हैं। जैसे कोई मनुष्य कमरेमें खड़ा हुआ खिड़कियोंसे बाहर देखे तो क्या देखने वाली खिड़कियां हैं ? खिड़की तो एक द्वार है, देखने वाला तो अन्दर खड़ा हुआ मनुष्य है। इसी तरह इस देह की चारदिवारीके भीतर स्थित यह आत्मा इन ४ खिडकियोंसे जान रहा है। तो क्या जानने वाली ये खिडकियां इन्द्रियां हैं ? जाननहार तो आत्मा है, किन्तु कमजोर अवस्थामें इस आत्मामें इतनी शक्ति नहीं है कि वह अपने सर्वांग प्रदेशोंसे जैसा कि प्रभु जाना करते हैं, यह जान सके। सो इसके जाननेका साधन ये द्रव्येन्द्रिया बनी हुई हैं। जब इस वर्ण गंध, रस, स्पर्शका साधनभूत और इसके परिज्ञानका साधनभूत जब इन्द्रिया ही इस आत्माकी नहीं हैं, तब ये रूपादिक तत्त्व इस शुद्ध आत्माके कैसे होंगे ?

विशद ज्ञानके लिये अनुभवनकी आवश्यकता— भैया ! वस्तुका जब तक स्पर्शन नहीं हो जाता, अनुभवन नहीं हो जाता, तब तक उसकी चर्चा कुछ ली दी सी, ऊपर फट्टीसी मालूम होती है। जैसे जिस बालकने दिल्ली नहीं देखी और ऐसे बालकको दिल्लीकी बातें बताई जाएं कि ऐसा किला है, ऐसी मस्जिद है, ऐसा फव्वारा है, ऐसा मंदिर है, अमुक ऐसा है तो उसके लिए यह सब कहानी जैसी मालूम होगी और जिसने देखा है उस सुनने वालेको स्पष्ट अन्तरमें नजर आने लगता है। ये सारी आत्माकी बाते समझनेके लिए बडे बडे शास्त्रोंके ज्ञानका श्रम हम करते हैं, बड़ी बड़ी भाषाएं और बड़ी बड़ी क्रियाओंका हम अध्ययन करते हैं और एक बार सत्यका आग्रह करके असत्यका असहयोग करके नहीं जानना है, नहीं माननी है हमें किसी परतत्त्वकी बात। एक सत्यका आग्रह करके यहा बैठा हूं। स्वयं जो कुछ हो सो हो, परको जानकर यत्न कर करके मैं किसी भी तत्त्वको नहीं जानना चाहता— ऐसी निर्विकल्प स्थिति बनाकर बैठें तो स्वयं ही इस ज्ञानस्वरूपका दर्शन और अनुभवन होगा। जिस अनुभवके आनन्दसे छककर यह जीव फिर अन्यत्र कहीं न रमना चाहेगा, फिर सारी चर्चा स्पष्ट यों नजर आएगी कि ठीक है, यह मेरी बात कही जा रही है।

अनुभूतकी प्रतीति— जैसे कोई पुरुष कुछ अच्छा कार्य कर आया हो और उसका नाम लिए बिना अच्छे कार्योंकी प्रशंसा की जाए तो वह जानता रहेगा कि ये मेरे बारेमे कह रहे हैं और कोई बुरा काम कर आया

हो तथा उसका नाम लिए बिना बुरे कार्यकी चर्चा की जाये तो भी वह समझता है कि मेरे बारेमें कह रहे हैं। आत्मस्वरूपका जिन्होंने अनुभव किया है, वे शास्त्र सुनते समय, पढ़ते समय, स्वाध्याय करते समय सब जानते रहेंगे कि देखो यह आचार्यदेव हमारी बात कह रहे हैं। इस ज्ञानानन्दस्वभावमात्र आत्मतत्त्वमें ५ प्रकारके वर्ण, ५ रस, २ गंध, ८ स्पर्श ये कुछ भी नहीं हैं।

आत्मामें स्त्री पुरुष नपुंसक विभावव्यञ्जनपर्यायका अभाव— पर्यायव्यामोहमें ऐसा भी देखा जाता है कि यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह नपुंसक है—ऐसी विजातीय विभावव्यञ्जनपर्याय नजर आती है। किंतु आत्मा सहजस्वभावमें कैसा है? उस अमूर्त चैतन्यस्वभावमें आत्मतत्त्वका स्वरूप देखते हैं तो वहां देह भी नहीं है तो स्त्री पुरुष नपुंसक कैसे बताया जाए? न तो इस आत्मामें स्त्री पुरुष नपुंसक नामका द्रव्यवेद है और न तज्जातीय परिणाम भी है। यह तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है। यह सब अन्तर की बात निकाली जा रही है। पर्यायमें क्या बीत रहा है? इसकी चर्चा यह नहीं है। किसीका सिर दर्द कर रहा हो तो है वह दर्द। कुछ ज्ञान कर रहा है यह जीव अथवा पीड़ा मान रहा है यह जीव, इतने पर भी इस जीवके सहजस्वरूपको देखा जाए तो यह बात एक तथ्यकी सोचना है कि यह आत्मा देहसे रहित है, पीड़ासे रहित है।

स्वभावदृष्टिमें प्रज्ञाबल— जैसे पानी बहुत तेज गरम है, अग्नि किया हुआ है, वह पानी कोई पीवे तो क्या जीभ जलेगी नहीं? जलेगी। इतने पर भी जलके सहजस्वरूपको निरखा जाए तो क्या यह तथ्यकी बात नहीं है कि जल स्वभावतः शीतल है। यह लोकव्यवहारका दृष्टान्त है। वैसे तो जल पुद्गलद्रव्य है, उसका न शीतल स्वभाव है, न गरम स्वभाव है, किन्तु स्पर्शस्वभाव है, फिर भी एक लोकदृष्टान्त है। ऐसे ही हम और आपमें भी जैसे गुजर रही हो, वह निमित्तनैमित्तिक सबंधका परिणाम है। गुजरता है गुजरने दो। उस गुजरते हुएमें भी हम उस गुजरेकी दृष्टि न करके ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करनेके लिए चलें तो ऐसे कुले ज्ञानमें पड़े हुए हैं हम आप जो कि एक उत्कृष्ट बात है। हम प्रज्ञाबलसे उस ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करें।

श्रमसे विरामकी आवश्यकता— देखो कि उस आतत्त्वमें स्त्री पुरुष नपुंसक आदिक विजातीय विभावव्यञ्जनपर्यायें नहीं हैं। यह आत्मतत्त्व केवल ज्ञान परिणाम अथवा उपाधिके सन्निधानमें श्रद्धा चारित्र गुणों का विकास कर रहा है। यह न चलता है, न करता है, न दौड़ता है, न

भागता है और हो रहे हैं ये सब, किंतु अंतरंगको समझने वाले लोग यह जानते हैं कि यह तो केवल जानन और विकार भाव कर रहा है और कुछ नहीं कर रहा है। कहा इतनी दौड़ धूप मचाई जाय ? क्या मैं दौड़ता हूं, आता हू, करता हू—ऐसी श्रद्धा नहीं बनाया, क्या दौड़ना भागना ही पसन्द है ? तो दौड़ना भागना होता है पैरों द्वारा। तो अभी तो दो ही पैर हैं, यदि ज्यादा पैर मिल जायें तो शायद यह काम और अच्छा बन जायेगा। कल्पनामें सोच लो कितने पैर हों तो अच्छा खूब ज्यादा कार्य होगा ? किसी के ४ पैर भी होते हैं, ८ भी होते हैं, १० भी होते हैं, १६ भी होते हैं, ४० पैर भी होते हैं, ४४ भी होते होंगे। कितने चाहिए ? तो लोकव्यवहारमें ये सब करतूत करनी पड़ती है, लेकिन हृदयमें इतना प्रकाश तो अवश्य रहना चाहिए कि यह आत्मा ईश्वर, भगवान आत्मा अपने आपके प्रदेशमें स्थित रहकर केवल इच्छा किया करता है और यह विस्फोट फिर सब स्वयमेव होता रहता है। कैसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि सारे काम अपने आप चलने लगते हैं।

सकल व्यवसायोंका मूल हेतु मात्र इच्छा— जैसे बड़े यंत्रोंमें एक जगह बटन दबाया कि सारे पेंच पुर्जे स्वयं चलने लगते हैं। ये चक्कियां चलती हैं, वस्त्र वाले मील चलते हैं, बस बटन दबा दिया कि सब जगहके पेंच पुर्जे स्वयं चलने लगते हैं। यहा भी एक इच्छा भर कर लो फिर चलना, उठना, बैठना, खाना, पीना, लड़ना ये सब काम ऑटोमेटिक होते रहते हैं। इनमें आत्मा कुछ नहीं करता। आत्मा तो केवल इच्छा करता है और साथ ही उस इच्छाका निमित्त पाकर इसके प्रदेशोंमें परिस्पद हो जाता है। बस ये दो हरकतें तो आत्मामें हुईं, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ बातें होती ही नहीं हैं। हाथका चलना या हाथका निमित्त पाकर अन्य वस्तुओंका हिलना डुलना हो रहा है। आत्मा तो केवल इच्छा और योग ही करता है। इस आत्माके जब विभावगुणपर्याय भी नहीं हैं, फिर यहां किसी विभावव्यञ्जन पर्यायकी कथा ही क्या ?

आत्मतत्त्वमें निराकारता— चैतन्य और आनन्दस्वरूप मात्र इस निज शुद्ध अतस्तत्त्वमें केवल चित्प्रकाश है और वह अनाकुलताको लिए हुए है, इसमें किसी प्रकारका आकार नहीं है। शरीरमें जो विभिन्न आकार बन गए हैं वे यद्यपि जीवद्रव्यका सन्निधान पाकर बने हैं, फिर भी आकार पुद्गलमें ही है, भौतिकतत्त्वमें है, आत्मद्रव्यमें आकार नहीं है। ये आकार मूलभेदमें ६ प्रकारके हैं—समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान, स्वातिसंस्थान, वामनसंस्थान, कुब्जकसंस्थान और

हुडक संस्थान।

देहके संस्थान— समचतुरस्रसंस्थान वह है जिसमें सब अंग जितने लम्बे बड़े होने चाहियें उतने ही हों। नाभिसे नीचेका धड़ और नाभिसे ऊपरका धड़ बराबर परिमाणका हुआ करता है। जिसके परिमाणमें कुछ कमी वेसी हो उसके समचतुरस्रसंस्थान नहीं है, नाभिपंचेन्द्रिय जीवके तो प्राय होती ही है। घोड़ा, बैल, हाथी, ऊट, आदमी सबके नाभि होती है और एकेन्द्रिय जीवमें नाभि होती ही नहीं। दो इन्द्रिय आदिक जीवोंमें तो शायद नाभि होती हो या नहीं। समचतुरस्र संस्थानमें हाथ कितना बड़ा होना, पैर कितना बड़ा होना चाहिये, यह सब एक शिष्ट मात्र है। और इसी मापके आधार पर भगवानकी मूर्ति बनती है। नाभिसे ऊपरके अंग बड़े हो जायें तो वह न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान है। नाभिसे नीचेके अङ्ग बड़े हो जायें तो वह स्वातिसंस्थान है, बौना शरीर हो सो वामनसंस्थान है, कूबड़ निकला हो तो वह कुब्जकसंस्थान है और अट्टसट्ट हो, इन ५ संस्थानोंका कोई विविक्त संस्थान न हो तो वह हुडकसंस्थान है।

आत्मतत्त्वमें संस्थानोंका अभाव— इन संस्थानोंके बननेमें यद्यपि जीवका परिणाम निमित्त है। जैसा भाव हुआ वैसा बंध हुआ और उसही प्रकारका उदय हुआ। संस्थान बने, फिर भी आत्मद्रव्य तो अमूर्त ज्ञानमात्र मात्र है। उसमें संस्थान नहीं है। कैसा विचित्र संस्थान है? वनस्पतिके पेड़के देह देखो कैसी शाखायें फैली हैं, डालियां बनी हैं, पत्ते हैं, पत्तोंकी कैसी बनावट है? फूल देखो कैसी विचित्र यह सब प्राकृतिकता है, अर्थात् कर्मप्रकृतिके उदयसे होने वाली बातें हैं। ये सब आत्मद्रव्यमें नहीं हैं।

आत्मतत्त्वमें संहननोंका अभाव— संहनन दो इन्द्रिय जीवसे लेकर पंचेन्द्रिय जीव तक होता है। अर्थात् हड्डियोंके आधार पर शरीरका ढांचा बनता सो संहनन है, एकेन्द्रियमें संहनन नहीं है, देवोंमें व नारकियोंमें भी संहनन नहीं है। संहनन ६ होते हैं। वज्र वृषभनाराचसंहनन—जहां वज्रके हाड़ हों, वज्रके पुट्ठे हों, वज्रकी कीलियां लगी हों ऐसे शरीरका नाम है वज्र वृषभनाराचसंहनन। हम आप लोगोंके तो हाड़ नसों से बंधे हैं। इस हाथमें दो दो हड्डियां हैं एक भुजा पर एक टेहुनीके नीचे और ये दोनों हड्डियां नसोंसे बंधी हैं। किन्तु जिनके वज्रवृषभनाराचसंहनन होता है उनके दोनों हड्डियोंके बीच कीलियां लगी रहती हैं। जो मोक्ष जाने वाले पुरुष हैं उनमें नियमसे वज्रवृषभनाराचसंहनन होता है।

वज्राग बली— श्री हनुमान जी जब विमानमें बैठे हुए चले जा रहे थे दो तीन दिन का वह बालक पवनसुत, अञ्जनापुत्र विमानसे खेलते

खेलते पहाड़ पर गिर गया, सब लोग तो विह्वल हो गये। जब नीचे आकर देखा तो जिस पाषाण पर गिरा था उसके तो टुकड़े हो गये और हनुमान जी अगूठा चूसते हुए खेल रहे थे। सबने जाना कि यह मोक्षगामी जीव है। उसकी ३ परिक्रमा देकर ... विमानमें लेकर चले। हनुमान जी का चरित्र बहुत शिक्षापूर्ण है। उनके वज्रवृषभनाराचसहनन था। इसी कारण उन्हें वज्रांगबली कहते हैं, जिस को अपभ्रंश करके लोग बजरंगबली बोलने लगे। इसका शुद्ध शब्द है वज्रांगबली। वज्रवृषभनाराचसंहननका जिसका शरीर हो, उसे वज्रांग कहते हैं। केवल हनुमानजी ही वज्रांग नहीं थे—राम, नील, सुग्रीव, तीर्थंकर जो भी मुक्त गए हैं, वे सब वज्रांग थे, पर किन्हीं पुरुषोंकी प्रमुख घटनाओंके कारण नाम प्रसिद्ध हो जाता है। यदि हनुमानजी उस पत्थर पर नहीं गिरते तो उनका नाम बजरंगबली न प्रसिद्ध होता। बहुतसे पुरुष बजरंगबली होते हैं।

पौद्गलिकताके कारण सब संहननोंका आत्मद्रव्यमें अभाव—दूसरा संहनन है वज्रनाराचसंहनन। वज्रकी हड्डी होती है, वज्रकी कीली होती है, पर पुट्ठा वज्रका नहीं होता। तीसरा संहनन है नाराचसंहनन। वज्रके हाथ हैं, किंतु हड्डियां कीलियोंसे आरपार खचित हैं। जिनकी ये हड्डियां कीलियोंसे कीलित हैं, उनके हाथ पैर झटकते नहीं हैं। नसोंसे यह अस्थिजाल बंधा है, यदि झटका दे दिया जाए तो टूट जाए। चौथा संहनन है अर्द्धनाराचसंहनन। हड्डियोंमें कीलिया अर्द्धकीलित हैं और कीलितसंहनन में कीलियोंका स्पर्श है। छठा है असम्प्राप्तासृपटिकासंहनन—याने नसाजालोंसे बंधा हुआ हाड़का ढांचा हम आप सबका छठा संहनन है। हाड़ोंकी रचना इस आत्मतत्त्वमें नहीं है, यह पौद्गलिककायमें है। ये पुद्गलकर्मोदयसे उत्पन्न होते हैं। पुद्गलमें ही विकार हैं। कुछ तो विकार ऐसे होते हैं कि निमित्त तो पुद्गल कर्मके उदयका है, पर जीवोंमें गुणोंका विकार है, किन्तु इस श्लोकमें जितनी चीजोंको मना किया गया है, यह सब पुद्गलके उदयसे भी हैं और पुद्गलमें ही विकार हैं। ये सब परमस्वभाव कारणपरमात्मस्वरूप शुद्ध जीवास्तिकायके नहीं होते हैं। अब इस प्रकरणमें इस निषेधात्मक वर्णनका उपसंहार करते हुए आत्मतत्त्वका असाधारण लक्षण भी बतला रहे हैं।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥४५॥

आत्माकी अमूर्तता—यह आत्मतत्त्व अरस है, इसमें कितने ही

अर्थ भरे हैं। रस नहीं है, रस गुण वाला नहीं है, रसपरिणमन वाला नहीं है, जिसके द्वारा रसा जाए वह नहीं है, जो रसा जाए वह नहीं है और केवल रसज्ञान वाला भी तो नहीं है--कितने ही अर्थ निकलते हैं अरस शब्दसे। यह आत्मा अरस है, इसी प्रकार अरूप है, रूपरहित है, अगंध है, गंधरहित है, अव्यक्त है, स्पर्शरहित है, अशब्द है और शब्दसे रहित है, इसी कारण यह आत्मा अमूर्त है। इन विषयोंका ज्ञान आत्माके द्वारा इस असत्य अवस्थामें हो रहा है। इस कारण जीवोंको भ्रम हो जाता है। उस भ्रमको दूर करनेके लिए इस लक्षणात्मक छंदमें फिर भी निषेध किया गया है कि यह आत्मा पांचों इन्द्रियोंके विषयोंसे रहित है। यह तो सब निषेधमुखेन वर्णन चल रहा है।

आत्माके विध्यात्मकस्वरूपके परिज्ञानकी आवश्यकता— देखिए कि यह आत्मा किसी लिंगके द्वारा ग्रहणमें नहीं आता। लिंग मायने हैं चिह्न। इसके कोई संस्थान नियत नहीं है--ऐसा निषेधमुखेन कुछ परिचय कराया गया। आत्मतत्त्वके सम्बंधमें आचार्यदेव बतला रहे हैं कि यह रहितरहित-वाला ही पदार्थ नहीं है, बल्कि, विध्यात्मक सद्भावात्मक तत्त्व है। उसका असाधारण लक्षण है चेतनागुण। किसी पुरुषके बारेमें निषेधमुखेन वर्णन करते जावो कि यह पण्डित नहीं है, सेठ नहीं है, किसीका पिता नहीं है, बाबा नहीं है, अमुक नहीं है तो निषेधमुखेन कुछ तो परिचय होता है, किंतु पूर्ण परिचय तब होता है जब विध्यात्मक बात कही जाए। यह यहां नहीं है, किन्तु यह है।

आत्माका विध्यात्मक स्वरूप— एक बार बाबा भागीरथजी वर्णी जिन्हें हमारे गुरु भी गुरु मानते थे, बाईजीके यहां आये। अब उनसे बाई जीने पूछा कि बाबाजी ! भोजनमें क्या बनाए ? दलकी दाल बनाए ? बाल कि नहीं। चावल बनाए ? नहीं। दलिया बनाए ? दसों चीजें पूछीं, पर उत्तरमें "नहीं" ही मिला। अब बाईजी ने प्रेम भरे गुस्सेमें आकर कहा कि तो क्या धूल बनाए ? किसी तत्त्वको मना करके भी चीज पहिचानी जाती है, मगर पूर्ण परिचय तब तक नहीं होता है, जब तक कि उसमें विध्यात्मक बात न कही जाए। यहां पर विध्यात्मक असाधारण और विशेष लक्षण कह रहे हैं। 'चैतन्य पुरुषस्य स्वरूपम्।' चेतनागुण वाला यह आत्म-तत्त्व है।

भैया ! इस आत्माका कार्य चेतनेका है, किंतु संसारावस्थामें यह संसारी जीव किस-किस प्रकारसे अपने आपको चेतता है ? दिशा बदल गयी। नाव तो ठीक चल रही है, पर कर्णधार जो करियाका डण्डा पकड़

रहता है, वह जिस प्रकार अपने करियाको बदल दे उसी दिशामें नाव चलने लगती है। नाव चलाने वाला नाव चलाता जाता है, पर दिशा बदलने वाला कर्णधार होता है। सब में जीव चेतनेका काम किए जा रहे हैं, किंतु उपाधिके सन्निधानमें होने वाली विभिन्न परिस्थितियां इसके चेतनकी दिशाको बदल देती हैं।

कर्मफलचेतना—— स्थावर जीव जिसके केवल एक स्पर्शन ही इन्द्रिय है, जीभ, नाक, आंख और कान नहीं हैं——ऐसे प्राणी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकायिक जीव हैं। इनके कर्मफलचेतना होती है। ये अपने शरीरके द्वारा कोई कर्म नहीं कर पाते, कोई चेष्टा नहीं कर सकते। ये पतले पतले गोलमटोल केंचुवे भी लड़खड़ाते घिसटते हुए चल फिर रहे हैं ऐसी भी क्रियाएं इस एकेन्द्रिय जीवमें नहीं होती हैं। पृथ्वीकायिक जीव तो कोई चेष्टा करता हुआ नजर नहीं आता, जलकायिक जीव भी कोई चेष्टा नहीं करता। यदि जमीन ढलाव पर है तो वह नीचे खिसक जाएगा, पर वह जलकी चेष्टा नहीं है। यों तो अचेतन गोलियां भी जमीन नीची पाकर लुढ़क जाती हैं। अग्निकाय भी कोई चेष्टा नहीं करती, वह तो उसका शरीर है। वायुकायिक भी चेष्टा नहीं करते हैं, क्योंकि चेष्टा तो वहां मानी जाए कि पूरे शरीरमें से कोई एक आधा अंग चले तो उसको चेष्टा कहते हैं। समूचा ही जीव बह जाए तो उसे शरीरकी चेष्टा नहीं कहते हैं। जैसे कि जोंक और केंचुवा कुछ मुड़ लेते हैं तो वह चेष्टा है। वनस्पतिकायमें भी चेष्टा नहीं है, इस कारण स्थावर जीवमें कर्मचेतना नहीं मानी गई है। सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जावे तो आत्माके द्वारा जो भाव किए जाएं, उसका नाम कर्म है और ये कर्म स्थावरोंमें भी पाये जाते हैं, लेकिन यहां सारी चेष्टा हो सके, इस प्रकारके जीवमें होने वाली क्रियाओंका प्रयोजन है। स्थावर जीव अपने इस चैतन्यगुणका उपयोग कर्मफलकी चेतनामें ही गवा देता है।

कर्मचेतना—— त्रस जीव दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जी कर्मफलसहित कर्मचेतनामें व्यतीत करते हैं। वे क्रिया भी करते हैं और कर्मोंका फल भी भोगते हैं, किंतु कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्मामें शुद्ध ज्ञानचेतना होती है। यद्यपि आशयकी अपेक्षा अविरत सम्यग्दृष्टि जीवसे ज्ञानचेतना शुरू हो जाती है, किंतु पूर्णज्ञानचेता याने सर्वथा ज्ञानचेतनापरिणमन भी ऐसा बन जाए——ऐसी ज्ञानचेतना या तो भगवान्में स्थित है अथवा सहजभावरूपसे आत्मस्वरूपमें उपस्थित है। कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्माके शुद्ध ज्ञानचेतना होती है। इसमें

किसकी उपासना करनी चाहिए ? किसके लिए हम अपना तन मन धन समर्पण कर दें ?

उपास्यतत्त्व— इस असार संसारमें बसते हुए इस मुझ वराकको कौनसा ऐसा आधार है, जिसका आश्रय पाकर यह ससारका प्राणी ससार के संकटोंसे छुटकारा पा सकता हो ? वह तत्त्व निश्चयसे तो कारणपरमात्मतत्त्व है और व्यवहारसे कार्यपरमात्मतत्त्व है। इन दो तत्त्वोंके अतिरिक्त अन्य कुछ भी हमारे लिए उपादेयभूत नहीं है। कार्यपरमात्मा अर्थात् प्रकट भगवान् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्दकरि भरपूर शुद्ध, अपने आपके सत्त्वके कारण शुद्ध विकासरूप भगवान् आत्मतत्त्व-परमात्मा हमारे उपासने के योग्य है।

स्वयका परमार्थ प्रयोजन— हे मुमुक्षुवों! अपने आपमें ऐसा निर्णय रक्खो कि मेरा वास्ता तो यथार्थस्वरूपसे है। न किसी गावसे है न किसी सम्प्रदायसे है, न किसी गोष्ठीसे है। मैं तो एक आत्मा हू, चेतन हू। कुछ हो, इस मेरेका नाता यथार्थताके साथ जुड़ा है अन्य किसी व्यवहार अथवा उपचारसे नहीं जुड़ा है। मैं मनुष्य ही नहीं हूं। तो उपचार और व्यवहारमें कहा चित्त रगड़े, कहा धर्म खोजें। मैं शुद्ध चिदानन्दस्वरूप कारणपरमात्मतत्त्व हू। मेरी भ्रमसे यह हालत बनी हुई है। भ्रम दूर किया कि बात ज्योंकी त्यों है। शुद्ध ज्ञानचेतना भगवान् के हैं, कार्यपरमात्माके हैं, जो सारे विश्वका ज्ञाता है, फिर भी निज अनन्त आनन्दरसमें लीन है।

प्रभुभक्तिरूप छत्रछाया— प्रभुसे यह आशा न रक्खो कि यह प्रभु मुझे हाथ पकड़ कर तार ले जाय। प्रभुसे शिक्षा मत मागो कि हे प्रभु तुम मुझे सुख दो, मेरे दु:ख दूर करो। प्रभु तो ऐसा स्वच्छ उत्कृष्ट आदर्श रूप है जिसकी दृष्टि मात्रसे सकट टलता है, सुख मिलता है, पाप दूर होते हैं। कोई पुरुष किसी छाया वाले पेड़के नीचे बैठकर पेड़से हाथ जोड़ कर कहे कि हे पेड़! तुम हमें छाया दो तो सुनने वाले लोग उसे बुद्धिमान् कहेंगे कि मूर्ख कहेंगे ? मूर्ख कहेंगे। अरे छायामें बैठे हो, फिर भी पेड़से छायाके लिए हाथ जोड़ रहे हो। अरे पेड़ने तुझे छाया दी है या तू ही छायामे रहकर सुखी हो रहा है। ऐसे ही भगवानकी भक्तिकी छायामें रह कर भक्तजन भगवानसे भीख मागें कि हे प्रभु! मुझे सुख दो, मेरा दु:ख दूर करो, ऐसा यदि कोई कहे तो उसे ज्ञानीसत पुरुष बुद्धिमान न कहेंगे। यह बहुत मर्मकी बात है। अरे प्रभुके स्मरणरूप छायामें जब तू बैठा है तो अपने आप दु:ख कटेगा, आनन्द मिलेगा, ज्ञानप्रकाश होगा।

कार्यसमयसार व कारणसमयसारकी उपादेयता— भैया ! एक तो यह कार्यपरमात्मा सर्वदा एकरूप होने से उपादेय है, वह शुद्ध ज्ञान चैतन्य स्वरूप है, यह प्रकट शुद्ध ज्ञानचेतना भी सहजफल स्वभावरूप है और निश्चयसे अपने अन्तरमें शाश्वत प्रकाशमान चित्स्वरूप कारणपरमात्म तत्त्व भी केवल ज्ञानचैतन्यरूप है, ज्ञानस्वभावमात्र है, शुद्धज्ञान चेतना सहजफल स्वभावरूप है। इस कारण यह कारणपरमात्मतत्त्व भी उपादेयभूत है। कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्मा, यों सर्वदा शुद्ध ज्ञानचेतना रूप होने के कारण उपादेयभूत हैं। उनमें से कार्य शुद्धज्ञानचेतना आदर्श-व्यवहार है व कारण शुद्धज्ञान चेतना अन्तस्तत्त्व है, ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व हू जिसे भूलकर परमे लगकर मैं भिखारी बनकर जन्ममरण किया करता हू। यह कारणपरमात्मतत्त्व जयवत हो।

उपादेयताका कारण सहज शुद्ध ज्ञान चेतना-- इस प्रकरणमें यह शिक्षा दी गयी है कि कार्यसमयसार और कारणसमयसारके ही शुद्धज्ञान चेतना होती है जो कि सहजफलरूप है। इस कारण अपने आपको निज कारणपरमात्मरूपमें जो कि सहज शुद्धज्ञान चेतनात्मक है, ससार अवस्था अथवा मुक्त अवस्थामें सदा एकस्वरूप रहता है वह तो उपादेय है और इस उपादेय निज कारणपरमात्माके स्मरणके लिए यह कार्यपरमात्मा, कार्यसमयसार भी उपादेय है।

कारण नियमसारकी विविक्तता व एकरूपता-- जो कारणपरमात्मतत्त्व द्रष्टव्य है उस ही के सम्बन्धमें यह सब ग्रन्थोंमे वर्णन चल रहा है। यह आत्मा सर्व परपदार्थोंसे भिन्न है और जो इसके पीछे पीछे चलने वाले कर्म हैं वे भी इस आत्मतत्त्वसे भिन्न है और इन दोनोंके सन्निधानमें होने वाले जो रागद्वेषादिक परिणाम हैं वे भी इस आत्मतत्त्वसे भिन्न हैं। यह आत्मा तो अपने गुणोंसे अलंकृत है। यह कारणपरमात्मतत्त्व, कारणनियमसार सर्व जीवोंमें, सर्व आत्मावोंमें शाश्वत एक स्वरूप है। चाहे बध अवस्था हो, चाहे मुक्त अवस्था हो, सर्व अवस्थावोंमे यह आत्मद्रव्य, परमात्मपदार्थ समस्त कर्मादिक परवस्तुवोंसे भिन्न है। सारा निर्णय एक अपने आपके अन्तरमें इस स्वभावकी गुत्थी सुलझने पर निर्भर है। बडे-बडे ऋषि योगी सतजन जो इसके रुचिया हैं, जानकार हैं उन सबके द्वारा यह विदित है और ठीक यथार्थ एक रूपमें विदित है। जैसे सही सवाल एक ही तरहके निकलते हैं और गलत सवाल भिन्न-भिन्न प्रकारसे गलत होते हैं, इसी तरह जितने भी ज्ञानी सतोंके अनुभव है उस अनुभवमे आया हुआ यह कारणपरमात्मतत्त्व सबको एक ही स्वरूप

विदित होता है। इसी सम्बन्धमें अब अगली गाथामें श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव कह रहे हैं।

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण ॥४७॥

शुद्ध द्रव्यार्थिकदृष्टिसे संसृति और मुक्तिमें जीवोंकी अविशेषता— शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे जीवोंका स्वरूप दिखाया जा रहा है। केवल द्रव्यत्व की दृष्टिसे संसारी जीवोंमें और मुक्त जीवोंमें कोई विशेषता नहीं है। जो कोई अत्यन्त आसन्न भव्य जीव हैं वे भी पहिले संसार अवस्थामें संसार के कष्टोंसे छके हुए थे, पर सहज वैराग्यका उदय होनेसे अंतरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहोंका परित्याग करके मुक्त हुए। जितने भी सिद्ध हुए हैं वे सब भी पूर्व अवस्थामें हम आपकी तरह नाना अवस्थावोंको धारण किए जा रहे थे, उन्हें किसी समय यथार्थ बोध हुआ, आत्मा और अनात्माका भेदविज्ञान हुआ, अनात्मतत्त्वका परिहार किया और आत्मतत्त्वका उपयोग जुड़ाया कि वे कर्मोंका विनाश करके मुक्त हो गए। वे भी वही हैं जैसे यहां के जीव हैं। एकमात्र अवस्थामें ही तो अन्तर आ गया।

दृष्टान्तपूर्वक स्वरूपसाम्यका समर्थन— जैसे स्वर्णत्व सब स्वर्णोंमें एक ही है। कोई कई बार तपाया और शुद्ध किया जाने से अत्यन्त शुद्ध हुआ है और किसी स्वर्णमें तपाने या शुद्ध होनेकी योग्यता न मिलनेसे अशुद्ध अवस्थामें पड़ा है किन्तु स्वर्णत्वकी दृष्टिसे शुद्ध स्वर्ण और अशुद्ध स्वर्णमें जो स्वर्णत्व है वह भी एक समान है। सर्राफ लोग अशुद्ध स्वर्णमें भी यह झांक लेते हैं कि इस पिण्डका वजन तो एक तोला है, किन्तु इसमें स्वर्ण पौन हिस्सा ही दिखता है, १२ आने ही है—ऐसा जब वे तकते हैं तो उस अशुद्ध पिण्डमें भी उन्होंने केवल स्वर्णत्वको देखा और इस दृष्टिसे वे पूरे दाम नहीं देते हैं अर्थात् १२ आने भरके उस स्वर्णत्वके पूरे रेट से दाम देते हैं और कोई उस एक तोलाके पिण्डको देखकर यों कहते हैं कि यह इतना अशुद्ध है इस कारण इसका इतना ही रेट होगा, कम रेट लगाते हैं। तो अशुद्ध पिण्डमें भी जैसे शुद्ध स्वर्णत्व निरखा जा सकता है ऐसे ही इस अशुद्ध बंधन अवस्थामें भी, संसार अवस्थामें भी शुद्ध जीवत्व निरखा जा सकता है।

शुद्ध होनेमें प्रथम प्रयोग— शुद्ध जीवास्तिकायकी दृष्टिसे जैसे सिद्ध आत्मा है ऐसे ही भवको प्राप्त हुए ये संसारी जीव भी हैं। जो कोई भी जीव कार्यसमयसार रूप हैं उनमें भी उस काल भी कारणसमयसार मौजूद है। शक्ति और व्यक्ति, जो शुद्ध है उसमें भी शक्ति और व्यक्ति

है और जो अशुद्ध है उसमें भी शक्ति और व्यक्ति है। अशुद्ध अवस्थामें शक्तिकी व्यक्ति अशुद्ध है, विकृत है और शुद्ध अवस्थामे शक्तिकी व्यक्ति शुद्ध है। जैसे अशुद्ध स्वर्णको शुद्ध होनेमें कुछ प्रयोग होते हैं, इसी प्रकार इस अशुद्ध जीवके शुद्ध होनेका भी प्रयोग है। वह प्रयोग है वस्तुस्वरूपका ज्ञानाभ्यास करना। यह है प्रथम प्रयोग। पदार्थके स्वरूपका जब तक यथार्थ निर्णय नहीं है, तब तक धर्ममे प्रवेश ही नहीं है। धर्म शरीरकी चेष्टाका नाम नहीं है। धर्म किसी वचन बोल देनेका नाम नहीं है, किन्तु मोह क्षोभरहित आत्माके परिणामका नाम धर्म है। जहा अज्ञान न हो, मोह न हो, रागद्वेषादिक झंझट न हों, उसे धर्म कहते हैं। सर्वप्रथम आवश्यकता है कि मोह न हो। मोह न रहे इस जीवमें, इसका उपाय यही है कि मोह नाम है दो पदार्थोंमें स्वामित्व माननेका तो इन पदार्थोंको स्वतन्त्र समझ लीजिए। एक दूसरेका स्वामित्व न जाना जाए, इसीका नाम निर्मोहता है तो अब वस्तुके स्वरूपको पहिचानिए।

भक्ति और ज्ञानका प्रसाद— भैया! भगवानकी भक्तिका प्रसाद और है तथा ज्ञानाभ्यासका प्रसाद और है। ज्ञानी और भक्ति ये दोनों सहयोगी हैं, किन्तु भक्तिका विकास और है, ज्ञानका विकास और है। प्रभुकी भक्ति ज्ञानमें भी हो सकती है और अज्ञानमें भी हो सकती है। अज्ञानमें होने वाली भक्तिसे कोई लाभ नहीं है, यह ससार ही संसार है और व्यर्थका श्रम है। ज्ञानमें होने वाली भक्तिमें यह ही अपनेको निर्णय होता है कि जैसा शिवस्वरूप यह भगवत्तत्त्व है, वैसा ही शिवस्वरूप यह मैं आत्मतत्त्व हूं और जैसे यहा अपने हितकी बात किसीको मिलती हो तो कैसा अनुराग बढ़ता है? ऐसे ही ज्ञानी जीवको अपने हितकी बातमें होने वाले विकासकी बात भगवान्के स्वरूपके आदर्शसे मिलती हो तो उस ज्ञानीके प्रभुकी भक्ति भी बहुत बढ़ जाती है, पर भक्ति करे अथवा ज्ञानयोगमें हो तो जितना भी निर्मोह होनेका कार्य है, वह सब ज्ञानका फल है।

गुरुप्रसादका उपाय— जगत्में अनन्तानन्त तो जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गल हैं, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य हैं। ये सबके सब पदार्थ अपने स्वरूपको नहीं तजते हैं। यदि कोई पदार्थ अपने स्वरूपको तजकर किसी पररूप हो जाए तो आज तो यह लोक दिखनेको न मिलता, सब शून्य हो जाता है। ये सब पदार्थ अब तक अवस्थित हैं, यह इसका एक प्रबल प्रमाण है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपमे ही अपना अस्तित्व रखते हैं, परस्वरूपमें नहीं। तो यह यथार्थज्ञान परमगुरुवोंके प्रसादसे प्राप्त होता है। आत्महितके प्रसगमें

गुरुओंका बहुत अनिवार्य आलम्बन है और इन दोनोंमें भी सर्वप्रथम आलम्बन तो गुरुवोंका है। देवोंकी बात किसने सिखाई ? वे हैं गुरु तो गुरुवोंका प्रसाद पाकर जो परमागमका अभ्यास बना है, उस अभ्यासके बलसे वस्तुका स्वरूप पहिचाना और मोह दूर किया।

गुरुप्रसादका उपाय— गुरुओंका प्रसाद कैसे मिल सकता है ? इसका उपाय सीधा एक है विनय। विनयगुणकी बड़ी महिमा है। इस विनयको तपमें शामिल किया गया है। विनयसे एक तो गुरुका चित्त शिक्षण देनेमें प्रमुदित होता है और वह चाहने लगता है कि मर्मकी बात, हितकी बात इनको विशदरूपसे बता दिया जाए और तत्त्वकी बात गुरुका अधिक सहवास करने पर विनयपूर्वक उनकी सेवा संगमें रहकर बिना जाने क्षणमें कोई समय मिलता है। कोई चाहे कि मैं एक दिन संग शुश्रूषामें रहकर सर्व बातें सीख लूं अथवा गुरु भी चाहे कि मैं इन्हें एक दिनमें अनुभवकी बात बता दूं तो यह बात कठिन है। तैयार हो करके गुरु कुछ मार्मिकतत्त्व बता नहीं पाता, किसी समय सहजरूपसे कोई तत्त्वकी बात यों निकलती है कि शिष्य उसे ग्रहण करके अपनी दृष्टि निर्मल बना लेता है।

विनयमें शिक्षाग्राहित्वशक्ति—दूसरी बात यह है कि विनयगुणसे सींचा हुआ हृदय इतना पवित्र, कोमल और शिक्षाग्राही बन जाता है कि जो कुछ बताया जाए, वह उसके ग्रहणमें आता जाता है। जैसे अन्दाज कर लो कि कोई पुरुष घमण्डमें आकर किसी गुरुसे कहे कि तुम हमें अमुक बात बताओ और कुछ मान आदिक कषायोंमें अनिष्ट होकर सीखना चाहे तो क्या वह सीख सकता है ? अध्यात्मतत्त्वकी बात तो विनय बिना आती ही नहीं है, किन्तु लौकिक कलाओंकी बात, जैसे कोई यंत्र चलाना सीखना या कोई आर्ट सीखना चाहे या लौकिक विद्या सीखना चाहे तो वह भी लाठीके जोरसे नहीं सीखा जा सकता है। एक छोटा भी कोईसा उस्ताज हो और उससे बड़े श्रीमत भी कोई कला सीखना चाहें तो वह भी भली प्रकार तभी सीख सकता है, जबकि विनयपूर्वक सीखना चाहे। मुक्तिके मार्गमें यह प्रथम उपाय कहा जा रहा है कि अभ्यास करना मुक्तिमार्गका प्रथम उपाय है।

भगवान् और भक्तमें स्वरूपसाम्य— ज्ञानके अभ्यासकी विधिमें प्रथम बात यह है कि परमगुरुवोंका प्रसाद प्राप्त करना। उस प्रसादके बलसे जो परमआगमका अभ्यास बना, उस अभ्याससे और आगे बढ़कर उन्होंने उस स्वतन्त्र ज्ञान प्रकाशमात्र आत्मस्वरूपको अनुभवमें उतारा। यह अनुभव इतना आनन्ददायक है कि अपने आपमें यह अनुभवी- व्यक्त और तुष्ट

रहता है। इस महान आनन्दके प्रसादसे भव भवके संचित कर्म क्षीण हो जाते हैं। तब यह पवित्र आत्मा सिद्ध हो जाता है। तो जो ऐसे सिद्ध हुए हैं वे जीव भी और सिद्ध होने के यत्नमें लग रहे हैं वे जीव भी तथा जो अज्ञानी बहिरङ्ग संसारी जीव हैं वे भी सबके सब जीवत्व स्वरूपकी दृष्टि से एक समान हैं। यदि समान न हो तो ये जीव कितना भी यत्न करें मुक्त नहीं हो सकते। हम धर्म करके जो कुछ भी बनना चाहते हैं वे और हमसे भी अधम और जन क्या वे स्वरूपदृष्टिसे एक समान नहीं हैं? यदि न हो एक समान तो हम उत्कृष्ट बन ही नहीं सकते। जिसके लिए हम धर्मका उद्यम कर रहे हैं।

स्वरूपसाम्यमें एक फलित हेतु— यदि मुक्त भगवान् और हम आप स्वरूपदृष्टिसे एक समान न हों तो धर्म करनेकी कोई जरूरत नहीं है। क्यों कि इससे कुछ नतीजा ही नहीं निकलता—सीझे हुए चने और बोरीमें रक्खे हुए चने स्वरूपदृष्टिसे एक समान हैं अथवा नहीं? हा बोरीमें कंकड भरे हों तो एक स्वरूप नहीं हैं क्योंकि सीझे हुए चनोंकी तरह कंकड़ोंको सिझाया नहीं जा सकता है। पर ये चने सीझे हुए चनोंके समान ही जातिके हैं, स्वरूपके हैं। इसलिए ये चने भी सिझाईके उपायसे सीझ सकते हैं। हम आप मुक्त हो सकते हैं क्योंकि मुक्तका स्वरूप और मेरा स्वरूप एक समान है। न हो एक समान तो बालूकी तरह हम भी उस सिद्धि को करनेमें समर्थ न हो सकेंगे।

प्रगतिका दृष्टिबल— प्रभुका स्वरूप बाधारहित निर्मल केवलज्ञान, केवल दर्शन, केवल सुख और केवल शक्ति करि सहित है। वहा कोई तरंग ही नहीं उठती। रागद्वेषकी तरग उठे तो वह सिद्ध नहीं है अथवा दुःख होगा। यह गुण उनमें प्रकट नहीं हो सकता। प्रभु अनन्तविकासरूप सिद्ध कार्यसमयसाररूप भगवान है। जैसे यह है तैसे ही यहाके संसारके प्राणी है। जिस नयसे प्रभुमें और हममें समानता है उस नयकी प्रमुख दृष्टि बनाएँ और उस शुद्धनयके प्रसादसे स्वरूपअवलोकन करके अपनी प्रसन्नता निर्मलता प्राप्त करिये। जिस कारणसे संसारी जीव और सिद्ध आत्मा एक समान हैं उसी कारणसे इस समय भी इस संसारी जीवमें उन प्रभुकी भाति जन्म जरा मरण आदिक दोषोंसे रहितपना और सम्यक्त्व आदिक गुण करके सहितपना है, यह भी हम निरख सकते हैं।

प्रज्ञाकी पहुंच— लोग कहते हैं कि "जहा न जाय रवि, वहां जाय कवि"। गुफावोंमें सूर्यकी किरणें नहीं पहुच सकतीं पर कविकी प्रतिभामें, गुफामें पहुच हो सकती है। और यह आत्मगुफा जहा कि वर्तमान कालमें

सभी प्रकारके विकारोंका नृत्य हो रहा है, ऐसे इस आत्मामें, गुफामें भी हम उस शुद्ध तत्त्व तक पहुच जाये, यह शुद्ध आत्माका अतुल प्रताप है। यह प्रज्ञाका बल है। चाहे सम्यग्ज्ञानी जीव हो, चाहे मिथ्याज्ञानी जीव हो--सर्वजीवोंमे उनके सत्त्वके कारण उनके सहजस्वरूपसे शुद्धता है अर्थात् अनाकुलता है। पदार्थ स्वय अपने आपमें जिस स्वरूपसे है उसही स्वरूपसे वे हैं। जब स्वरूप साम्य है तो फिर मैं इसके भेदको क्यों देखूँ।

हमारा एकमात्र लक्ष्यभूत द्रष्टव्य-- देखिये ससारी जीवोंमें स्वरूप साम्य भी है और भेदकी कलमपता भी है, पर जब हम भेदकी कलमपता के परिज्ञानमे लगते हैं तो हमे धर्म हाथ नहीं लगता, हितका पथ नहीं चल पाता। मेरा कुछ लाभ नही होता उलटी हानि है और जब हम सब जीवोंमें स्वरूपसाम्यकी दृष्टि बनाते हैं तो तुरन्त ही हम धर्ममय बन जाते हैं, अनाकुलता प्राप्त होती है। सारी सिद्धिया इसमें भरी हुई हैं। तब फिर अब सोच लीजिए कि केवल देखने भरका ही तो काम है। उस भेदकी कलमपनावोंको मैं क्यों देखूँ जिनमे कुछ लाभ भी नहीं है। मैं तो उस स्वरूपसाम्यको ही निरखा करूँ जिसमें कुछ लाभ मिलता है। ससारके सकट टलेंगे। सदाके लिए कर्मबधन मिटेंगे, जिस दृष्टि द्वारा उस दृष्टिको ही हमे निरन्तर उपयोग करनेका ध्यान रखना चाहिए बाहमें कोई आ पडेकी बात हो कि यह करना ही पडेगा अमुक कार्य, तो आ पडेकी हालतें मे आ पडेको, दृष्टिसे कर डालिए, अन्य काम, किन्तु रुचिया होकर मेरा कर्तव्य वह नहीं ही करनेका है और कुछ करनेका काम ही नहीं है ऐसा समझ कर आ पड़े वाले कामसे छुट्टी मिलते ही इसही स्वभावदृष्टिके कार्य मे लग जाना चाहिए।

कृतकृत्यता — आनन्द है तो कृतकृत्यतामें है। भगवान कृतकृत्य है, इस कारण आनन्दमय है। कृतकृत्य उसे कहते हैं जिसने करने योग्य सब काम कर लिया। सब किसने कर लिया ? जिसको कुछ करने लायक ही नहीं रहा। एक स्वभावदृष्टि करके ज्ञानसुधारसका पान करके सतुष्ट बने रहनेका ही काम जिसका है उसने सब कुछ कर लिया अर्थात् करने को कुछ भी नहीं रहा। यथार्थज्ञानके परिणाममें यही एक बात बनती है— अब मेरे करने के लिए बाहरमें कोई कार्य नहीं रहा। ज्ञानी सत बाहरमें कुछ कर भी रहा है तो भी वह कर नहीं रहा है, क्योंकि यथार्थ ज्ञान अन्तर में प्रकाश बनाए हुए है कि तू तो केवल अपना भावमात्र कर रहा है। बाह्यपदार्थोंमें तू कुछ परिणति नहीं करता। इस ज्ञानपरिणामसे उसे सतोष, तृप्ति रहती है, तब फिर मैं जीवोंकी भेद कलमपतावों को न जान

कर उनके स्वरूपसाम्यको ही जानता रहूं, यही यत्न करना, सो ही सिद्ध होने का अमोघ उपाय है।

अभेदप्रवाह— इस निज परमस्वभावको देखो— यह कारणपरमात्मतत्त्व अनादि कालसे ही शुद्ध है अर्थात् केवल अपने स्वरूपको लिए हुए है। इस उपाधिके सम्बन्धके कारण चाहे इन आत्मावोंमें रागद्वेषादिक विकार हो रहे हों, कुबुद्धियां नाच रही हों और कितने ही संत ऐसे हैं जिनके स्वभावदृष्टि बनी है और वे सुबुद्धिका विलास कर रहे हैं, पर इन सभी आत्मावोंमें यह कारणपरमात्मतत्त्व अनादिसे शुद्ध है। किसी नयका आलम्बन करके व्यवहारनयका आलम्बन करके अथवा भेदग्राही निश्चयनयका आलम्बन करके मैं इन आत्मावोंमें क्या भेद करूँ? जिनकी रुचि संसारके किसी कार्यमें नहीं है, जिनकी दृष्टि एक आत्मस्वरूपके अनुभवनमें ही लगना चाहती है, ऐसे पुरुषको इतना भी भेद सहन नहीं है कि इस जीवको इतना तो तक लें कि यह मनुष्य है, यह पशु है, यह पक्षी है अथवा अमुक रागद्वेषके वश है या अमुक रागद्वेषसे परे है। भगवान्‌का भी भेद और भवालीनका भी भेद जिसकी दृष्टिको सहन नहीं है, ऐसे ज्ञानी के अनुभवकी यह बात कही जा रही है। मैं अब क्या भेद करूँ, इसही सम्बन्धमें फिर कुन्दकुन्दाचार्य देव कह रहे हैं।

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया ॥४८॥

कार्यसमयसार और कारणसमयसारकी अविशेषता— इस गाथा में कार्यसमयसार और कारणसमयसारकी विशेषता नहीं रक्खी है अर्थात् दोनोंका साम्य बताया है। कार्यसमयसारका अर्थ है भगवान। समयसार मायने यह आत्मस्वरूप और यह आत्मस्वरूप जहां शुद्ध कार्यरूप बन गया है, शुद्ध विकासरूप बन गया है उसका नाम है कार्यसमयसार और कारण समयसार। जो चीज विशुद्ध बन सकती है उसका नाम है कारणसमयसार या जो विशुद्ध बन रहा है ऐसा जो आतरिक स्वभाव है वह है कारण समयसार। कारणसमयसार निगोदसे लेकर सिद्धपर्यन्त प्रत्येक जीवके एक समान है। जिसे कहते हैं आत्माका स्वरूप। आत्माके स्वरूपसत्त्वके कारण आत्मामें जो सहजस्वभाव है उसका नाम है कारणसमयसार। यह सब आत्मावोंमें है।

उपदेशसार— इस कारणसमयसारकी पहिचान जब नहीं होती है तो अन्य चेतन अचेतन पदार्थोंमें इसे उपयोग लगाना पड़ता है। करें क्या, कहा जाय यहां इस आत्माका रमनेका स्वभाव है। यह कहीं न कहीं

रमेगा जरूर। जब इसे अपनी सहज निधिका भान नहीं है तो और कहीं लगेगा। इसका तो लगने का प्रयोजन है, किन्तु भिन्न-भिन्न कार्योंमें लगना यह इसके लिए क्लेशदायी है। और एकस्वरूप कार्यमें लगना इसके स्वभावकी बात है। जितने भी उपदेश हैं सर्व उपदेशोंका सार यही है कि अपने आपमें ही विराजमान् सहजस्वभावके दर्शन करलो। यह कार्य कर पाया तो सब कुछ कर लिया, वही भगवान्का सच्चा प्यारा है। जिसने अपने आपके निर्विकल्प सहज चैतन्यस्वरूपका अनुभव किया है। इस कारण समयसारमें और कार्यसमयसारमें विशेषता नहीं है--इस बातको इस गाथामें कह रहे हैं।

दृष्टान्तपूर्वक ससारी व मुक्त जीवोंमें स्वरूप साम्यका समर्थन— भैया! एक मोटीसी बात जो एक आध बार और भी कह चुके होंगे। जलका स्वभाव और निर्मल जलका विकास इन दोनोंमें अन्तर नहीं है। एक पानी बिलकुल निर्मल जल है, कांचमें साफ भरा हुआ है और एक पानी किसी पोखरासे लाए हैं और मटीला गदा है। उस मटीले गदे पानी को यदि यह पूछा जाय कि इस जलका स्वभाव कैसा है? तो क्या कोई यह कहेगा कि जलका स्वभाव गदा है, मलिन है? यद्यपि वह मलिन है पिया जाने योग्य नहीं है, फिर भी उसमें जलके स्वभावको पूछा जाय तो उतनी ही बात कही जायेगी जितनी बात इस निर्मल जलके बारेमें कह सकते हैं। निर्मल जलमें और जलके स्वभावमें अन्तर नहीं है। वह जल का स्वभाव ही जब परसम्बन्धसे रहित है तो निर्मल जलके रूपमें व्यक्त है। यों ही समझो कि समस्त ससारी जीवोंमें उनके स्वभावमें और परमात्माके विकासमें क्या कोई अन्तर है?

भवलीन और भवातीतमें स्वरूपसाम्यका कुछ विवरण— यद्यपि ये संसारी प्राणी भवोंको धारण कर रहे हैं, रागद्वेषादिक भावोंसे लिप्त हो रहे हैं, इतने पर भी इन आत्मावोंके स्वभावकी बात कही जाय तो वही स्वभाव है जो भगवान्में है और इस ही स्वभावदृष्टिसे यह कहा गया है कि "मैं वह हू जो हैं भगवान्, जो मैं हू वह हैं भगवान्। यों ही साधारण बात नहीं है कि कह दिया जाय कि भगवान् है सो हम हैं। अरे यहां हम तो लटोरे खचोरे बन रहे हैं, शल्योंसे, चितावोंमें विकारोंसे लदे हुए हैं, चैन नहीं है, अधेरा पड़ा है, मेरी और भगवान्की कहीं बराबरी हो सकती है? लेकिन हम अपने आपमें स्वभावको निरखते हैं और भगवान्के प्रकट स्वरूपको निरखते हैं तो वहा कोई अन्तर नहीं मालूम होता है। यदि अन्तर होता तो मै कभी सकटोंसे मुक्त हो ही नहीं सकता। जैसे लोकके

अग्र भाग पर विराजमान सिद्ध भगवान् अशरीर हैं, अविनाशी हैं, अतीन्द्रिय हैं, निर्मल हैं, विशुद्ध आत्मा हैं, इस ही प्रकार इस संसार अवस्था में भी यह जीव ऐसे ही स्वरूप वाला है।

समयसारका अशरीरत्व— भगवान् अशरीर हैं क्योंकि वहां ५ प्रकारके शरीरोंका प्रपंच नहीं रहा। वे प्रकट अशरीर हैं और यहां यह मैं आत्मतत्त्व निश्चयसे अपने आपके स्वरूपकी दृष्टिसे स्वभावतः सर्व प्रकार के शरीरोंके प्रपचोंसे रहित हू। सिनेमाका पदार्थ बिल्कुल साफ है, शुद्ध है। अब इसके सामने फिल्म चलानेसे उस पर्दे पर नाना चित्रण हो जाते हैं। हो जावो चित्रण, फिर भी क्या पर्देके स्वरूपमें चित्रण है? वह तो अब भी केवल शुद्ध है, साफ स्वच्छ है। एक मोटी बात कह रहे हैं। इस ही प्रकार इस आत्माके साथ वर्तमान कालमें हम आपके इतने शरीरोंका प्रपंच लग रहा है। लग रहा है लगने दो, किन्तु जरा अपने उपयोगमुखको अपने ज्ञानसिन्धुमें डुबाकर निरखें तो यह केवल ज्ञान प्रकाशमात्र मैं आत्मा हू। यहा शरीरोंका प्रपंच नहीं है। यह मैं कारणसमयसार भी अशरीर हू। "जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ।" पानी की तहके ऊपर दृष्टि रखनेसे पानीके भीतर पड़े हुए रत्न जवाहरातोंका क्या परिचय हो सकता है? नहीं हो सकता। इस ही प्रकार इस ज्ञानानन्द सिंधुके ऊपर पर्यायरूपमे तैरने वाली, रुलने वाली, भागने वाली, आई गयी की प्रकृति वाली— इन विभावतरंगोंको निरखकर ही क्या इस आत्मतत्त्वके भीतरकी निधियोंका परिचय पा सकते हैं? नहीं। यह तो इस ज्ञानसमुद्रमें डूब कर अन्तरमे ही निरखे तो इसे आत्मनिधिका परिचय हो सकता है। यह मैं अशरीर हू।

समयसारका अविनाशित्व— भगवान् सिद्ध परमात्मा नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति—इन चारों गतियोंसे रहित हैं। तो अब उनका विनाश क्या? नष्ट तो ये ही हुआ करते हैं चार प्रकार की गतियों वाले जीव। मरण तो इनका ही होता है। जब ये चारों प्रकार के भव नहीं रहे तब फिर इनका विनाश क्या? सिद्ध प्रभु इसी कारण अविनाशी हैं। तो अब जरा कारणसमयसारको देखिये, अपने आपके सहजस्वरूपको देखिये—जो न नरकगतिरूप है, न तिर्यञ्चगतिरूप है, न मनुष्यगतिरूप है, न देवगतिरूप है और न गतिरहित भी है। सो इन पांचों भेदोंसे रहित अपने आपमें अन्तःप्रकाशमान् कारणसमयसारके स्वरूपको तो देखिए इसमें भी गति नहीं है, यह तो ज्ञानानन्दस्वभाव मात्र है। इतना ही कोई समझे मरणके समयमे तो उसे रंच सक्लेश नहीं होता।

समाधिमरणकी अत्यावश्यकता— भैया ! मरणके समयकी तैयारी बनाना यह बहुत बड़ा काम पड़ा है । इस जीवन की जो थोड़ी घटनाएं हैं, सामाजिक, राष्ट्रीय ये तो सब हमारे विकल्पजगतके स्वप्न हैं । हालाकि उस विकल्पजगतमें भी यह कर्तव्य हो जाता है; किन्तु जब परमार्थ हितकी बात कही जा रही हो, सदाके लिए अपनेको स्वस्थ बनाने की बात ध्यानमें लाई जा रही हो तब बड़ा दीर्घदर्शी इसे होना चाहिए । तो मरणके समय जिस ज्ञानसस्कृतिको लेते हुए चलेंगे उसका सस्कार बहुत आगे तक शुद्ध बनता जायेगा और नहीं तो तड़पकर मर लीजिए कुछ मिलना हो तो बतावो । अपने को मरना तो है ही, यह तो निश्चित् है, पर तड़प कर मरने पर सार क्या मिलेगा सो बतावो । ये चेतन अचेतन परिग्रह तो दया कर नहीं सकते कि तुम हमको इतना अधिक चाहते हो सो हम तुम्हारे साथ चलेंगे । फिर किस लिए मरण अवसर बिगाड़ा जाय ? उस मरण अवसरको स्वस्थ बनानेके लिए हमें अपने जीवनमें भी कुछ ज्ञानकी वृत्तिया बनानी होंगी ।

शुद्ध ज्ञानवृत्तिके अर्थ प्रथम कदम— शुद्ध ज्ञानवृत्तियोंमें सबसे पहिला कदम यह है कि हम सब जीवोंको देखकर उनकी बाहरी वृत्तियोंमें न अटककर उनके अन्तरङ्ग स्वरूपको निरखें और यह निर्णय करें कि सब आत्माओं में स्वरूप वही एक है जो मुझमें है, प्रभुमें है । यही है एक धर्मके पथमे चलनेका पहिला कदम जैसे कहते हैं कि नींव धरो । क्या कोई ऐसी भी नींव होती है कि बीचमें एक हाथ तक कुछ न रक्खें और उसके ऊपर धर दें, बीचमें छोड़ दें, फिर उसके ऊपर रख दें । नींव तो मूलसे ही पुष्ट होती हुई उठा करती है । इसी प्रकार जिस धर्मवृत्तिसे हमें मुक्ति मिलेगी उस मोक्षमहलकी नींव सर्व प्रथम तो यह ही है कि कारण-समयसार का परिचय कर लेना । यह स्वभाव नरकगति आदिक सर्व पर्यायोंको स्वीकार नहीं करता । मेरे स्वभावमें ये नरनारकादिक भव हैं ऐसा यह स्वीकार भी नहीं करता । अच्छा तो स्वीकार न करे, किन्तु परित्याग तो करता होगा । अरे जब स्वीकार नहीं करता तो परित्याग कैसे करेगा ?

समयसारकी परपरित्याग स्वीकाररहितता— भैया ! परित्याग करनेका नाम ही पूर्वकालमें अपराध किया, इसको सिद्ध करता है, स्वीकार किया, इसे सिद्ध करता है । किसीसे जरा कह तो दो कि तुम्हारे पिताने जेलसे मुक्ति पा ली है । किसी को भी यह सुहावना न लगेगा । अरे मुक्ति की ही तो बात कह रहे हैं । मोक्षतत्त्वकी बात कह रहे हैं, फिर क्यों बुरा

लगता है ? अरे भाई ! तुम तो मुक्तिकी बात कह रहे हो, पर इस मुक्तिके शब्दके भीतर यह घुसा है कि तुम्हारे पिता जेलमें बंद थे, अब मुक्त हुए हैं। अपने आत्माके स्वभावको देखो कि यह तो विभावोंको स्वीकार भी न कर रहा था तो मुक्तिकी बात कैसे कहें ? विभावका स्वीकार व्यवहारनय से है तो मुक्ति भी व्यवहारनयसे है। व्यवहारनय झूठ तो नहीं है, किन्तु परद्रव्यका सद्भाव या अभावरूप निमित्तको पाकर जो अवस्था प्रकट होती है, उसका वर्णन करनेका नाम व्यवहार है। यह मैं आत्मा सर्वप्रकारके विभावोंका परित्याग और स्वीकार भी नहीं करता हूं, इस कारण मैं अविनाशी हूं।

समयसारकी अतीन्द्रियता— भगवान् सिद्ध अतीन्द्रिय हैं, वे एक साथ समस्त द्रव्यगुणपर्यायोंको, सत्को जाननेमें समर्थ हैं और जो ज्ञान सर्वको जानने वाला है, वह ज्ञान इन्द्रियोंके द्वारा उत्पन्न नहीं होता। इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान किया जाता है, उसमें दो कैदें हैं—एक तो यह कैद है कि तुम अमुक विषयको ही जान सकते हो, सबको नहीं। जैसे कि आंख ! तुम केवल रूपको ही जाननेका काम करोगे रसका नहीं। ऐसे ही सब इन्द्रियोंका अपना अपना जुदा जुदा विषयोंका काम है। दूसरी कैद यह है कि उस विषयके सम्बन्धमें भी कुछ कुछ हद तक जान सकेंगे और कुछ एक देश तक जान सकेंगे। इन्द्रियज्ञानमें कहां सामर्थ्य है कि वह समस्त विश्वको जान सके ?

भगवान् प्रभुने जो ऐसे ज्ञानका उत्कृष्ट विलास पाया है, वह किस उपायसे पाया है ? परमनिजतत्त्वमें स्थित जो सहज दर्शनादिक कारण शुद्धरूप है अर्थात् अपने आपका शुद्धस्वभाव प्रतिभासमात्र उस कारणशुद्धस्वरूपका परिच्छेदन करनेमें समर्थ जो निजसहज ज्ञानज्योति है, उस ज्ञानज्योतिका अनुभवन करके समस्त संशय विपर्यय अनध्यवसाय इन सबको दूर कर दिया है और सारे विश्वका ज्ञायक बन रहा है—ऐसा सिद्धप्रभु है और यह कारणपरमात्मतत्त्व भी जो कि सब संसारी जीवोंमें एक समान है और वह भी अपने प्रतिभासस्वरूपको लिये हुए है, वह भी अतीन्द्रिय है।

आत्मावबोधमें मनोगतिकी सीमा— भैया ! आत्मावबोधमें इन्द्रियकी गति तो है ही नहीं। आत्माके स्वरूपको जाननेमें कुछ थोड़ी बहुत गति है तो मनकी है। सो यह मन भी इस उपयोगको आत्मभगवान् जहां विराजे हैं, उस महलके बाहर आंगन तक ही पहुच पाता है। इस आत्मदेवसे जो भेंट होती है, वहां मन नहीं काम कर सकता है। वहां तो यह

उपयोग अपने इस अभेदस्वरूपके साथ अभेदरूपमें वर्तता है। यह मैं आत्मतत्त्व अतीन्द्रिय हूं।

समयसारकी निर्मलता— सिद्धभगवान् निर्मल हैं। मलको उत्पन्न करने वाले क्षायोपशमिक आदिक विभावस्वभाव नहीं हैं प्रभुमें, इसलिए वे निर्मल हैं। हमारे क्षायोपशमिक ज्ञानमें मल संभव है, क्योंकि थोड़ा जानते हैं, सामनेकी जानते हैं, वर्तमानकी जानते हैं, इससे आगे गति नहीं है। तो ऐसे अधूरे ज्ञानमें ही मल सम्भव है। ऐसे मलको उत्पन्न करने वाले क्षायोपशमिक भाव सिद्धके नहीं हैं। तो इस कारणसमयसारमें भी क्षायोपशमिक भावोंका स्वभाव नहीं है। इस कारण यह कारणसमयसार भी निर्मल है।

समयसारका विशुद्धत्व— भगवान्सिद्ध विशुद्ध आत्मा हैं। न वहां द्रव्यकर्म है, न वहां भावकर्म है। यों जैसे लोकके अग्रभाग पर विराजमान् भगवान्सिद्धपरमेष्ठी अत्यन्त विशुद्ध हैं, इसी प्रकार संसार अवस्थामें भी यह संसारी जीव किसी नयबलसे परमशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे, परमार्थस्वभावसे ये भी पूर्ण शुद्ध हैं, केवल हैं, अपने आपके स्वरूपास्तित्वमात्र हैं। ऐसे इस शुद्धभावके अधिकारमें शुद्ध भावस्वरूप आत्मतत्त्वकी कथनी चल रही है। इस तत्त्वके सम्बन्धमें मिथ्यादृष्टि जन तो शुद्ध और अशुद्धका विकल्प किया करते हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीवकी दृष्टिमें यह कारणपरमात्मतत्त्व और वह कार्यपरमात्मतत्त्व अर्थात् अरहंत और सिद्धअवस्था याने कारणसमयसार और कार्यसमयसार ये दोनों ही तत्त्व शुद्ध हैं।

ज्ञानीका अभिनन्दन— अहो, जो ज्ञानीसंत ऐसी स्वभावदृष्टिसे कारणसमयसार और कार्यसमयसारके साम्यस्वरूपको निरख सकते हैं, वे ज्ञानीसंत हमारे अभिनन्दनके योग्य हैं, वे निकटभव्य हैं, शुद्धज्ञायकस्वरूपके उपयोग वाले हैं। समान समानमें अत्यन्त अनुराग रहता है। पक्षी तो पक्षियोंमें बैठना पसन्द करते हैं और उनमें भी मोर मोरोंमें ही बैठना पसंद करते हैं, सुवा सुवोंमें ही बैठना पसंद करते हैं, पशु पशुवोंमें ही रमा करते हैं, मोही मोहियोंमें ही रमा करते हैं और ज्ञानी ज्ञानियोंमें ही रमा करते हैं। यहां यह शुद्धतत्त्वका द्रष्टा ज्ञानीसंत सर्वज्ञानियोंकी इस परमकला को देखकर प्रसन्न हो रहा है और हृदयसे उनका अभिनन्दन कर रहा है, वह जयवन्त हो और जिस परमतत्त्वके प्रसादसे सारे संकट टलते हैं— ऐसा यह कारणसमयसाररूप परमात्मतत्त्व भी जयवंत हो, सर्वजीवोंमें प्रकट होओ। यद्यपि सर्वजीवोंमें यह कारणसमयसार व्यक्तरूप प्रकट हो नहीं सकता, जो निकटभव्य हैं, उनमें ही होता है, लेकिन ज्ञानी संत क्या

ऐसा छांट छांटकर सोचेंगे कि जो निकटभव्य है, उनमें तो यह तत्त्व प्रकट हो और जो अभव्य हैं वे मरें--ऐसा वे नहीं सोच सकते। जहां स्वरूप-साम्य देखा, वहां सब जीवोंके प्रति एकसी भावना होती है।

जिज्ञासा-- शुद्धभावाधिकारमें प्रारम्भसे अब तक इस जीवके शुद्ध सहजस्वभावके प्रदर्शनमें सर्वविभावभावोंका और परभावोंका निषेध किया गया है। ऐसा वर्णन सुनकर किसी जिज्ञासुको यह संदेह हो सकता है कि ये रागादिक भाव भी इस आत्माके नहीं हैं तो और किसीके हुआ करते होंगे। इस सन्देहकी तीव्रतामें अथवा विपर्ययभावमें यह पुरुष स्वच्छन्द हो सकता है। मुझमें तो रागद्वेष है नहीं। आत्माका क्या हित करना है? यह तो स्वयं हितस्वरूप है।

असमाधानमें स्वच्छन्दता-- गुरु जीने एक घटना सुनाई थी कि कोई पण्डितजी एक शिष्यको ब्रह्मवादका अध्ययन कराते थे। वे पण्डित इस श्रद्धामें ही रहते थे कि मैं तो निर्लेप और निष्पाप हूं, सर्वथा शुद्ध हूं और इस श्रद्धान्से इतनी स्वच्छन्दता आयी थी कि जिस दूकान पर जो चाहे चीज खाये या अन्याय प्रवृत्तियां करें। शिष्यने बहुत कुछ पूछा, समझा, समझाया, पर पण्डित जीका यह कहना था कि मैं सर्वथा शुद्ध हूं। एक बार पण्डित जी किसी ऐसे मुसलमानकी दूकान पर जिसमें कि मांस भी बिकता था और मिठाई भी बिकती थी, वहां जाकर रसगुल्ले खाने लगे। वह शिष्य वहां पहुंचा, शिष्यने पण्डितजीसे कुछ नहीं कहा, बस पण्डितजीके दो तमाचे जड़ दिए। पण्डितजी कहते हैं कि यह क्या करते हो? कहता है कि महाराज, आप क्या करते हैं? यह क्या, खराब जगह पर और क्या खा रहे हो? पण्डितजी बोले कि अरे कौन खाता है? मैं आत्मा तो निर्लेप सर्वथा शुद्ध हूं। वह बोला कि महाराज! आप नाराज न हों, ये चांटे भी तो इस निर्लेप आप ब्रह्ममें जाते ही नहीं होंगे। पण्डितजीने कहा कि हे शिष्य! तूने मेरी आंखें खोल दी हैं।

यह मैं आत्मा सर्वथा शुद्ध हूं—ऐसी विपरीत धारणाका फल बुरा है। ऐसी स्थितिमें निश्चयकी उपादेयताके साथ यहां व्यवहारका भी समर्थन करना आवश्यक हो गया है। अब आचार्यदेव व्यवहारसे यह सब सही है, ऐसा कहते हैं—

एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा ॥४९॥

सम्यग्ज्ञानकी नयद्वयायत्तता— जितने पहिले सारे भाव बताए गए हैं कि इस आत्मामें नहीं हैं, वे सब भाव व्यवहारनयका आश्रय करके देखे

जाये तो सब हैं, पर शुद्धनयका आलम्बन करके निरखते हैं तो संसार अवस्थामें भी ये जीव सब सिद्धके स्वभाव वाले हैं। ज्ञानमें शुद्धद्रव्यका भी बोध होना चाहिए और इसकी परिणतियोंका भी यथार्थज्ञान होना चाहिए। केवल शुद्धस्वभावमात्र आत्मब्रह्मको जाने और परिणतियोंका निषेध करे तो उसका ज्ञान यथार्थज्ञान नहीं है और फिर एक झूठ बात आने पर उस झूठके समर्थनके लिए दसों झूठ रचना करनी पड़ती है। एक अलगसे कोई माया है, वह इस परमार्थको ढके हुए है, यह सब तो एक मायाका रूप चल रहा है। यह ब्रह्म तो सर्वथा शुद्ध ही है। अच्छा यह माया कौन है, कहां है, किस ढङ्गकी है ? न भी समझमें आये तो भी मान्यता तो है, बनाया ही तो है सब कुछ। इस सम्बन्धमें तथ्यकी बात क्या है ? इस तथ्यकी बात को सुनिये।

स्वभाव और वर्तना— यही आत्मद्रव्य अपने स्वरूपमें शुद्ध ब्रह्मरूप है और यही आत्मद्रव्य उपाधिका सन्निधान पाकर रागादिकरूप, मायारूप परिणत हो रहा है। सर्वथा शुद्ध मान्यतामें इस अशुद्ध मायाका विवरण करने पर कुछ वर्णन भिन्नरूप किया जाता है तो फिर कभी यह भी कह दिया जाता है कि उपाधिका सन्निधान होनेसे इस आत्मामें ये रूप-रंग-तरंग रागद्वेष आ जाते हैं, कभी कहना पड़ता है कि झलक जाते हैं। निमित्तनैमित्तिक भावोंमें बात सब जगह एकसी बनायी है, पर कहीं नैमित्तिकताका परिणमन स्पष्ट समझमें आता है, कहीं नैमित्तिकताका परिणमन कुछ ऊपर लोटतासा ज्ञान होता है, कहीं आत्मामें यों भी नहीं नजर आता है, झलकतासा नजर आता है, किंतु जितने नैमित्तिक परिणमन हैं, वे सब उपादानके परिणमन हैं।

नैमित्तिकोंके विशदपरिचयमें तारतम्य पर दृष्टान्त-- जैसे आगका सन्निधान पाकर पानी गरम हो गया तो बताओ पानीमें गरमी भर गयी या नहीं ? खूब समझमें आता है कि भर गयी गरमी। सारा पानी गरम हो गया। जब दर्पणको देखते हैं तो हमारा चेहरा उस दर्पणमें प्रतिबिम्बित होता है तो पूछा गया कि बताओ इस आइनेमें तुम्हारा चेहरारूप जो भी वहां परिणमन है छायारूप, प्रतिबिम्बरूप वह दर्पणमें बन गया ना ? तो जलकी गरमीकी अपेक्षा कुछ कम समझमें आता है और ऐसासा लगता है कि इस दर्पणमें बिम्ब परिणमन क्या हुआ ? यह तो दर्पण पर लोट रहा है। जलकी गरमीकी तरह दृढ़तापूर्वक परिणमनकी बात नहीं बतायी जा सकती है। हाथको खूब हिलाकर फिर हटा लो, फिर सामने दर्पणको कर लो और उस ही तरह वह छाया हो गयी, नहीं हो गयी—ऐसे नानारूप

वहां है ना, इससे जरा कम समझमें आता है। जलमें तो गरमी डटकर पड़ी है पर दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ा है, यह कुछ कम समझमें आता है। अब तीसरी बात देखिये, कोई मोटा काच जिसके आगे पीछे कोई लेप न लगा हो ऐसे उस मोटे काचके पीछे लगा दें अथवा स्फटिक पाषाणके एक ओर यदि लाल पीला पाषाण लगा दें तो वह लाल पीला नजर आता है वह कांच या स्फटिक उसका यह परिणमन दर्पण की अपेक्षा भी बहुत शिथिल समझमें आता है। देखो यह लाल पीला कांच परिणम गया ना, तो दर्पणमें भी वह रंगमय दिखता था, किन्तु यहां कहा परिणम गया ? नजर आ गया। परिणमा तो है ही नहीं। दर्पणमें तो कुछ परिणमा सा समझमें भी आता था, पर इस काचमें तो समझमें ही नहीं आ रहा है। लेकिन चाहे पानीकी गरमी हो, चाहे दर्पणका प्रतिबिम्ब हो और चाहे स्फटिकमें झलका हो, वह सब नैमित्तिक भाव है और अपनी उपाधिका सन्निधान पाकर हुए हैं। उपाधिके दूर होने पर दूर हो जाता है।

आत्मामें नैमित्तिकोंके विशदबोधमें तारतम्य— यों ही इस आत्मद्रव्यमें कोई तो कहते हैं कि आत्मद्रव्य पूरा रागद्वेषमय हो गया—वहां शांतिका, ज्ञानका विवेकका रंग ढंग, नाम निशान नहीं पाया जाता है, ऐसा डटकर अज्ञानी बहिर्मुख हो गया है, अपने स्वरूपको ही खो बैठा। तो किन्हीं की दृष्टिमें ऐसा नजर आता कि जब कोई निमित्त सामने होता है, आश्रय आता है तब यह विपरीत परिणम जाता है और निमित्त गया सो मिट गया, तो कोई यह कहते हैं कि यह परिणमा कुछ नहीं है, यह तो एक झलकसी मालूम हुई है रागद्वेषकी। हुआ कुछ नहीं है। पर तीनों ही बातें अपनी-अपनी दृष्टिमें यथार्थ हैं। लेकिन परिणमन नहीं है और यह आत्मब्रह्म परिणमनशून्य है, यह बात प्रमाणभूत नहीं है। दृष्टिभेदसे उसकी तीव्रता, शिथिलता व उनमें अभाव भी समझा जाना दोषकारक नहीं है, किन्तु किसी एक दृष्टिकी ही बातको सर्वथा हठ करके मान लेना यह दोषकारक है।

शक्ति और व्यक्तिका सद्भाव— इस प्रकरणमें अब तक जो दिखाया गया है कि इसमें भाव भी नहीं है, मार्गणा भी नहीं है, कर्म नहीं, नोकर्म नहीं, कुछ परतत्त्व नहीं। जिन सबका निषेध किया गया है वे सबके सब विभावपर्यायें व्यवहारनयकी दृष्टिसे अवश्य हैं। जो यह मानते हों कि मेरेमें विभावपर्यायें विद्यमान् नहीं हैं तो उसने अभी द्रव्यका स्वरूप नहीं जाना क्योंकि जो भी द्रव्य होता है वह किसी न किसी परिणतिको लिए हुए होता है। मानो विभावपरिणति नहीं है। तो क्या सिद्धांत अनन्त

ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि रूप परिणमते हैं हम सब ? कुछ तो परिणति मानो ! यदि यह कहा जाय कि हां मुझमें शुद्ध विकास अनन्त ज्ञानादिक परिणमते हैं तो यह तो प्रकट झूठ है। कहां है केवल ज्ञान परिणमना ? अगत्या यह वर्तमान विभावपरिणमन आत्मद्रव्यमें यहां मानना पडेगा।

विज्ञानमें स्याद्वादका उपकार— जैन सिद्धान्तका स्याद्वाद कितना अमोघ उपाय है वस्तुविज्ञानका कि जिसका आश्रय लिए बिना वस्तुतत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। जैनसिद्धान्तमें सर्व वस्तु सिद्धान्तोंका समन्वय है, यों कह लीजिए अथवा जैनसिद्धान्तमें से एक-एक अंगको लेकर अन्य सर्वसिद्धान्त हुए हैं, यों कह लीजिए। प्रयोजन यह है कि वस्तु का स्वरूप स्याद्वादका आश्रय लिए बिना जाना नहीं जा सकता। जो भी सत् होगा वह नियमतः गुणपर्यायात्मक होगा। केवल गुणस्वरूप ही सत् कोई नहीं है, केवल शक्तिरूप ही पदार्थ कोई नहीं है। उसकी कुछ न कुछ व्यक्ति, कुछ न कुछ दशा, कुछ न कुछ परिणमन अवश्य होगा। तो इस आत्मतत्त्वके बारेमें परम शुद्ध निश्चयनयसे सर्वभावोंका निषेध किया गया है। वे सब भाव व्यवहारनयसे प्रसिद्ध हैं।

यथा रोगउपचार— किसी गरमीके रोग वालेको शीतल दवाइयों का उपचार पहिले अधिक करना पड़ा, सो अब वह शीत रोगमें आ गया। अब गर्म उपचारकी जरूरत पड़ गई है। यों ही उस निश्चयनयके आदेश से जो कि हमारे लिए परमार्थतः उपादेय है उस शुद्धस्वरूपको सुनकर कहीं यह जिज्ञासु शिष्य सर्वथा एकांत न मान ले, वह एकदम विपरीत उत्पथ पर न पहुँच जाय, इस कारण इस गाथामें पहिली पंक्तिमें व्यवहार नयकी बात कहकर आचार्यदेव उसका परिज्ञान कराते हैं कि ये सब विभाव व्यवहारनयकी अपेक्षा आत्माके ही परिणमन हैं और इस ही गाथामें फिर दूसरी पंक्तिमें शुद्धभावाधिकारमें विस्तृतरूपसे कही गई बात में वही बात कहते हैं कि संसार अवस्थामें भी जीव शुद्धनयसे सिद्ध सदृश शुद्धस्वभाववाला है।

निश्चय परमौषधिकी प्रमुखता— इस जीवने अनादि कालसे व्यवहार व्यवहारको ही जकड़ा, निश्चयका तो कभी दर्शन ही नहीं किया और व्यवहारको ही सर्वस्व मानकर चला। ये इतना व्यवहारका पुराना रोगी है, जैसे पुराने तपेदिकका मिटाना बड़ा कठिन हो जाता है ऐसे ही, अनादिकालीन पर्यायबुद्धिका यह रोगी है। इसका रोग मिटानेके लिए शुद्धनयकी औषधिको अधिक कहना ही चाहिए, देना ही चाहिए और इसी शुद्ध नीतिके अनुसार आचार्यदेव ने इस शुद्ध भावाधिकारमें अब तक

परमार्थदृष्टिसे परमब्रह्मका वर्णन किया। अब इस प्रकरणके अंतमें जब कि थोड़ा उपसंहारात्मक कहना ही शेष रह गया जो कि अब ५ गाथावोंमें और आगे चलेगा, उसमें अब व्यवहारिक भी कथन करके उसे निजके निकट करेंगे। पर जो वास्तविक बात है स्वभावकी बात है वह बात टाली नहीं जाती। व्यवहारका वर्णन करके भी फिर निश्चयकी बात तुरन्त कहना ही पड़ता है। एक तो यह बात है कि आचार्यदेव उस शुद्ध आत्मस्वभावके रुचिया थे, किन्तु अनादिव्यवहारविमूढ़ रोगके रोगीको संबोधनके प्रसंगमें कभी व्यवहारकथन भी इन्हें करना पड़ता है।

अध्यात्मरंगकी रुचि—एक रंगरेज था। वह आसमानी रंगकी पगड़ी रंगना बढ़िया जानता था। उसके पास कुछ लोग आए बोले, भाई हमारी पगड़ी रंग देना, अच्छी रंग देना। हमारी पगड़ी पीले रंगकी रंगना। अच्छा हमारी पगड़ी हरे रंगमें रंगना। अच्छा हमारी पगड़ी सुवापंखी रंगमें रंगना। कहा बहुत ठीक सबकी पगड़ी रक्खा लेने पर कहता है वह अन्तमें कि चाहे पीली रंगावो, चाहे सुवापंखी रंगावो, पर बढ़िया रंग रहेगा आसमानी। उसकी दृष्टिमें दूसरा रंग ही न था। यों ही आत्मदर्शी ज्ञानीसंत पुरुषको दृष्टिमें यह शुद्ध ज्ञायकस्वभाव रुच गया है सो किसी प्रकरणवश, किसी कारणवश दूसरोंको समझाना है इस प्रयोजनसे व्यवहारनयका रंग भी रंग दिया है। किन्तु अंतमें इनका वक्तव्य यही होता है कि रंग तो बढ़िया है यह शुद्ध अध्यात्म परिचय का।

अध्यात्मरुचि व व्यवहारका आलम्बन— अध्यात्मस्वभावके अनुसार संसारअवस्थामें भी ये जीव जो कि विभावभावोंसे परिणमते हुए ठहरते हैं वे सब जीव भी सिद्धके गुणके सदृश हैं शुद्धनयकी विवक्षासे, फिर भी पहली पदवीमें जब हम धर्ममें प्रवेश करते हैं तो व्यवहारनयका आलम्बन करना इनके लिए हस्तावलम्बनकी तरह है। जैसे कोई सीढ़ियों पर बहुत ऊपर चढ़ा हुआ हो और नीचे वालोंसे कहे कि अरे-अरे सीढ़ियोंपर संभलकर पैर रखकर आना ऐसा उसे कहना पड़ता है। अध्यात्मयोगमें वर्त रहे ज्ञानीसंत कुन्दकुन्दाचार्यदेव मानों मर्मतमें खेदपूर्वक कह रहे हों कि पहिली पदवीमें तो व्यवहारनयका ही आश्रय करना, लेकिन फिर भी व्यवहारनयको ही सर्वस्व मानकर आश्रय करोगे तो जैसे नागनाथ और सांपनाथ दोनों बराबर हैं—नाम भेद है कि इसने धर्म कर लिया। जिसने नहीं धर्म किया वह और जो कल्पित धर्म कर रहा है उन दोनोंका एक नाम है यदि व्यवहारको ही सर्वस्व मान लिया तो।

व्यवहाराश्रयमें भी अध्यात्मदृष्टिकी आवश्यकता— भैया ! व्यवहार-नयका आश्रय रखिये, किन्तु वहाँ भी यह समझिए कि चैतन्यचमत्कारमात्र समस्त परभावोंसे विविक्त इस आत्मतत्त्वको जो नहीं देखते हैं, उनके लिए ये सब कुछ थोथी बातें हैं। धर्मके प्रोग्राममें शुद्ध ज्ञानकी प्रगतिका उपाय न कोई करे तथा और जितनी देव, शास्त्र गुरुकी पूजा रटी हुई है, जो ८ वर्षकी उम्रमें सिखाई गयी थी और अब ८०-८१ वर्षकी उमर हो जाने पर भी उतनाका ही उतना सब कुछ है, इसके अतिरिक्त तत्त्वकी बातें, ज्ञानकी बात अन्य कुछ नहीं आयी है, न अन्तरमें उस स्वभावके स्पर्शके यत्नकी धुन बन पायी है और न कोई विज्ञानकी प्रगति हुई है तो जो तब था अब भी वही है, कोई विशेषता नहीं बनी है— यह सब व्यवहारनयकी बात है। उसका आलम्बन करना गृहस्थको उचित है, ठीक है, किन्तु क्या इतना ही करना कृतकृत्यतामें शामिल होगा। मोक्षमहलको निकट बना लेगा क्या ? उत्तर दीजिए। आवश्यक है सबको कि बड़े ढङ्गसे बाह्यवस्तुवोंमें ममताको त्यागकर केवल आत्महितका नाता समझकर धर्मप्रगतिके लिए शुद्ध ज्ञानमें वृद्धि करनेका यत्न करें।

शुद्ध तत्त्वकी दृष्टि बिना निर्णयमें विडम्बना— शुद्ध तत्त्वके रसिक लोग वे सर्वत्र चाहे संसारी जीव हों, चाहे मुक्त जीव हों, सब सबको शुद्ध निश्चयनयसे देखते हैं तो वहाँ कहीं विशेषता नजर नहीं आती। कहाँ दृष्टिको ले जाकर देखना है ? यह बात जब तक ध्यानमें न आए, तब तक कुछ तो ऐसा लगेगा कि यह भगवान्का अपमान किया जा रहा है कि संसार अवस्थामें भी यह जीव भगवान्की तरह कहा जा रहा है। कुछ ऐसा लगेगा कि इसे कुछ करना धरना रुचता नहीं है, सो गप्प मारकर ही अपना मन खुश रखना चाहता है। कुछ ऐसा लगेगा कि क्या पढ़ा लिखा है, क्या जाना है ? यह तो ढङ्गसे बात ही नहीं की जा रही है। लो एक तराजूमें एकसमान पलड़े पर रख दिया संसारको और भगवान्को, किन्तु जिस अन्तरके स्वभावकी दृष्टिको रखकर यह वर्णन है, वह दृष्टिमें न आए तो इसका मर्म समझा नहीं जा सकता है।

स्वभावदृष्टिकी महिमा— आत्मा सत् है और अपने सत्त्वके कारण इसमें कुछ न कुछ स्वभाव है, वह स्वभाव निरपेक्ष है। आत्मामें चैतन्य-स्वभाव किस पदार्थकी कृपासे आया ? बतलाओ रागद्वेषादिक भावोंको तो आप कह सकते हैं कि ये कर्मोंके उदयवश आए और अच्छा आत्मामें जो चैतन्यस्वभाव है, वह किस दूसरेकी कृपासे आया ? बतलाओ। स्वयं ही यह आत्मा सत् है तो स्वयं ही यह आत्मा चैतन्यस्वभावमात्र है। जिस

स्वभावमात्र यह आत्मस्वरूप है, उस स्वभावमे दृष्टिको ले जाकर फिर निरख डालिए सब जीवोंको कि सब एकसमान हैं। जिस दृष्टिमे सर्वजीवों का स्वभाव एकरूप नजर आता है, उस दृष्टिके बलसे उस एकरूप स्वभाव का आलम्बन करके जो उस ही परिचयमे स्थिर होते हैं, रमते हैं, वे ही पुरुष शिवपथिक हैं और इस कल्पित झूठी असार विपदाको ही सर्वसमागमोंका मोह परित्याग करके सुखी हो जाते हैं। यह सब आनन्द शुद्ध तत्त्व के रसिक लोग पाया करते हैं, विषयोंके व्यामोही तो इसकी सुगन्ध भी नहीं पा सकते।

पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा ॥५०॥

हेय और उपादेय-- पहिले जितने भी भाव बताए गए हैं निषेधरूप मे और जिनका फिर व्यवहारनयसे समर्थन किया गया है, वे सब भाव परद्रव्य हैं, परभाव हैं इस कारण हेय हैं और निजद्रव्य उपादेय है। वह निजद्रव्य है अन्तस्तत्त्व अर्थात् स्वयं आत्मा। यह आत्मा स्वभावतः ज्ञानानन्दस्वरूप है। जो चीज इस आत्मामे कभी हो और बिखर जाए, विलय हो जाए, वह आत्माकी चीज न समझिए। आत्माका तत्त्व वह है जो आत्मामें प्रारम्भ अर्थात् अनादिसे लेकर सदा काल तक रहे।

आत्माका शाश्वत तत्त्व -- अब खोजिए कि इस आत्मामें शाश्वत् रहने वाली बात क्या है? क्या गुणस्थान और यह मार्गणास्थान? गतिमार्गणा, इन्द्रियमार्गणा, कायमार्गणा आदि ये सबके सब भाव आत्मामें अनादिसे अनन्तकाल तक टिकने वाले नहीं हैं। कभीसे होते हैं और कभी समाप्त हो जाते हैं, इस कारण ये सब आत्माके लक्षण नहीं हैं, स्वभाव नहीं हैं, किन्तु उपाधिके सन्निधानमें जीवकी कैसी कैसी अवस्थाएं होती हैं और फिर उस उपाधिका अभाव हो जाने पर फिर जीव जीवकी क्या स्थिति होती है? इसका वर्णन मार्गणाओंमे है, पर वे सब मार्गणाओंके भेद जीवके स्वरूप नहीं हैं। यह जीवस्थानचर्चा जीवकी दशाको बताने वाली है। जीवका स्वरूप तो फिर यों जान लीजिएगा कि जो तत्त्व इन सब भेदोंमे रहता हो व किसी भी भेदरूप बनकर नहीं रहता, वह है जीव का स्वरूप।

अनात्मभावका द्वैविध्य-- इन भावोंमे कुछ भाव तो सीधे पौद्गलिक हैं। हैं जीवके सम्बन्धसे, पर हैं स्वयं पौद्गलिक और कुछ भेद हैं तो जीवके विकार, किन्तु हैं उपाधिके सम्पर्कसे। जैसे ये औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर, पृथ्वीकाय, जलकाय आदिक ये सभी शरीर सीधे पौद्ग-

लिक हैं, पर जीवके सन्निधान बिना ऐसी रचना नहीं हो पाती है, इस कारण सम्बन्ध तो है, परन्तु हैं सीधे पौद्गलिक। ये रूप, रस, गंध, स्पर्श के पिण्ड हैं, प्रकट जड़ हैं। जीवके चले जाने पर ये पड़े रहते हैं। सो वे भी प्रकट परतत्त्व हैं, इसलिए इस जीवको वे हेय हैं, उनकी दृष्टि करना हेय है, उनका अपनाना यह योग्य नहीं है और कुछ भाव ऐसे हैं जो पौद्गलिक तो नहीं हैं, हैं तो जीवके भाव, किन्तु जीवमें अनादिसे नहीं हैं व सदा रहने वाले नहीं हैं, इस कारण वे भी नैमित्तिक भाव हैं, जीवके स्वभाव भाव नहीं हैं।

गतिमार्गणा और जीव स्वरूप— उदाहरणके लिए देखो, गतिमार्गणा ५ होती हैं—नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति, देवगति व गति रहित। नरकगति जीवके स्वभावमें नहीं पड़ी है किन्तु नरकगति नामक नामकर्मके उदयमें ऐसी स्थिति बन जाती है तब नरकगति इस जीवके हित की चीज नहीं है। उसकी दृष्टि करना अयोग्य है। तिर्यञ्चगति नामकर्म के उदयसे तिर्यञ्चगति होती है। मनुष्यगति भी और देवगति भी उन उन नामकर्मोंके उदयसे होती है। ऐसे ही ये चारों गतियां जीवका स्वरूप नहीं हैं, और गतिरहितपना भी जीवका स्वरूप नहीं है। क्योंकि गतिरहितपना जीवमें अनादिकालसे नहीं है। जिस क्षणसे मुक्त हुआ है उस क्षणसे यह गतिरहित है। यदि गतिरहित होनेकी स्थिति जीवका स्वरूप होता तो अनादिकालसे रहता। जीवका स्वरूप तो ज्ञायकभाव है, चैतन्यभाव है वह कभी अलग नहीं होता। यद्यपि गतिरहित होना जीवका स्वभावपरिणमन है, कोई अन्य बातका मेल नहीं है, लेकिन गतिरहितपना किसी की अपेक्षा रख रहा है और स्वरूप अपेक्षा रखकर नहीं हुआ करता है।

इन्द्रियमार्गणा और जीवस्वरूप— इन्द्रियमार्गणावोंमें वे छहोंकी छहों मार्गणाएं आपेक्षिक चीज हैं जिनमें एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय चारइन्द्रिय, पांचइन्द्रिय ये तो आपेक्षिक हैं ही, कर्मके उदयके सन्निधानमें होती हैं। इन्द्रियां दो प्रकारकी हैं एक द्रव्येन्द्रिय और एक भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय तो प्रकट पौद्गलिक हैं और भावेन्द्रिय जीवके परिणाम हैं—खण्ड ज्ञान हैं, पर द्रव्येन्द्रिय भी जीवका स्वरूप नहीं है और भावेन्द्रिय भी जीवका स्वरूप नहीं है। खण्ड-खण्ड जानना यह जीवका लक्षण नहीं है, यह तो एक असक्त स्थितिमें परिस्थिति बन गई है और इन्द्रियरहित होना भी जीवका लक्षण नहीं है। यद्यपि इन्द्रियरहित होना जीवका स्वभाव भाव है, फिर भी यदि लक्षण होता तो अनादिकालसे यह जीव इन्द्रियरहित क्यों न रहा? किस क्षणसे क्यों हुआ?

आत्मक्रान्ति— इस गाथामें स्वभाव भावकी बात तो नहीं कह रहे हैं, किन्तु जितने भी ऐसे भाव हैं जो परद्रव्यरूप हैं या परके निमित्तसे होने वाले जीवोंके विकाररूप हैं वे सब भाव हेय हैं। जैसे जब कपनमें क्रांति आए और एक धुनि बन जाय कि बढ़े चलो, कहां? स्वभावकी ओर, कहां? मुक्तिकी ओर बढ़े चलो। तो बढ़े चलो के यत्नमें रास्तेमें कितने ही स्थान आयेंगे, कितने ही पद होंगे, कितनी ही परिस्थितियां आयेंगी, उन सबमें न अटक कर बढ़े चलो, बढ़े चलो—यह उसका यत्न होगा। मानो अबसे ही मुक्तिका यत्न होगा तो इस ही जीवनमें अनेक प्रसंग आयेंगे, गोष्ठी बनेगी, चर्चा होगी। जगलमें रहे, गुफामें रहे, कहीं रहे। मरने के बाद कितने ही भव मिलेंगे। कभी मनुष्यगति मिली, कभी देवगति मिली। देवगतिमें बड़ी बड़ी ऋद्धियां मिलीं, पर जो मुक्तिके लिए क्रांतिके साथ बढ़ रहा है उसकी अन्तर्ध्वनि है—बढ़े चलो, कहीं मत अटको, बढ़े चलो। इतनी देवोंकी दीर्घ आयु व्यतीत करके मनुष्यभवमें आए यहां पर भी बड़ा समागम मिला, बड़ा लाड़ प्यार मिला, लोगोंके द्वारा होने वाला आदर मिला, पर इसकी धुन है—बढ़े चलो, मत कहीं अटको। समस्त परद्रव्य जो अत्यन्त भिन्न हैं वे भी समागममें आते हैं। और जो अपने एकक्षेत्रावगाहमें हैं ऐसे शरीरादिक ये भी समागममें आते हैं और रागद्वेषादिक औपाधिकभाव ये भी आक्रमण कर आते हैं, पर ज्ञानीकी दृष्टि यह है कि बढ़े चलो, किसी भी परभावमें मत अटको।

प्रयोजनवश विभाव गुणपर्यायकी उपादेयता— जितने भी विभाव गुणपर्याय बताये गए हैं वे सब व्यवहारनयकी दृष्टिसे उपादेयरूपसे कहे गए हैं, लेकिन परमशुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे उपादेयरूप नहीं कहे गये हैं, परम शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे वे हेय हैं। यहां उपादेयका मतलब ग्रहण करनेसे नहीं है कि जीवमें रागद्वेष बताये हुए हैं तो व्यवहारदृष्टि से वे भी उपादेय हैं—ऐसा अर्थ न लेना, किन्तु ये रागद्वेष जीवमें हुए हैं, जीवके वर्तमान परिणमन हैं ऐसा ज्ञान करना, ऐसा मानना यह उपादेयका है मतलब है क्योंकि ऐसा माने बिना और ये रागादिक पुद्गलके हैं मेरे नहीं हैं, ऐसा मानने पर जीव कल्याण किसका करेगा? पुद्गलके रागद्वेष हैं तो पुद्गलका तो कल्याण करना नहीं, जो रागद्वेष मिटानेका यत्न किया जाय। जीवमें रागद्वेष हैं नहीं, तब फिर यत्न किसका करे? इस कारण यथार्थज्ञानके लिए व्यवहारनयकी दृष्टि आवश्यक है, उपादेयरूप हैं अथवा चारित्रके मार्गमें जब उत्कृष्ट ध्यान, उत्कृष्ट भक्ति, उत्कृष्ट रमण नहीं हो पाता है तो देवपूजा दान परोपकार आदिक जो शुभोपयोग हैं वे

राग हैं, फिर भी व्यवहारनयकी दृष्टिसे उपादेय बताए हैं, लेकिन शुद्धनयके बलसे वे सभी परिणमन हेय हुआ करते हैं।

निर्विकल्प समाधिके उद्यममें— अब जरा यों सोच लो कि भारी पढना क्यों जरूरी है ? धार्मिक ज्ञान करना, बड़ी बातें जानना, शास्त्र पढना, सब न्याय करणानुयोग खूब पढ़ना—ये सब काहेके लिए किए जाते हैं ? उन सबको और उनके साथ अन्य विकल्पोंको भी एकदम छोड़ देनेके लिए। जो कुछ पढ़ेंगे, उस पढ़ेको छोड़ देनेके लिए पढा जाता है। वाह, कोई कहेगा कि हम बड़े अच्छे, बिना पढे पहिले से ही हम छोडे भये हैं। सारा पढ़ना छोड़नेके लिए ही तो कहा है। सो भैया ! यों नहीं स्वच्छन्द होना है। जरा ध्यानसे सुनिये कि जो कुछ पढ़ा जाए, जो कुछ जानकारी बनायी जाए, वह सब अलग करना है और बडे विश्रामसे निर्विकल्प आरामसे रहना है। याद किया, सोचा, जीव समास हैं, गुणस्थान हैं, यह सब छोड़ना होगा और समाधिपरिणाम करना होगा, किन्तु कोई ऐसा सोचे कि जो छोड़ना होगा, उसे पहिलेसे पढें क्यों ? तो उसमें वह कला न आएगी कि इसको भी छोड़ें और इसके साथ संसारके सर्वविकल्पोंको भी छोड़ें। तो यों ये सब चीजें व्यवहारनयसे करनी होती हैं, करना चाहिए, फिर भी ध्येय एक ही प्रमुख रहता है ज्ञानी जीवका। सर्वसे विविक्त केवल उस आत्मतत्त्वमें ही रहूं।

मुमुक्षुका लक्ष्य— जैसे कोई मकान बनवा रहा है तो उसका प्रधान लक्ष्य क्या है ? मकान तैयार कराना। अच्छा, आज जा रहा है वितरण विभागमें कि हमारा सीमेण्टका परमिट बना दो, कभी ईंट वालेके पास जा रहा है, कभी प्रोग्राम बनता है कि आज मजदूरोंको इकट्ठा करना है। वह मजदूरोंको इकट्ठा करता है, सारी सामग्रियां जुटाता है, फिर भी उसका लक्ष्य यह सब कुछ करना नहीं है। उसका लक्ष्य तो मकान बनवानेका है। कभी किसी कारीगरसे लड़ाई हो जाए तो उससे वह यह भी कहता है कि अब हम तुम्हें न रखेंगे, कलसे दूसरा कारीगर रखेंगे। क्या कोई ऐसा भी करेगा कि मकान बन गया, थोड़ासा ही रह गया और वह यह कहे कि अजी ठीक नहीं बना है, इस मकानको ढा दो ? उसमें यह फर्क नहीं डालता है। देखो वह कितने ही अन्य कार्य कर रहा है, पर लक्ष्य उसका केवल एक है घर बनवानेका। उपलक्ष्य उसके बीचमें सैकड़ों हो जाते हैं। ऐसे ही ज्ञानीजन हैं, चाहे अविरत गृहस्थ हो, चाहे प्रतिमाधारी श्रावक हो पंचम गुणस्थानका, चाहे मुनि हो, सबका लक्ष्य एकरूप है। लक्ष्यके दो भेद ज्ञानियोंमें नहीं है, किन्तु उपलक्ष्य अपने अपने पदके अनु-

सार विभिन्न होते हैं।

विभावगुणपर्यायोंकी हेयताका निर्णय— किन्हीं स्थितियोंमें व्यवहारनयका आदेश उपादेय है, फिर भी सर्वज्ञानियोंका सर्वपरिस्थितियोंमे मूल निर्णय एक ही है कि ये सबकी सब पर्यायें, परिणमन हेय हैं, क्योंकि परस्वभावरूप हैं। यह शरीर परस्वभाव है और रागादिक भाव परस्वभाव हैं। परस्वभावके दो अर्थ करना--परके स्वभाव पुद्गलके स्वभाव हैं ये शरीर। पर स्व भाव— तीन टुकडे कर लो। परपदार्थके निमित्तसे होने वाले स्वके परिणाम। उसका नाम है परस्वभाव। तो ये रागादिक भाव तो परस्वभाव हैं- ये परके निमित्तसे होने वाले स्वमें जीवके परिणाम हैं, इस कारण परस्वभाव हैं और ये शरीर आदिक प्रकट परके स्वभाव हैं, रूप-रस-गंध-स्पर्श वाले हैं। यह कहा मेरा स्वभाव है? परस्वभावरूप होनेसे ये सबकी सब विभावगुणपर्यायें जो व्यवहारनयके आदेशमें जीवके बताए गए हैं, वे सब हेय हैं और परस्वभाव होनेके कारण से ये सब परद्रव्य हैं।

रागादिकोंका परभावपना— भैया! शरीर परद्रव्य है, ऐसा सुनते हुए कोई अड़चन नहीं होती। ठीक कह रहे हैं, भौतिक है, पुद्गलसे रचा गया है और रागादिक परभाव द्रव्य है-ऐसा सुननेमे कुछ अड़चन हो रही होगी। रागादिक भावोंको कैसे परतत्त्व कह दिया? ये तो चेतनके तत्त्व हैं, ठीक है, इसमें भाव यह है कि परद्रव्यके निमित्तसे होने वाला जो परिणाम हैं, उसको परद्रव्यकी निकटता दी गई है। तुम जाओ परद्रव्योंके साथ।

दूसरी बात देखिए कि जो जौहरी शुद्ध स्वर्णका प्रेमी है, बाजारमें शुद्ध स्वर्णका ही लेनदेन करके उसमें ही उसकी रुचि है, उसकी ही परख रखता है, उसको ही कसौटी पर कसता है और उसके पास यदि कोई चार आने मैल वाली एक तोले सोनेकी डली लाए तो वह उस सोनेको फेंककर फेंक देता है और कहता है कि क्या तुम मिट्टी हमारे पास लाए हो, क्या तुम पीतल हमारे पास लाए हो? अरे बाबा! कहा है यह पीतल? इसमे तो १२ आने भर स्वर्ण है। लेकिन जिसको शुद्ध स्वर्णसे प्रेम है और जब शुद्ध स्वर्णके व्यवहारका ही मन चलता है तो उसकी निगाहमें वह हेय होने के कारण मिट्टी अथवा पीतल हो जाता है। यों ही जिसकी अंतस्तत्त्वमें रुचि है, आत्मस्वरूपमें भक्ति है-ऐसे पुरुषको ये रागादिक भाव जो कि चैतन्यके विकार हैं, परिणमन हैं, फिर भी उन्हें रञ्च स्वीकार नहीं किया करता कि यह मैं हूं। जब यह स्वीकार नहीं किया गया कि यह मैं हू और

कोई झकझोरकर बारबार पूछे कि बताओ तो सही किसके हैं रागादिक ? वह झल्लाकर कहेगा कि पुद्गलके हैं रागादिक । सो ये समस्त विभाव हेय हैं ।

अन्तस्तत्त्वकी उपादेयता— अब उपादेय क्या है ? सर्वविभावगुण पर्यायोंसे रहित जो शुद्ध अन्तरतत्त्वस्वरूप है, वही स्वद्रव्य होनेके कारण उपादेय है । इस अंतस्तत्त्वके परिचयमें रञ्च भी दशाकी ओर दृष्टि न देना । तो शुद्ध परिणमनकी ओर भी कौन दृष्टि दे ? सिद्धभगवान्, अरहंतभगवान्, केवलज्ञान, वीतरागता, गतिरहित, इन्द्रियरहित, कायरहित, वेद रहित, योगरहित, कषायरहित, किसी भी शुद्ध दशा पर भी दृष्टि दें तो भी अन्तस्तत्त्वका परिचय नहीं किया गया । आत्माकी किसी भी दशाको उपयोगमें न लेकर जिस शक्तिकी ये सब दशाएं बना करती हैं, उस शक्तिको, मात्र इनर्जीको, केवल स्वभावको दृष्टिमें लिया जाए तो अंतस्तत्त्वका परिचय मिलता है । यह अन्तस्तत्त्व समस्त विभाव गुणपर्यायोंसे रहित है, निजद्रव्य है, इसके सत्त्वमें किसी अन्यकी घराई नहीं है । किसी परद्रव्यके निमित्तसे इसका सद्भाव नहीं हुआ करता है । इस कारण यह शुद्ध अंतस्तत्त्व उपादेय है ।

अन्तस्तत्त्वकी सहजज्ञानरूपता— यह शुद्ध अन्तस्तत्त्वका जो स्वरूप है, वह सहजज्ञानरूप, सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजसुखरूप है । सहजज्ञान और ज्ञान इनमें अन्तर क्या रहा कि जाननरूप जो प्रवर्तन है, उसका नाम तो ज्ञान है । ये ज्ञान तो नाना होते हैं— अब पुद्गलका ज्ञान, अब चौकीका ज्ञान है अब घरका ज्ञान है, ये ज्ञान नाना होते हैं, किन्तु उन सब ज्ञानोंकी आधारभूत, स्रोतभूत जो ज्ञानशक्ति है, उसका नाम है सहजज्ञान । वह सहजज्ञान अनादि अनन्त एकस्वरूप है । यह अन्तस्तत्त्व ज्ञानरूप नहीं है, किन्तु सहजज्ञानरूप है । ज्ञानमें तो केवल ज्ञान भी आया है, वह भी एक दशा है, पर केवलज्ञान अन्तस्तत्त्व नहीं है किन्तु सहजज्ञान अन्तस्तत्त्व है । यद्यपि केवलज्ञान सहजज्ञानका शुद्ध विकास है, पर विकास तो है, दशा है, पर्याय है । यों ही सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजआनन्द और सहजचारित्ररूप जो यह शुद्ध अन्तस्तत्त्व है, इसका आधारभूत कारणसमयसार है ।

अद्वैतके प्रतिबोधनार्थ आधार आधेयका व्यवहार— यह सब कुछ बोधके लिए आधार आधेय बताया जा रहा है । वहां आधार आधेय क्या है ? जो एक ही स्वरूप है, उसे आधार आधेय क्या कहें ? जैसे कोई कहे कि नीलरंगमें नील रंग है, बोलते भी तो हैं ऐसा लोग । वह नीलरंग

पदार्थ जुदा है क्या और नीलरग जुदा है क्या ? पर समझने के लिए एक चीजमे भी आधार आधेय भाव बताया जाता है। इस शुद्ध अंतस्तत्त्वका आधार सहजपारिणामिक भावरूप कारणसमयसार है। यह मैं शुद्ध अंतस्तत्त्व हू, शुद्धचिन्मात्र हू, सदैव परमज्योतिरूप हूं।

अन्तस्तत्त्वकी उपासनाका महत्त्व-- अहो, यह तत्त्व मोक्षार्थी पुरुष के लिए, ससारसे विरक्त पुरुषके लिए उपासना करने के योग्य है। मै यह शुद्ध चित्स्वभावमात्र हू और ये रागद्वेषादिक भाव जो मेरे स्वभावसे पृथक् बिलकुल विपरीत लक्षण वाले है वे सब मैं नही हू। वे सारेके सारे परद्रव्य हैं। मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र हू। देखो—देखो--जब इस जीवद्रव्य में उठने वाली रागद्वेषादिक तरगोंको भी अपनेमे नहीं कहा जा रहा है तो धन वैभव बाहरी बातें जो प्रकट जुदी हैं, उनमें कोई ऐसी वासना लाये कि वे तो मेरे हैं तो यह तो बडे व्यामोहकी बात है। मैं तो शुद्ध जीवास्तिकायरूप हू। इस शुद्ध जीवतत्त्वके अतिरिक्त अन्य सब भाव पुद्गल द्रव्यके भाव है। जो ऐसे स्वरूपास्तित्वमात्रका ज्ञाता है वह पुरुष अपूर्व सिद्धिको प्राप्त करता है, जो आज तक नहीं मिला।

अपूर्व सिद्धि— भैया ! अपूर्व सिद्धि क्या है ? शुद्ध सहज अनाकुल अवस्था। जिसकी परद्रव्योंमे रुचि नही है, परद्रव्योंका झुकाव नही है, परद्रव्योंका विकल्प नहीं है वह शुद्ध ज्ञानरसानुभवसे छका चला जा रहा है। ऐसा पुरुष सहज अनाकुल अवस्थाको प्राप्त करता ही है। बाह्य परिस्थितिया कुछ रहो, बाहरी पदार्थका इस पर कोई हठ नहीं चल सकता हम यदि अपने अन्तरमे पडे ही पडे अपने आपके स्वभाव उपवनमें विहार करके शुद्ध आनन्द लूटा करें तो इसमें कौन बाधा डालता है ! बाह्यपदार्थों मे लग लग कर इतना तो थक गए--अब उस थकानसे भी थककर अपने आपके ज्ञानसुधारसका पान करे। एक परमविश्राम तो लेना चाहिए। लोग थक कर थोड़ा तो रुक जाते है ताकि फिर काम करनेकी स्पीड आ जाय। अरे इन विषयोंसे थक कर थोड़ा भी तो नहीं रुकते। विषयोंका रुकना और ज्ञानसुधारसका पान करना, इन दोनोंका एक ही तात्पर्य है। शुद्धज्ञानानुभव ही अपूर्व सिद्धि है।

विपरीवाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।
ससयविमोहविब्भमविवज्जिय होदि सण्णाण ॥५१॥

सम्यक्त्व व सम्यग्ज्ञानके लक्षणके कथनका सकल्प-- इस शुद्ध भावाधिकारमे कारणब्रह्मका, शुद्धस्वभावका वर्णन करके अब चूकि शुद्ध भावाधिकार पूर्ण होने को है अत इससे पहिले कुछ विज्ञानकी बातें

बनायी जा रही हैं, जिनमें प्रथम सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञानका लक्षण कहा जा रहा है। जहां ज्ञान और विज्ञान दो शब्द कहे जायें वहां यह अर्थ लेना कि ज्ञान तो उसे कहते हैं जो आत्मविषयक स्वरूपतत्त्वको जनावे और विज्ञान उसे कहते हैं जो एकस्वरूप अतस्तत्त्वके अतिरिक्त विविध तत्त्व का ज्ञान करावे। जैसे जीवस्थान चर्चा जितनी भी है वह सब विज्ञानसे सम्बन्धित है और शुद्ध अतस्तत्त्व का विवरण जितना है वह ज्ञानसे सम्बन्धित है। ज्ञानसे सम्बन्धित ही विज्ञान यहां बताया जा रहा है।

सम्यक्त्वका अर्थ— जीवको कल्याणमार्गसे कल्याणसदनमें पहुंचाने में सर्वप्रथम सोपान मिलता है तो सम्यक्त्वका। सम्यक्त्वका शब्दार्थ है भलापन। समीचीनता। सम्यक् शब्दमें त्व प्रत्यय मिला है जिसका अर्थ हुआ भला, समीचीन और उसका भाव समीचीनता। समीचीनता और स्वरूप इन दोनोंमें सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो अन्तर है। स्वरूप तो निरपेक्ष कथनमें आता है और समीचीनता की बात निरपेक्ष कथनमें नहीं आती है। कोई वस्तु समीचीन है, इसका यह अर्थ है कि उस वस्तुमें ऐब नहीं है। ऐबके अभावसे समीचीनता मानी जाती है। दोषोंके न होनेका नाम समीचीनता है। तो आत्मामें पहिले सम्यक्त्व आना चाहिए, मायने समीचीनता आना चाहिए। उन समीचीनतावोंमें सर्वप्रथम समीचीनता है विपरीत आशयका दूर हो जाना।

भ्रमका विचित्र क्लेश— विपरीत आशयसे रहित श्रद्धानको सम्यक्त्व कहते हैं। यद्यपि इस आत्मामें ऐब बहुत पडे हुए हैं—उपाधिके सम्बन्धसे दर्शन मोह और कषायें, किन्तु सब ऐबोंका मूल है, दर्शन मोह, विपरीत आशय पदार्थ है। और भांति, मानते हैं और भांति, यही है विपरीत आशय। जीवों को जितने भी मौलिक क्लेश हैं वे सब विपरीत मान्यताके क्लेश हैं। भ्रमका क्लेश बहुत अजबका क्लेश होता है, इस क्लेशका इलाज किसी दूसरेके निमित्तके हाथकी बात नहीं है। कषाय आये, क्रोध आए चार भाइयोंने समझा दिया, जरासी उसकी प्रशंसा कर दी, लो शात हो गया, बन गया इलाज। पर भ्रमका इलाज कौन दूसरा करे? भ्रम मिटनेकी बात तो स्वयंके ज्ञानके आधीन है। उस ज्ञानमें कोई निमित्त पड़ जाय, यह बात दूसरी है, पर यह स्वयं ही इलाज कर सकता है।

विह्वलता और वेदना— एक यह कथानक है कि १० जुलाहे मित्र एक हाटमें कपड़े बेचने गये। रास्तेमें पड़ती थी नदी। चले गए बाजार। बाजारसे कपड़े बेचकर जब वापिस आए तो उस नदीमेंसे फिर निकल

कर आए, अब उन्होंने सोचा कि हम सब अपनोंको गिन तो लें, वे दस थे, दसोंके दसों हैं कि नहीं। सो गिनने बैठे। गिनने वाला गिनता जाए कि एक, दो, तीन, चार, पाच, छः, सात, आठ और नौ। सबको तो गिन गया, पर अपनेको न गिना। सो वह बड़ा बेचैन हो गया। कहा कि एक मित्र तो गुम हो गया भाई। अब दसोंने बारी बारीसे गिना, किन्तु सभी अपने आपको न गिने और दूसरोंको गिन लेवे तो ९ ही निकलें। सभी रोने लगे, हाय-हाय करने लगे कि हमारा एक परम मित्र नदीमें बह गया है। उस क्लेशमें वे सब इतने दुखी हो गए कि सिरमें ईंट मारने लगे। अब कोई एक मुसाफिर निकला। उनको देखकर पूछता है कि तुम लोग क्यों विह्वल हो रहे हो? उन्होंने बताया कि हम बाजार गये थे दो रुपयेके मुनाफेको और एक मित्रको खो आये। हम १० थे, वह न जाने कहां नदीमें बह गया। उसने एक नजर डालकर देखा कि कहां बह गया? दसोंके दसों तो हैं। मुसाफिरने कहा कि गिनना जरा कितने हो? तो पहिलेकी भांति दसोंने गिन दिया कि एक, दो, तीन, चार, पाच, छः, सात, आठ, नौ, पर अपनेको न गिना। तब मुसाफिर बोला कि अगर हम तुम्हारा १० वा मित्र बता दें तो? सब लोग पैरों पड़ गए कि हम लोग तुम्हारा जिंदगीभर एहसान मानेंगे यदि हमारे १० वें मित्रको बता दिया। मुसाफिरने एक छोटा बेंत लेकर उन्हें एक लाईनमें खड़ा करके धीरे धीरे मारकर बता दिया और १० वें को जोरसे मारकर कहा कि तू १० वां है। ऐसे ही फिर दसों को मारकर बताया कि तू दसवा है। जो अपनेको भूल जाए, उस भ्रमसे होने वाले जो क्लेश हैं, वे बहुत विचित्र क्लेश हैं। अब सभी जुलाहोंको मालूम हो गया कि हम दसोंके दसों ही हैं, हमारा कोई भी मित्र नहीं खोया है। यह सबको मालूम तो हो गया, पर ईंट मारकर उन सबने जो अपना सिर फोड़ लिया था, उससे खून तो निकल ही आया, दर्द तो वहीका वही अभी बना हुआ है, पर सही जान लेने पर उनके विह्वलता नहीं है। भ्रम में ही विह्वलता थी। अब भ्रम नहीं रहा सो विह्वलता भी नहीं रही, अब केवल वेदना है। वेदनामें और विह्वलतामें बड़ा अन्तर है।

सम्यक्त्वमें विपरीत अभिनिवेशसे रहितपना— विपरीत आशयसे रहित जो श्रद्धान है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। ये विपरीत आशय सैद्धान्तिक भाषामें तीन प्रकारके होते हैं— कारणविपर्यय, स्वरूपविपर्यय, भेदाभेदविपर्यय। कारण विपर्ययका अर्थ है कि पदार्थ जिन साधनोंसे बनते हैं, उन साधनोंका सही पता न होना और उल्टा साधन माना जाए। स्वरूप विपर्यय है, पदार्थका जो लक्षण है, स्वरूप है, उसे न मानकर उल्टा स्वरूप

म ना जाए। भेदाभेदविपर्यय वह है जो भिन्न बात है, उसे अभेदमें कर दे और जो अभिन्न बात है, उसे भेदमें कर दे। इन तीनों प्रकारके अभिप्रायों से रहित वस्तुका जो यथार्थ श्रद्धान है, उसे सम्यक्त्व कहते हैं।

आत्मत्वका नाता— भैया! कल्याणार्थी पुरुषको आत्माका नाता प्रमुख रखकर इस ही नातेसे ज्ञान ढूढना चाहिये, कल्याणस्वरूप आचरण ढूढना चाहिए। मै अमुक जातिका हू, अमुक सम्प्रदायका हू, अमुक गोष्ठी का हू—ऐसा लगाव रखकर धर्मकी बात नहीं समझमें नहीं आ सकती है। मैं आत्मा हू और इस आत्माको शांति व सतोष मिलना चाहिए। जैसे आत्माको शान्ति मिले, वैसा मेरा ज्ञान रहना चाहिए, वह ज्ञान है यथार्थ ज्ञान। जैसा पदार्थ है, वैसा स्वरूप जान जाए। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्दर्शनमें स्वरूपसम्बन्धी अन्तर क्या है? विपरीत आशय न रहें—ऐसी स्थितिमे जो ज्ञान बनता है, उसका नाम है सम्यग्ज्ञान। सम्यग्ज्ञान जिस कारणसे सम्यक् कहला सके अर्थात् विपरीत अभिप्रायका न रहना ही है सम्यग्दर्शन।

पदार्थका स्वरूप— जगत्के सब पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप हैं। यह वस्तुस्वरूपकी बात कही जा रही है। धर्मकी पुष्ट नीव बने, जिस पर आत्मकल्याणका महल बनाया जा सके उस नीवमें, कुछ विज्ञानकी बात कही जा रही है। यदि कुछ है तो वह नियमसे उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है, यह पक्का नियम है, कभी टूट नहीं सकता। किसी भी वस्तुका नाम ले लो, जैसे जीव, ये भी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हैं, ब्रह्म—यह भी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हैं। कुछ है तो वह नियमसे उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। अच्छा जरा कल्पना ही कर लो कि कोई चीज है तो सही, मगर उसकी दशा कुछ भी नहीं है, उसका रूपक कुछ भी नहीं है। ध्यानमें आया कि वह है? अच्छा, है तो जरूर, मगर वह क्षण क्षणमें नष्ट होने वाला है। मूलतः तो मिट गया, अब कुछ न रहा—ऐसी भी कोई चीज समझमें नहीं आती। यदि कुछ है तो उसमे तीनों बातें अवश्य हैं—बनना, बिगड़ना और बने रहना।

वस्तुकी त्रितयात्मकता— जो बनती बिगड़ती नहीं है, वह बनी भी नहीं रहती है। जो चीज बनी रहती नहीं है, वह बनती बिगड़ती भी नहीं है। सभी पदार्थ बनते हैं, बिगड़ते हैं और बने ही रहते हैं। जैसे कि यह दृष्टांत ले लो कि घड़ा फोड़ दिया गया और बन गयी खपरिया। बिगड़ क्या गया? मिट्टी बराबर वही की वही बनी रही। जैसे जीव आज मनुष्य है और मरकर बन गया मान लो हाथी। तो इसमें मनुष्य तो बिगड़ गया

और हाथी बन गया, किन्तु जीव तो वहीका वही रहा। कोई भी पदार्थ ले लो। किसीको कोई तत्त्व स्पष्ट ध्यानमें आये या न आये, किन्तु वस्तु-स्वरूप तो यह कहता है कि जो भी वस्तु है, वह उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है।

शुद्ध पदार्थमें भी त्रितयात्मकता--यदि कोई शुद्ध पदार्थ है, भगवान् है तो भगवानका जितना परिणमन है, वह सब एक स्वरूप सदृश-सदृश चलता है। उनके समस्त विश्वका ज्ञान हो गया तो जैसा ज्ञान आज है समस्त विश्वका, वैसा ही पूर्णज्ञान उन्हें अगले मिनटमें है। अनन्तकाल तक वही पूर्णज्ञान रहेगा। जिसके ज्ञानमें भूत भविष्यत् वर्तमान सब कुछ आ गया, उस ज्ञानकी दशा अब क्या बदलेगी? पूर्णज्ञानसे अपूर्णज्ञान बने, अपूर्णज्ञानसे पूर्णज्ञान बने, वहां तो दशाका बदलना कह सकते हैं, पर पूर्णज्ञान है और आगे भी पूर्णज्ञान है। अब उसमें परिवर्तन क्या क्या बतलावेंगे? इतने पर भी पहिले समयमें जो पूर्णज्ञान चल रहा है, वह पहिले समयका पुरुषार्थरूप परिणमन है, दूसरे समयमें वही पूर्णज्ञान दूसरे समयका परिणमन है व शक्तिका परिणमन नया नया चल रहा है। जानना भी कार्य है। चाहे एकसा ही जाने, पर प्रति समयमें नवीन शक्तिसे जानता रहता है।

दृष्टान्तपूर्वक सदृशपरिणमनमें नव नव परिणमनका समर्थन--जैसे बिजली एक घण्टे तक लगातार एकरूपमें जली, प्रकाश किया, वहां एक घण्टेके समस्त सेकिण्डोंमें प्रकाश जला। तो वहीका वही प्रकाश प्रति सेकिण्डमें नहीं है, किन्तु पहिले सेकिण्डमें प्रकाश पहिले सेकिण्डकी शक्तिके परिणमनसे हुआ, दूसरे सेकिण्डमें दूसरे परिणमनकी शक्तिसे हुआ, तभी तो मीटरमें नम्बर पड़े हुए मिलते हैं। इतनी बिजली खर्च हो गई। उसने निरन्तर नवीन नवीन काम किया, वही एक काम नहीं किया। यों ही प्रभुका परिणमन भी प्रतिसमय नया नया बनता है, पुराना पुराना विलीन होता है और वह चित्स्वभाव वही का वही रहता है। हम लोगोंमें यह बात जरा स्पष्ट समझमें आ जाती है, क्योंकि हममें विविधता है, अनेक राग, अनेक द्वेष, अनेक तरहके त्रुटित ज्ञान परिवर्तन ज्ञानमें आते हैं, हम अपने बारेमें शीघ्र कह सकते हैं, अब हम यों बन गए, जो पहिले था वह विलीन हो गया। यों प्रत्येक पदार्थ बनता है, बिगड़ता है और बना रहता है। बननेका नाम उत्पाद है, बिगड़नेका नाम व्यय है और बने रहनेका नाम ध्रौव्य है।

वस्तुकी त्रिगुणात्मकता-- सत्त्व, रजः और तमः--ये तीन गुण

प्रत्येक वस्तुमें निरन्तर रहा करते हैं। जो उसमें अभ्युदय हुआ है, परिणमन हुआ है वह है रज, जो विलय हुआ है वह है तमः और जो बना रहता है वह है सत्त्व। प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणात्मक होता है, त्रिदेवतामय होता है। इनही तीन गुणोंको विद्वान पुरुषोंने ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीन देवताओंरूपमें अलकृत किया है। पदार्थमें जो नवीन परिणमन हुआ है वह ब्रह्मास्वरूप है, पुराना परिणमन जो विलीन हो गया है वह महेश स्वरूप है और जो सदा तत्त्व बना रहे वह विष्णुस्वरूप है। प्रयोजन यह है कि प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है।

राष्ट्रीय ध्वजमें त्रितयात्मकता— भैया! त्रितयात्मकता तो आपको राष्ट्रीय झंडेमें भी मिलेगी। राष्ट्रीय झंडेके तीन रग हैं—हरा, लाल या केसरिया और सफेद। ये रग इस क्रमसे हैं कि ऊपर नीचे तो हरा लाल है और बीचमें सफेद है। साहित्यकारोंने उत्पादका वर्णन हरे रगसे किया है। लोग बोलते भी हैं कि यह मनुष्य खूब हरा भरा है, बाल बच्चोंके पैदा होनेका नाम हराभरा है। बुढ़िया आशीर्वाद भी देती हैं कि बेटा खुश रहो हरे भरे रहो। तो उत्पादका नाम है हरा। इस झंडेमें जो हरा रग है वह उत्पादका सूचक है। लाल रगका नाम है व्यय। साहित्यकार जब कभी विनाशका वर्णन करते हैं तो लाल रंगसे वर्णन करते हैं और ध्रौव्यका नाम है श्वेतरंग। जिस रंग पर उत्पादका रंग भी चढ़ जाय और व्ययका रंग भी चढ़ जाय, वह ध्रौव्य उत्पादमें भी है और व्ययमें भी है। जैसे वह श्वेतरग हरेको भी छुवे हुए है, लालको भी छुवे हुए है। यों उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक स्वरूपको बताते हुए यह झंडा क्या लहराता है? प्रत्येक पदार्थ इन ही तीन स्वरूपमय होनेके कारण सदा लहराते रहते हैं। इस सत्का कभी अभाव नहीं होता।

चौबीस आरेके विवरणमें आद्य ज्ञातव्य— अब उस झंडेमें २४ आरेका चक्र भी बना हुआ है। वे २४ आरे इस वस्तुके भीतरी परिणमन के मर्मको बताते हैं। वस्तु जो परिणमती हैं वे जगमग स्वरूपको लिए हुए परिणमती हैं। प्रत्येक परिणमनमें आपको जगमग स्वरूप नजर आयेगा। जग मायने बढना, मग मायने घटना। वृद्धि हानि बिना पदार्थके स्वरूपका परिणमन नहीं होती। एक समयकी अवस्थाको त्यागकर दूसरे समयकी अवस्था पाये तो वहा घटना बढ़ना अवश्य होता। कुछ परिणमन ध्यानमें आये अथवा न आए, इस हानि वृद्धिको षड्गुण हानि और षड्गुणवृद्धिके रूपसे कहते हैं। अर्थात् वृद्धि हुई अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, सख्यात भागवृद्धि, सख्यातगुण वृद्धि, असंख्यातगुण वृद्धि और

अनन्तगुण वृद्धि । इसी प्रकार हानि हुई अनन्तभाग हानि, असंख्यात भाग हानि, सख्यात भाग हानि, सख्यातगुण हानि, असंख्यातगुण हानि और अनन्तगुणहानि ।

वृद्धि हानिमें एक दृष्टान्त-- जैसे ९९ डिग्री बुखार है और १०० डिग्री बुखार हो जाता है तो एक डिग्री बुखार जो बढ गया, वह ९९ डिग्री से एकदम ही १०० डिग्री हो गया ऐसा नहीं है । आपको ध्यान रहे या न रहे उस एक डिग्रीमें जितने अविभागी अश हो सकते हैं जैसे थर्मामीटरमें आपने ८-१० अश देखे होंगे पर ८, १० अश ही नहीं हैं, १०० अश हो सकते हैं और हम उन अंशोंकी सीमा नहीं बना सकते हैं, उसमें भी अनेक अश हैं । तो बुखारका एक एक अश बढ-बढ़कर कहीं कुछ अशोंके साथ बढ़ कर एक डिग्री बुखार बढता है । वे पाइन्ट थोडे ही समझमें आते हैं । जैसे थर्मामीटरमें कह देते हैं कि ९९ डिग्री ३ पाइन्ट बुखार है । तो बढ़ाव और घटाव जिस क्रमसे हुआ, उस क्रममे वैसी षड्गुण हानि वृद्धि है ।

चौबीस आरेका सवेत-- भैया ! कोई परिणमन रच भी समझमें न आए तब भी जानो कि उनमे षड्गुण हानिवृद्धि अवश्य हुई हैं, और विपरिणमन दूसरे षड्गुण हानि वृद्धि हो तो ध्यानमें रहता है । तो यों २४ हानि वृद्धियोंसे जो यह परिणमन जगत्मे विदित हो पाता है वह ही सवेत में आरेमें समझाते हैं ।

सर्वथावादमें विपरीतता-- प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है उसमें से हम केवल यह माने कि यह आत्मतत्त्व, यह ब्रह्मस्वरूप सर्वदा ध्रुव है, इसमें उत्पाद नहीं है, या किसी तत्त्वके बारेमें इन तीनोंमें से किसी एकको सर्वथावाद कह दिया जाय तो विपरीत आशय हो गया अथवा यह वस्तु एक समय ही होती है फिर विलीन हो जाती है, उसका नाम निशान भी नहीं रहना है । ध्रौव्य कुछ तत्त्व नहीं है, सर्वथा उत्पाद व्यय ही है । ऐसी धारणा हो, आशय बने तो इस ही को कहते हैं विपरीत आशय--यह सैद्धान्तिक बात है ।

सूक्ष्म और स्थूल सभी विपरीताशयोंके अभावकी आवश्यकता-- अब मोटी बात देखें तो प्रत्येक पदार्थ हमसे अलग हो जायेंगे । जो भी आज समागममें मिला है उसे हम मानें कि यह सदा रहेगा, बस यही विपरीत आशय है । कोई जीव मेरा कुछ नहीं है । यदि हम मानें कि यह तो मेरा लड़का है, यह तो मेरा घर है, यह विपरीत आशय होगा । तो स्थूल और सूक्ष्म सभी प्रकारके विपरीत आशय जहा नहीं रहे और फिर वस्तु का जो श्रद्धान् हो उस शुद्धताका नाम है सम्यक्त्व । सम्यक्त्वके

अभावसे यह सारा लोक दु:खी हो रहा है। तो सम्यक्त्वको उत्पन्न करना यह सबसे बड़ा पुरुषार्थ है।

सम्यक्त्वलाभका यत्न— सम्यग्दर्शनके अर्थ कैसी भावना होनी चाहिए और किसकी दृष्टि होनी चाहिए—इस सम्बन्धमें यह समस्त ग्रन्थ ही बना हुआ है, अलगसे विवरण देनेकी आवश्यकता ही नहीं है। इस समस्तग्रन्थमें वर्णित निज कारणपरमात्मतत्त्व जो शाश्वत स्वरूपास्तित्व मात्र सहज परमपारिणामिक भावरूप चैतन्यस्वभाव है उसकी दृष्टि और भावना मिथ्यात्व पटलको दूर कर देती है। इस सम्यक्परिणामके बिना ही जगत्के प्राणी दु:खी हो रहे हैं। सारा क्लेश बिलकुल व्यर्थका है, अपना बाहर कहीं कुछ है नहीं और भ्रमसे मान लिया कि मेरा कुछ है, इस भ्रमके कारण इस जीवकी चेष्टाएँ चलती रहती हैं और दु:खी होता रहता है। इस सम्यक्त्वके प्राप्त करनेका यत्न होना ही एक प्रधान कर्तव्य है।

सम्यग्ज्ञान व संशय विपर्यय दोष— सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं? संशय, विपर्यय, अनध्यवसानसे रहित जो ज्ञान है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इस सम्यग्ज्ञानका दो जगह प्रयोग होता है—एक लोकव्यवहारमें और एक मोक्षमार्गमें। लोकव्यवहारमें भी जो सच्चा ज्ञान कहलाता है वह भी संशय विपर्यय और अनध्यवसानसे रहित होता है तथा मोक्षमार्गमें जो सम्यग्ज्ञान कहलाता है वह भी इन तीनों दोषोंसे रहित है। संशय कहते हैं अनेक कोटियोंका स्पर्श करने वाले ज्ञानको। जैसे पड़ी हुई सीपमें संशय हो जाय कि यह सीप है या चांदी है या कांच है, कितनी ही कोटियोंका स्पर्श करने वाला ज्ञान बने उसके वह संशयज्ञान है। लोकव्यवहारमें संशय ज्ञानको सच्चा ज्ञान नहीं बताया है। विपरीतज्ञान क्या है? है तो सीप और मानले कि यह चांदी है। विपरीत ज्ञानमें एक कोटिमें ही रहने वाले ज्ञानका उदय होता है। वस्तु है और, मानते हैं और कुछ, तो इस ज्ञानको लोकव्यवहारमें भी सम्यग्ज्ञान नहीं बताया है।

अनध्यवसाय दोष— अनध्यवसान किसी वस्तुके बारेमें कुछ भी आगे न बढ सकना और साधारण आभास होकर अनिश्चित दशामें रहना इसका नाम है अनध्यवसान। जाते में चलतेमें कुछ छू गया तो साधारण आभास तो हुआ कुछ छुवा, पर उसके सम्बन्धमें कुछ भी निश्चय न कर सका कि मामला क्या था? यहां संशयके रूपमें भी ज्ञानका विकास नहीं हो सका। अनध्यवसान उन दोनों ज्ञानोंसे भी कमजोर स्थितिका है। अथवा कोई आवाज सुनाई दी और सुनकर रह गये। एक जिज्ञासा भी तेज नहीं बनी कि किसकी आवाज है अथवा कुछ अध्यवसान न हो

सकना, सो अनध्यवसान है। लोकव्यवहारमे अनध्यवसानका प्रमाण न मानना सच्चा ज्ञान नहीं है।

मोक्षमार्गमें सम्यग्ज्ञान— इस ही प्रकार अब मोक्षमार्गमे सम्यग्ज्ञान की बात सुनिये। मोक्षमार्गमें सम्यग्ज्ञान वही है कि मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्वमें संशय न रहे, विपर्यय न रहे और अनध्यवसान भी नहीं रहे। तो संशय कैसा ? जैसे आत्माके बारेमें यह सोचना कि आत्मा वास्तवमे है या नहीं है या कल्पनाकी बात है या पञ्चतत्त्वोंसे बना है, आगे भी रहेगा या न रहेगा, अनेक प्रकारकी कोटियोंको छूने वाला जो ज्ञान है, वह संशयज्ञान है, यह सम्यग्ज्ञान नहीं है। मोक्षमार्गमें विपर्ययज्ञान कैसा है कि वस्तु तो है और भांति तथा मानते हैं और भांति। जैसे आत्मा तो है चैतन्यस्वरूप और एक विरुद्ध विरुद्धकोटिमे अड़ गये कि आत्मा तो पञ्चतत्त्वमयी है, पञ्चतत्त्व बिखर गए, जिस तत्त्वकी जो चीज है वह उसी तत्त्वमें चली गयी। आत्मा नामकी फिर कोई चीज नहीं रहती है। यह आत्मा मौलिक सत् नहीं है, किन्तु पञ्चतत्त्वके पिण्डमें इसका आभास होता है। यह विपर्ययज्ञान हो गया कि एक विपरीत कोटिको छू लिया ना। विपर्ययज्ञान मोक्षमार्गमें प्रमाण नहीं है। अनध्यवसायमें कुछ निर्णय ही नहीं हो सकता है। खैर, करते जावो त्याग, व्रत, तपस्या, उपवास होंगे कुछ। इन बातोंमें हम नहीं पड़ते, इनको तो बडे बड़े लोग जानें, कुछ भी निश्चय नहीं कर सकते हैं। इन तीनों दोषोंसे रहित जो ज्ञान है, उस ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। अब इस ही सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञानके स्वरूपको कुछ स्पष्टीकरणके लिए आगे फिर स्वरूप कह रहे हैं।

> चलमलिनमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।
> अधिगमभावो णाणं हेयोपादेयतच्चाणं ॥५२॥

सम्यक्त्वकी सर्वथा निर्दोषता— चल, मलिन और अगाढ़ दोषोंसे रहित श्रद्धान्को ही सम्यक्त्व कहते है। पूर्व श्लोकमें जो सम्यक्त्वका लक्षण किया गया था, वह साधारण व्यापकरूपसे था। अब उसमे और विशेषतासे बतानेके लिए विज्ञानपद्धतिसे सम्यक्त्वका लक्षण कहा जा रहा है। चल, मलिन और अगाढ दोष सूक्ष्मदोष हैं। पहिले प्रकरणमें जो विपरीत अभिनिवेशरूप दोष गया है, वह मोटी बात थी। सम्यग्दर्शन हो जाने पर भी चल, मलिन और अगाढ दोष रहा करते हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें ये दोष रह जाते हैं। यहां इन दोषोंसे भी रहित श्रद्धान्को निरखा जा रहा है। अहो, सम्यक्त्व है तो यही है।

सम्यक्त्वकी त्रिविधता— सम्यक्त्वमें तीन प्रकार होते हैं—औपश-

मिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व। औपशमिकसम्यक्त्वमें भी निर्मलता है, किन्तु सम्यक्त्वका बाधक कर्मप्रकृति दबा हुआ है वह दब ढेगा तो यह सम्यक्त्व न रहेगा और देखो कि आत्मपुरुषार्थके बलसे क्षयो-पशमिक बन जाए तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व हो सकता है, पर जितने काल भी यह उपशमसम्यक्त्व रहता है, उतने काल वह निर्मल है। क्षायिक सम्यक्त्व तो पूर्ण निर्मल है, उसके भविष्यमें भी मलिनताकी कोई सभावना नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्वके घातक दर्शन मोहनीय कर्मकी तीन प्रकृति व अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चार चारित्रमोह इन ७ का पूर्ण क्षय हो चुका है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें चल, मलिन, अगाढ़ दोष हुआ करते हैं, क्योंकि वहां उदयाभावी क्षय, उपशम और देशघाती सम्य-क्त्वप्रकृतिका उदय है।

चल दोपके सकेत— इस चलदोपमें यों समझिए कि श्रद्धान तो चलित नहीं होता है, पर श्रद्धानके भीतर ही भीतर कुछ थोडे भाव यों कभी झलक गये—जैसे कि माना कि शातिनाथ शांतिके कर्ता हैं, पार्श्वनाथ विघ्न के हर्ता हैं तो क्या शातिनाथ ही शातिके देने वाले हैं या पार्श्वनाथ ही विघ्नके हर्ता हैं और किसीमें यह कला नहीं है? परमार्थतः तो भगवान् पार्श्वनाथ और शातिनाथ ये हैं ही नहीं। ये तो मड मण्डलेश्वर महाराजके पुत्र थे, सो आप समझ लो कि इक्ष्वाकुवंशमें ये पैदा हुए थे। इतने बडे शरीर वाले थे। उन शातिनाथ और पार्श्वनाथ इत्यादि व्यक्तियोंके अन्दरमें जो शुद्ध-चैतन्यस्वभाव है, जो उस शुद्ध चैतन्यका विकास हुआ है, उस ज्ञानविकासका नाम भगवान् है। वह तो सबमें एक समान है। भगवान्का नाम वचनोंसे लेनेसे सारे विघ्न टल जाते हैं और शाति मिलती है। वह कौनसा भगवान् है? यही-निराकुल, निर्दोष, शुद्ध ज्ञायकस्वरूप और इसका शुद्ध विकास। बस! इस एकको दृष्टिमें रखिए तो सारे काम फतह होंगे।

मलिन व अगाढ़ दोषके सकेत— यह मन्दिर मैंने बनवाया, मेरे पुरखोंने बनवाया—एक मोटी मिसाल दी जा रही है। मलिन दोषमें सूक्ष्म बात क्या पड़ी है? यह बुद्धिमें नहीं जग सकती, पर यों समझिए कि जिन दोषोंसे सम्यक्त्व तो बिगड़े नहीं, किन्तु सम्यक्त्वमें कुछ दोष बना रहे। यों ये दोष हुआ करते हैं। जैसे वृद्ध पुरुष लाठी लेकर चलता है तो उसके हाथ भी हिलते जाते हैं। अब तुम यह बतलाओ कि वह पुरुष लाठीसे चल रहा है या अपने बल पर चल रहा है? वह पुरुष तो अपने बल पर चल रहा है। नहीं तो किसी मुर्देके हाथमें पकड़ा कर देखो कि वह चलता है या

नहीं। फिर भी लाठी तो उसके चलनेमें सहायक निमित्त है। जैसे वहां लाठी स्थानभ्रष्ट नहीं होती, पर लाठी जरा चिगती हुई सी रहती है। यों समझिए कि इस अगाढ़सम्यक्त्वमें क्षायोपशमिकता होती है, सो सम्यक्त्व अपना स्थान न छोड़ देने पर भी उसमें कुछ थोड़ा कम्पन रहता है। ऐसा कोई दोष है, उस दोषसे रहित श्रद्धानको सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यग्ज्ञानमें हेयोपादेयपरिज्ञानता— सम्यग्ज्ञान कहते हैं उपादेय-भूततत्त्वका परिज्ञान होनेको। पहिले गाथामें ज्ञानका लक्षण व्यवहारमें भी घटे, मोक्षमार्गमें भी घटे, सर्वत्र समझमें आए, व्यापकरूपसे कहा गया था। यहां हुआ मोक्षमार्ग, उसमें यह हेय और यह उपादेय है, इस प्रकार का परिज्ञान होना सो सम्यग्ज्ञान है। मोक्षमार्गके प्रयोजनभूततत्त्व ७ हैं— जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जिसमें चेतनता पाई जाए, उसे जीव कहते हैं और जिसमें चेतना न पायी जाए, उसे अजीव कहते हैं; किन्तु इस प्रकरणमें ७ तत्त्वोंके बीच कहे गए अजीवका अर्थ है द्रव्यकर्म। अब यों मूलमें दो बातें आयीं—जीव और कर्म। अब तीसरी चीज है आश्रव। जीवमें कर्मोंके आनेको आश्रव कहते हैं। बंध कहते हैं जीवमें कर्मोंके बंध जानेको। ये कर्म जीवमें इतने सागर पर्यन्त रहेंगे, इतने वर्ष तक रहेंगे; इसका नाम है बंध। जीवमें कर्मोंका आना रुक जाए तो उसे कहते हैं संवर। जीवमें जो कर्म पहिलेसे बंधे हुए हैं, उन कर्मोंके झड़ जानेको निर्जरा कहते हैं और जब समस्त कर्म जीवसे छूट जाए तब उसे मोक्ष कहते हैं।

कर्तव्यकी प्रमुखताका विवेक— लोग अपने आरामके लिए बड़ी बड़ी व्यवस्थाएं बनाते हैं, ऐसा मकान बनवा लें, ऐसा कमरा बनवा लें, ऐसी दूकान बनवा लें, ऐसा कारोबार रक्खें, इन व्यवस्थाओंमें अपने जीवनके अमूल्य क्षण रात दिनके सब व्यतीत हो जाते हैं, किन्तु यह नहीं जाना कि ये सब व्यवस्था वाली बातें इस मेरे आत्माका कब तक साथ देंगी। इस जीवनका ही जब भरोसा नहीं है तो अगले भवमें तो साथ देने का अभाव ही है। इस आत्माका सबसे बड़ा काम यह पड़ा है कि इसमेंसे कर्मोंका अभाव हो जाए। मैं अनात्मतत्त्वके बोझसे रहित होकर शुद्ध चिन्मात्र आत्मस्वरूपका अनुभव करूं और व्यर्थके पक्षोंसे हटकर बना रहूं, काम यह पड़ा है। दूसरी बात यह है कि लोग सोचते हैं कि ये लौकिक काम-मेरे अच्छा घर हो, दूकान हो, अच्छा रोजिगार चले। अरे! ये तुम्हारे किए बिना भी कदाचित् हो सकते हैं। न भी करें, बैठे रहें, तब भी सम्भावना है कि हो जायेंगे। जरा भी श्रम किए बिना तो आप मनके

नहीं। न किया विशेष उद्यम तो भी हो जाएगा; किन्तु यह आत्मकल्याणका काम, मोक्षमार्गका काम, सदाके लिए संकटोंसे छूट जानेका काम हमारे निरन्तर सतत उद्धारके द्वारा ही होगा। यह बिना किए नहीं हो सकता है।

सप्त तत्त्वोंका अनेकानेक सूक्ष्मपद्धतियोंसे परिज्ञान— इन सात तत्त्वोंका परिज्ञान ऐसा सम्यग्ज्ञान है कि इन्हीं सातों तत्त्वोंका और और सूक्ष्मदृष्टिसे परिज्ञान करते जाइये। मान लो उपाधि द्रव्यकर्मके सन्निधान होने पर जीवमें आश्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्षरूप परिणमन होता है। अब थोड़ी देरको उपाधिकी चर्चा छोड़कर केवल अपने ही आश्रव, बध, सवर और निर्जराको निरखो। पहिली कोटिमें जो बताया था, यह दोनोंके सम्बन्धसे आश्रव, बंध, सवर, निर्जरा, मोक्षकी बात कही थी। जीवमें कर्मोंका आना आश्रव है अर्थात् दोनोंकी बात होना। जीवमें कर्मोंका बधना, यह भी दोनोंकी बात हुई जीवकी और कर्मकी। जीवमें कर्म न आ सकें, इसका नाम सवर है। यह भी दोनोंकी बात है। जीवमें बंधे हुए जो कर्म हैं, वे जीवसे अलग होने लगें तो इसका नाम निर्जरा है, यह भी दोनोंकी बात है। जीवसे कर्म बिलकुल अलग हो जायें, इसका नाम मोक्ष है, यह भी दोनोंकी बात है। अब जरा जीवमें ही इन पाचों तत्त्वोंको देखिए। ये पाचों बाते उपाधिके सन्निधानमें ही होती हैं– यह तो पहिले जान लो और जानकर फिर कुछ आगे बढो, उपाधिको अब उपयोगमें न लो और निरखो।

केवल जीवमें पञ्च तत्त्वोंका परिज्ञानका प्रयत्न— जैसे कोई दर्पणमें उठे हुए प्रतिबिम्बको इस तरहसे देखता है कि यह सामने अमुक लड़केके खड़े होनेसे प्रतिबिम्ब आया तो दर्पणमें लड़केके प्रतिबिम्बको देख रहे हैं और क्या इस तरह नहीं देख सकते कि केवल दर्पणमें जिस प्रतिबिम्बको देखा, इसके निमित्तसे प्रतिबिम्ब आया है, इस तरहका उपयोग न दें तो क्या यों देखनेमें न आएगा? आएगा। यों ही आत्मामें आश्रव, बध, संवर, निर्जरा और मोक्ष–ये ५ बातें हुई हैं। किस निमित्तसे हुई हैं, किसके निमित्तसे हुई हैं, यह दूसरी कोटिकी बात है। प्रथम कोटिकी तो जीव और कर्मका आना जाना, दूसरी कोटिमें यों समझिए कि कर्मोंकी अमुक परिणतिके निमित्तसे जीवमें ऐसा शुभ, अशुभ, सद्भाव बनना है। अब उपाधिको उपयोगमें ही न रखो और केवल इस परिणमनको देखो। जैसे सिनेमा देखने वाले लोग क्या बीच बीचमें ऐसा ख्याल रखते हैं कि पीछे फिल्म चल रहा है, इसलिए यह चित्र आया? वे तो केवल चित्रोंको देखने

में लगे रहते हैं और जिन्हें फिल्मका कुछ राज नहीं मालूम होता है ऐसे देहाती लोग सिनेमा देखने जायें तो इन्हें रंच भी विकल्प नहीं होता फिल्म सम्बन्धी। वे तो सारा खेल देखते रहते हैं। तो इस समय उपाधिका उपयोग न करके केवल आत्मामें होने वाले खेलको देखो विलासको देखो।

जीवमें आश्रव और बन्ध— जीवकी प्रदेश भूमिमें, स्वभावमें विभावके आनेका नाम आश्रव है। देखो यह जीव चित्स्वभावरूप है, किन्तु यहां विकार आ गया है इसका नाम आश्रव है। और इस आत्मतत्त्वमें, चित्स्वभावमय जीवमें ये विकार बंध गए हैं, वासना संस्कार हो गये हैं वे नहीं हटते यही बन्ध है। जैसे मान लो आप जिस घरमें पैदा हुए हैं उस घरमें पैदा न हुए हों मानो लालपुराके आप हैं और कदाचित् नये शहरमें किसी घरमें पैदा होते तो आपको यहांके घरका कुछ ममत्व तो न रहता। अब थोड़ी देरको लालपुरामें पैदा हो गए हो तो भी मान लो कि हम यहां हैं ही नहीं, हम और कहींके हैं। और न करें ममता। तो बात सुनने में जरा सीधी लग रही है, पर करना जब चाहते तो कठिन लग रहा है। यही बंधन है।

रागीका बन्धन— मकान बन रहा है। इस प्रसगमें मालिक भी काम कर रहा है—प्रबन्ध करना, काम कराना, रजिस्टरमें हाजिरी भरना तनख्वाह बांटना, मजदूरोंसे कम काम मालिक नहीं कर रहा है। मजदूर भी काम कर रहे हैं, पर मजदूरोंका मकानमें बंधन नहीं है, मालिकका मकानमें बंधन है, थोड़ी घटबढ़ बात सामने आए मजदूरसे खटपट हो जाय तो मजदूर तो कहेगा कि हम तो जाते हैं; हम आपका काम नहीं करेंगे। पर क्या मालिक यह कह सकता है कि मजदूरों! तुमसे हमारी खटपट हो गई सो अब हम मकान छोड़कर जाते हैं, इटावासे चले जावेंगे।

बन्धन खतरा— ये रागादिक भाव इस जीवमें आए, सो ये तो आश्रव हुए; पर रागादिक भावके छोड़नेका यत्न करने पर भी, उस रागभावमें अनेक संकट आने के कारण बड़ी झुंझलाहट होने पर भी, छोड़े नहीं जाते। कभी गुस्सा भी आ जाय, घरके दरवाजे से निकल भी जायें २०, २५ कदम चल भी दें तो भी ख्याल आ जायेगा कि आखिरकार ये हमारे ही तो नाती पोते हैं। ऐसे ही ये रागादिक भाव जीवमें आए हैं, आने दो, आनेका तो खतरा नहीं है आते हैं, पर खतरा तो बंधनका है। बँध गए। अब हटते नहीं हैं।

जीवमें पञ्चतत्त्वोंका विवरण तथा ज्ञेय हेय उपादेयका विभाग— जीवमें रागादिकके आनेको आश्रव कहते हैं और रागादिकके बँध जानेको

वासित हो जानेको बंध कहते हैं। इस स्वभावमें रागादिक के न आनेको संवर कहते हैं, और जो कुछ भी पूर्वसंस्कारके कारण रागादिक विकार हैं भी उनको ज्ञानबलसे, भेदविज्ञानकी वासनाके द्वारा, शिथिल करना, क्षीण करना इसका नाम निर्जरा है और जब इस चित्स्वभावमें विभावका निशान भी नहीं रहता, सूक्ष्म मूल भी नहीं रहता—ऐसा शुद्ध ज्ञानमात्र एकाकी रह जाना इसको, उन समस्त विभाव दोषोंसे छुटकारा पानेको मोक्ष कहते हैं। इन ७ तत्त्वोंमें जीव अजीव तो ज्ञेय तत्त्व हैं, हैं जान लो—आश्रव और बंध ये हेयतत्त्व हैं, छोड़ने योग्य हैं क्यों कि आश्रव और बंध इन जीवोंके संकटके कारण हैं, इनमें आत्माका कोई हित नहीं है। संवर, निर्जरा और मोक्ष ये उपादेय तत्त्व हैं, इनसे संकट छूटते हैं और आत्माके शांति प्राप्त होती है। यों इस मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत ७ तत्त्वोंका सही परिज्ञान करना सो मोक्षमार्गके प्रकारका सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

इस प्रकरणमें रत्नत्रयका स्वरूप कहा जा रहा है। रत्नत्रय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका नाम है। ये तीनों व्यवहाररूप भी हैं और निश्चयरूप भी हैं। जीवादिक ७ तत्त्वोंका श्रद्धान् करना, विपरीत अभिप्राय रहित वस्तुस्वरूपका श्रद्धान करना अथवा सिद्धिके परस्परा कारणभूत पंचपरमेष्ठियोंका चल, मलिन, अगाढ़ दोषोंसे रहित निश्छल भक्ति और रुचि होना यह सब व्यवहार सम्यग्दर्शन है। और परद्रव्योंसे भिन्न चित्स्वभाव मात्र निजतत्त्वमें श्रद्धान रखना, सो निश्चय सम्यग्दर्शन है।

इस ही प्रकार सम्यग्ज्ञान भी व्यवहार सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यग्ज्ञान इस तरह दो प्रकारके होते हैं। संशय, विपर्यय, अनध्यवसायसे रहित पदार्थोंका ज्ञान करना, देव, शास्त्र, गुरुका परिज्ञान करना सो व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। सम्यक्चारित्रमें व्यवहार सम्यक्चारित्रके सम्बन्धमें इस ही ग्रन्थमें अब अगले अधिकारमें वर्णन आयेगा। २८ मूल गुणोंका पालन करना सो साधुका व्यवहार सम्यक्चारित्र है। निश्चय सम्यग्ज्ञान चित्स्वभावमात्र आत्मतत्त्वका परिज्ञान करना सो निश्चय सम्यग्ज्ञान है, इसही आत्मस्वभावमें स्थिर हो जाना सो निश्चय सम्यक्चारित्र है। व्यवहार सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्रको व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं अथवा भेदोपचार रत्नत्रय भी कहते हैं।

इस अधिकारमें सम्यग्दर्शनके लक्ष्यभूत परमार्थ तत्त्वका ही वर्णन चला है, अतमें व्यवहारिकता भी कैसे आए और लोकमें तीर्थप्रवृत्ति भी कैसे चले ? इस प्रयोजनसे व्यवहार वर्णन चल रहा है। अब सम्यग्दर्शन

सम्यग्ज्ञानका वर्णन करके सम्यक्त्वके साधनोंके सम्बन्धमे वर्णन किया जा रहा है।

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥

सम्यक्त्वका निमित्त जिनसूत्र है तथा उस जिनसूत्रके ज्ञायक पुरुष हैं अंतरङ्ग कारण दर्शन मोहनीयके क्षय, क्षायोपशम, उपशम हैं। यहां बाह्य निमित्त और अतरङ्ग निमित्त कहने से यह घटित होता है कि बाह्य निमित्त तो परक्षेत्रमें रहने वाले परपदार्थ हैं और अतरङ्ग निमित्त निज क्षेत्रमें रहने वाला परपदार्थ हैं। जिन भगवान् द्वारा प्रणीत सूत्र, शास्त्र, ग्रन्थ, उपदेश शब्दवर्गणाए चाहे लिपि रूप हों अथवा भाषा रूप हों, वे सब सम्यक्त्वके बाह्य निमित्त ही हो सकते हैं। बाह्य निमित्तके होने पर सम्यक्त्व हो अथवा न हो, दोनों ही बातें सम्भव हैं। कोई पुरुष शास्त्रोंका बहुत ज्ञाता है, फिर भी सम्यग्दर्शन न हो ऐसी भी बात हो सकती है। किसी पुरुषको जिनसूत्रका ज्ञायक पुरुषोंका उपदेश भी मिला, किन्तु अन्तरङ्ग हित न बने तो सम्यक्त्व नहीं होता। यह जीव साक्षात् समवशरण मे भी पहुचकर दिव्यध्वनि भी सुने, इससे अधिक बाह्यमे क्या निमित्त कहा जा सकता है, कोई वैसा साधारण वक्ता भी नहीं, गुरु भी नहीं, किन्तु साक्षात् भगवान् और फिर उनकी दिव्यध्वनिका श्रवण, इतने पर भी सम्यक्त्व न हो सके ऐसे भी कोई जीव वहां थे। ये सब बाह्य निमित्त हैं।

अन्तरङ्ग निमित्त दर्शनमोहनीयका उपशम क्षय आदिक हैं। सम्यग्दर्शन होनेके लिए ५ लब्धियां हुआ करती हैं क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि देशणालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि। यह विषय सैद्धान्तिक भी है, कुछ कठिन भी है पर इस विषयको भी जानना पडेगा, इस कारण ध्यानपूर्वक सुनिये, बारबार सुनने पर वही विषय सरल हो जाता है। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें ५ कारण पड़ते हैं।

क्षयोपशमलब्धि— खोटी प्रकृतियोंका अनुभाग उत्तरोत्तर शिथिल हो, क्षीण हो ऐसी परिस्थिति बने उसका नाम है क्षयोपशमलब्धि। यह जीव अनादिकालसे निगोदमे बसा चला आया है, कोई कभी निकला कोई कभी निकला, निगोदसे निकलनेके बाद दो हजार सागरके करीब त्रसभव में रहनेका और असंख्यातों वर्ष स्थावरोंमे रहनेका, इतना समय गुजरनेके बाद यह जीव मुक्त हो जाय तो ठीक है, हो गया, न हुआ मुक्त तो फिर निगोदमे आना पड़ता है। इस जीवका निगोदमे समय अधिक बीता। जब कभी सुयोगवश यह निकला, मानो पचेन्द्रिय हो गया तो समझ

लीजिए कि क्षायोपशमलब्धि तो मिल गई। हम आपको क्षायोपशमलब्धि तो है ही। जहा इतना ऊंचा ज्ञान है कि बडे बड़े विभागोंके हिसाब रख लें, प्रबंध कर लें, उस ज्ञानमें क्षायोपशम कम है क्या? तो क्षायोपशमलब्धि है।

दूसरी लब्धि है विशुद्धिलब्धि। इस क्षयोपशमलब्धिकी प्राप्तिके कारण आत्मामें ऐसी विशुद्धता बढ़ती है कि जो साता वेदनीयके बंध करनेका हेतुभूत हो, उस विशुद्धिकी प्राप्ति हो; इसका नाम विशुद्धलब्धि है। तो यह अंदाज रखिए कि हम लोगोंको विशुद्धलब्धिकी भी प्राप्ति हो चुकी। तीसरी लब्धि है देशणालब्धि। जिन सूत्रके ज्ञायक पुरुष उपदेश करते हुए मिलें, उनके उपदेश सुन सकें और उस उपदेशको हृदयमें उतार सकें—ऐसी योग्यता प्राप्त होनेका नाम है देशणालब्धि। तो प्राय: देशणालब्धि भी प्राप्त है—ऐसी योग्यता तो है ही। उपदेश ग्रहण कर सकते हैं।

चौथी लब्धि है प्रायोग्यलब्धि। इस प्रायोग्यलब्धिके बारेमें कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता, पर इसकी भी योग्यता तो बनी ही हुई है, किन्हीं को हुई भी है। प्रायोग्यलब्धिका अर्थ यह है कि ऐसा निर्मल परिणाम होना कि अनेक कोड़ाकोड़ी सागरोंकी स्थितिके जो कर्म सत्त्वमें पड़े हुए हैं, उनकी स्थिति घटकर अथवा नवीन कर्म जो बांधे जा रहे हैं, उनका बन्धन घटते घटते अंतःकोड़ाकोड़ी सागरकी ही स्थिति रह जाए, इतना बड़ा काम प्रायोग्यलब्धिमें है। तो क्या कहा जावे अब? इस प्रायोग्यलब्धिमें इतनी निर्मलता बढ़ती है कि स्थितिबंध भी कम कम हो जाता है।

प्रायोग्यलब्धिमें ३४ मौके ऐसे आते हैं जिसमें नियतप्रकृतियोंका बंधविच्छेद हो जाता है। प्रायोग्यलब्धिमें जीव अभी मिथ्यादृष्टि है, सम्यग्ज्ञान नहीं हुआ है। ये तो सम्यक्त्वके साधन हैं, फिर भी प्रायोग्यलब्धिमें इतनी बड़ी निर्मलता होती है कि कुछ समय बाद याने जब स्थितिबंध कम होते होते पृथक्त्व शत सागर कम हो जाता है तो नरक आयुका बंध कट जाता है, फिर नरक आयु बंध सके, ऐसा उसमें लेश परिणाम नहीं रहता है। थोड़ी देर बाद पृथक्त्व शतसागर कम स्थितिबन्ध होने पर फिर तिर्यंच आयुका बन्ध मिट जाता है, फिर यों ही मनुष्यायुका और फिर देवायुका बन्ध रुक जाता है। पश्चात् नरकगति नरकत्यानुपूर्वीका बन्धविच्छेद होता है। इसके बाद फिर सूक्ष्म अपर्याप्त साधारणका या ३४ बारमें अनेक प्रकृतियोंका बन्ध रुक जाता है। आप समझिए कि कितनी निर्मलता है इस मिथ्यादृष्टि जीवमें? कई जिन प्रकृतियोंका छठे गुणस्थानमें बन्ध

रुकता है, उनका बन्ध इस मिथ्यादृष्टिके भी प्रायोग्यलब्धिमें बन्धनेसे रुक जाता है, इतनी निर्मलता है। इतने पर भी ये चार लब्धियां भव्यके भी हो सकती हैं और अभव्यके भी हो सकती हैं। जिनमें मुक्ति जानेकी योग्यता न हो तो ऐसे अभव्यमें भी प्रायोग्यलब्धि तक हो जाती हैं।

इसके बाद ५ वीं जो करणलब्धि है, यह उसीके होती है जिसको नियमसे सम्यक्त्व होने वाला है-ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवको करणलब्धि मिलती है। करणके मायने हैं परिणाम अथवा करणके मायने हैं शस्त्र या हथियार, जिसके द्वारा शत्रुका विनाश किया जाए। जीवका प्रधान वैरी है मिथ्यात्व, उसका विनाश करनेकी जिसमें शक्ति है, ऐसा यह परिणाम है। अत इन परिणामोंका नाम करण रक्खा गया है। ये तीन होते हैं— अधः-प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण। यह सब ज्ञान करना सिद्धान्तमें, विज्ञानमें अति आवश्यक है। ये तीनों करण सम्यक्त्व उत्पन्न करनेके लिए ही हों, ऐसी बात नहीं है। सम्यक्त्वके लिए भी ये तीन करण होते हैं और चारित्र मोहका नाश करनेके लिए विसयोन आदिके लिए भी ये तीन करण होते हैं।

चारित्र मोहका नाश करनेके लिए जो ये तीन करण होते हैं, उनमें अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामके तो गुणस्थान ही बता दिए गए हैं ८ वा और ९ वा। अध प्रवृत्तकरण हो जाते हैं ७ वें गुणस्थानमें। ७वें गुण-स्थानके दो भेद हैं—एक स्वस्थान व दूसरा सातिशय। स्वस्थान अप्रमत्त तो ऊपरकी श्रेणियोंमें चढ़ नहीं सकता। वह नियमसे नीचे आएगा और सातिशय अप्रमत्तविरत ऊपरकी श्रेणी पर चढेगा, चाहे उपशमश्रेणिमें चढ़े या क्षपकश्रेणिमें चढ़े। वह ८ वें में अपूर्वकरण हुआ और ९ वा गुण-स्थान अनिवृत्तिकरणका हुआ। ये तीनों करण चारित्रमोहको उपशम या क्षय करनेके लिए हुए हैं ऐसे ही ये तीन करण मिथ्यादृष्टिमें सम्यक्त्व उत्पन्न करनेके लिए होते हैं।

उन गुणस्थान वाले करणोंसे इन करणोंका कोई मेल नहीं है। वहां की बात वहा की निर्मलताकी है और मिथ्यात्व अवस्थामें यहा की बात है, पर नाम एक ही क्यों रक्खा गया, उनका भी यह नाम है और मिथ्यात्वमें होने वाले इन करणोंका भी यह नाम है। तो नाम एक होनेका कारणस्व-रूप साम्य है। इसका स्वरूप क्या है? अध प्रवृत्तकरणकी साधनामें अनेक जीव लग रहे हैं। मानो कि किसी जीवको अध प्रवृत्तकरणमें लगे हुए तीन समय हो गए और किसी जीवको अध प्रवृत्तकरणमें लगे हुए एक ही समय हुआ तो साधारण कायदे मुताबिक तो यह होना चाहिए कि जिसको तीन

समय हो गए हैं, अधःकरणमें पहुंचे हुए उनके निर्मलता कम होनी चाहिए, किन्तु ऐसा भी हो सकता है और ऐसा भी हो सकता है कि इस तीन समय अधःकरणके परिणामके समान ही आत्मामें एक समय अधःकरणका भी हो, इसीसे इसका नाम अधःप्रवृत्तिकरण है अर्थात् ऊपरके स्थानोंके परिणाम बराबर नीचे स्थानके परिणाम हो सकें तो इसका नाम है अधःकरण।

अपूर्वकरण नाम है अगले अगले समयमें अपूर्व अपूर्व परिणाम हो, नीचेके समयोंमें ऊपरके समान न रहना। जैसे किसी को अपूर्वकरणमें पहुचे हुए तीन समय हो गए हैं और किसी को दो ही समय हुए हैं, वहां तीसरे समय वालेके परिणाम निर्मल होंगे और दो समय वालेके परिणाम उससे कम निर्मल होंगे, किन्तु उस तीसरे समयमें ही मानों १० साधक हैं तो उनमें परस्परमें मिल भी जाए परिणाम और न भी मिले तो वहां यह बात हो सकती है, पर नीचेके समयमें आत्मपरिणाम मिल ही नहीं सकता है, इसका नाम है अपूर्वकरण।

अनिवृत्तिकरणमें आत्मा ऊपरके नीचे तो मिलेगा ही नहीं और विवक्षित किसी समयमें अनेक साधक हैं तो उनका परिणाम बिल्कुल एक होगा। सदृश विसदृशकी बात नहीं है, इसे कहते हैं अनिवृत्तिकरण। इस इसे एक व्यवहारिक दृष्टान्तसे सुनिए, जिससे शीघ्र समझमें आएगा कि यह करण परिणाम क्या है?

किसी बड़े कामके करनेकी तैयारी तीन बारमें पूर्ण होती है। जैसे कोई बडा काम हो, बच्चोंका टूर्नामेण्ट हो रहा हो, उसमें यदि दौड़का काम है तो सब बच्चे एक लाइनमें खड़े करके वहा बोला जाएगा कि वन, टू, थ्री। तीसरी बोलीमें काम शुरू हो जाएगा। यों ही उस सम्यक्त्वकी तैयारी के वन, टू, थ्री ये तीन करण हैं। पहिले अधःकरणमें कुछ तैयारी जगती है, अपूर्वकरणमें विशेष तैयारी होती है और अनिवृत्तिकरणके बाद ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है।

करणपद्धतिपरिज्ञानके लिए एक दृष्टान्त लो कि मानों कहीं ४०-५० सिपाही गप्पें मार रहे हों, टेढे मेढे बैठे हों और अचानक ही कोई कमाण्डर बुलाए तथा हुक्म दे तो वे सब सिपाही ढगसे पहुचने चाहिए। एकसी लाइन हो, लेफ्ट राइट भी ठीक हो और बड़ी कुशल तैयारीके साथ पहुचने चाहिए। तो अब ऐसे बिखरे हुए, गप्प मारते हुए सिपाही कमाण्डरका हुक्म सुनते ही तैयार होकर आ गए। पहिली तैयारीमें उनकी लाइन बननी शुरू हो गई, पर उस लाइनमें अभी पूरी सफलता नहीं हुई, लाइन कुछ तो

टेढ़ी मेंढ़ी बन गयी और दूसरी तैयारीमें लाइन बिलकुल सीधी हो गई, पर अभी लेफ्ट राइटमे फर्क रह गया। एकसे हाथ पैर उठने चाहिएँ, एक सी चाल होनी चाहिए, अभी इसमे कुछ अन्तर है; पर तीसरी बारकी तैयारी मे लेफ्ट राइट भी सुधर गया, एकसी चालमें पूरी तैयारीके साथ लेफ्ट राइट करते हुए पहुच गए। तीन तैयारियोंमें जैसे सिपाही अपने लक्ष्यपर पहुंच गए, ऐसे ही अधःकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण इन तीनों परिणामोंके साधनोंसे यह जीव लक्ष्यको सिद्ध कर लेता है।

इन करणलब्धियोंके कालमें वे सब प्रकृतियां उपशात हो जाती हैं या क्षयको प्राप्त हो जाती हैं। जो प्रकृतिया सम्यक्त्वकी बाधक हैं और वहा सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है, तब यह जानो कि सम्यग्दर्शनका बाह्य निमित्त तो वह जिनसूत्र है, स्वाध्याय है, उपदेश श्रवण है, ज्ञानियोंका सत्सग है और अन्तरङ्ग निमित्तकारण इन ७ प्रकृतियोंका उपशम क्षय अथवा क्षायोपशम है। जिन ७ प्रकृतियोंमें सम्यक्त्वकी बाधकता है, वह है मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यकप्रकृति, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ। इन ७ प्रकृतियोंका क्षय आदिक होना अन्तरङ्गकारण बताया गया है। सम्यक्त्व परिणामका बाह्य सहकारी कारण तत्त्वज्ञान है।

सम्यक्त्व न हो तो उसका नाम है मोहपरिणाम। मोहपरिणामका अर्थ है कि भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें एक दूसरेका अधिकारी तकना, सम्बन्धी देखना, कर्ता देखना, भोक्ता देखना, इसी का नाम मोह है। मैं अमुकका मालिक हू, मैं अमुकका अधिकारी हू, अमुक कामका करने वाला हू और अमुक भोगका भोगने वाला हू-ऐसी बुद्धिका नाम मोहभाव है। इस बुद्धि के समाप्त होते ही निर्मलता जगती है। यह बुद्धि कैसे मिटे? जब तत्त्वज्ञान बने। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र अपने अपने स्वरूपमात्र है। किसी भी पदार्थका अन्य पदार्थके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। सर्वपदार्थ स्वतन्त्र स्वतन्त्र अपने स्वरूपमात्र हैं-ऐसी बुद्धि जग जानेको निर्मोह अवस्था कहते हैं। यह बात तत्त्वज्ञानके बलसे ही बन सकती है। तत्त्वज्ञान, जिनसूत्र अथवा ज्ञानी पुरुषोंके उपदेश-ये सब बाह्य सहकारी कारण हैं। कैसा यह तत्त्वज्ञान है जो द्रव्यश्रुतरूप है। वीतराग सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे चले आए हुए समस्त पदार्थोंके प्रतिपादन करनेमें समर्थ यह ज्ञान है।

ये ज्ञाताजन, उपदेष्टा लोग, प्रभुवर, द्रव्यश्रुत, शास्त्रज्ञान-ये सब सम्यक्त्वके बहिरङ्ग सहकारी कारण हैं और अन्तरङ्ग निमित्तकारण मोहका क्षय आदिक हैं। यहां दर्शनमोहके क्षय आदिकको अन्तरङ्गकारण यों

यों कहा गया है कि दर्शनमोहके क्षय आदिका निमित्त पाकर सम्यक्त्व अवश्य होता है, एक तो यह बात है। दूसरी यह बात है कि आत्माके एक क्षेत्रमें ही होने वाले कारण हैं, किन्तु हैं भिन्न पदार्थ, पौद्गलिक कर्मोंकी बात, इस कारण वे हेतु हैं पर उन्हें अनतरङ्ग हेतु इस एकक्षेत्रावगाहके कारण और पक्का अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध होने के कारण कहे गये हैं ये सब बहिरङ्ग कारण हैं।

सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें उपादान कारण तो वही मुमुक्षु पुरुष है जिसको मुक्तिकी भावना जगी है और मोक्षके साधक परिणामोंमें जिसकी गति चलने वाली है ऐसे जो वे निकटभव्य पुरुष हैं, मुमुक्षु हैं वे हैं उपादान कारण। क्योंकि उसही को तो दर्शनमोहका क्षय, क्षायोपशम हो रहा है और उसही मुमुक्षुमें सम्यक्त्व प्राप्तिका आविर्भाव हो रहा है। यों सम्यक्त्वके साधनोंका वर्णन इस गाथामें चल रहा है।

सम्यक्त्वके निमित्त और उपादानका वर्णन— सम्यक्त्वके कारणोंका प्रदर्शन करने वाली इस गाथाका द्वितीय अर्थ यह है कि इस गाथामें उपादानकारण और निमित्तकारणका वर्णन किया गया है। निमित्तकारण तो जिनसूत्र है और उपादानकारण जिनसूत्रके ज्ञायक मुमुक्षु पुरुष हैं जिन्हें कि सम्यग्दर्शन होना है। उपादानकारण कहो या अन्तरङ्गहेतु कहो, दोनोंका एक भाव है। नियमसारके टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेवने भी टीकामें यही बताया है। आप्त मीमासाके श्लोकोंमें पद-पद पर उपादान कारणको अन्तरङ्ग हेतु शब्दसे कहा गया है। जो मुमुक्षु पुरुष हैं, जिन्हें सूत्रका ज्ञान हुआ है ऐसे पुरुष पदार्थका निर्णय करते हैं और वे ही दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय, उपशम, क्षयोपशम होने योग्य परिणाम करते हैं और उनके दर्शन मोहका उपशम क्षय आदिक होता है। इस कारण उस आत्माको अतरंग हेतु कहा गया है। अन्तरङ्ग हेतुका तात्पर्य उपादानकारणसे है।

उपादानमें कारणताका उपचार कथन— उपादानको किसी कारण शब्दसे व्यपदिष्ट किया जाना कुछ अनुपचरित नहीं मालूम होता। कारण तो भिन्न पदार्थोंको बताया जाता है। जो स्वयं उपादान है, स्वयं ही कार्यमय होता है उसे कारण कहा जाना उपचरित नहीं है। इस कारण मुमुक्षु आत्माको अतरङ्ग हेतु उपचारसे कहा जाता है, अर्थात् उपादानमें कारणपनेका व्यवहार उपचारसे किया जाता है। अभिन्न उपादानमे कारणपनेका भेद करना उपचारकथन है, क्योंकि उपादान तो स्वयं ही सब कुछ है, उसका ही तो परिणमन है, अत कारण जैसा शब्द लगानेका व्यपदेश

उपचाररूप मालूम होता है। यों सम्यक्त्वका निमित्तकारण तो हुआ जिन-सूत्र, शास्त्र, तत्त्वज्ञान और उस जिनसूत्रके ज्ञायक मुमुक्षु पुरुष जो सम्यक्त्वके अभिमुख हो रहे हैं वे उपादान कारण हैं, क्योंकि उनके ही दर्शन मोहका उपशम, क्षय, क्षयोपशम हो रहा है। यहां तक भेदोपचार रत्नत्रयका वर्णन करते हुएमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानका स्वरूप कहा है और सम्यक्त्वके कारण पर यह प्रकाश डाला गया है।

अभेदानुपचरित रत्नत्रयका परिणमन— अब इसमें परपदार्थोंका नाम लेनेका काम नहीं है, उपचार नहीं है। उपचार कहा करते हैं कोई भिन्न तत्त्वका नाम लेकर प्रकृत बातको कहना। सो भेदोपचारपद्धतिसे नहीं, किन्तु अभेदोपचार पद्धतिसे इस रत्नत्रय परिणतिको देखो। जिसकी परिणति अभेद सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें हो रही है ऐसे जीवको अभूतपूर्व सिद्धपर्याय प्रकट होती है। चारों गतियोंमें सर्वत्र क्लेश ही क्लेश है, मलिनता है। इन मलिनतावोंसे सर्वथा दूर हो जाना इसका नाम सिद्धपर्याय है और सिद्धपर्याय इस जीवको आज तक कभी प्रकट नहीं हुई है। सिद्धपर्याय प्रकट होनेके बाद अनन्तकाल तक शुद्ध सिद्ध पर्याय रूप रहा करता है। यह सिद्धपर्याय किस अभेद रत्नत्रयसे प्रकट हुआ है ? इस विषयको अभेद प्रतिबोधन के लक्ष्यमें ही साधारण भेद करके सुनिये।

निश्चयसम्यग्दर्शनका दिग्दर्शन— टंकोत्कीर्णवत् एकस्वभावी यह जो निज कारणपरमात्मतत्त्व है उस रूप मैं हूं—इस प्रकारका श्रद्धान् होना यह है अभेद सम्यग्दर्शन। जैसे टांकीसे उकेरी गयी प्रतिमा अविचल होती है, एकरूप होती है उसमें कोई एक अंग तरंगमें आ जाय ऐसा नहीं होता है अथवा जैसे टांकीसे उकेरी गयी प्रतिमा किसी दूसरे पदार्थसे नहीं बनायी गयी है किन्तु जो प्रकट हुआ है वह मैटर, पदार्थ उस बड़े पाषाण में पहिले भी था, कोई नई चीजकी मूर्ति नहीं बनी है। जो पदार्थ था उस पदार्थके ही आवरणको हटाकर व्यक्त किया गया है। यों ही इस आत्मतत्त्व में यह परमात्मस्वरूप कुछ नया नहीं लगाया जाता, किन्तु यह परमात्मतत्त्व शुद्ध ज्ञानस्वरूप अनादिकालसे ही इसमें प्रकाशमान् है, उसके आवरक जो विषय-कषायके परिणाम हैं उनको प्रज्ञारूप छेनीसे प्रज्ञाके ही हथौडे से चोट लगाकर जब दूर कर दिया तो यह कारणपरमात्मतत्त्व जो अनादिसे ही नित्य अंतःप्रकाशमान् है, पूर्ण व्यक्त हो जाता है और इस निजस्वभाव के पूर्ण व्यक्त हो जानेका नाम सिद्धपर्याय है। इस सिद्धपर्यायमें प्रकट होने के लिये यों अभेद सम्यग्दर्शन चाहिए।

निश्चयसम्यग्ज्ञानका परिच्छेदन— इसही निश्चल स्वतंत्र निष्काम एकस्वभावी निजकारण परमात्मतत्त्वमें परिच्छेदन मात्र, चैतन्यमात्र, ज्ञाननमात्र जहां अन्तर्मुख होकर परमज्ञान होता है वह है निश्चय सम्यग्ज्ञान। इस निश्चय सम्यग्ज्ञानमे केवल एक परमहितरूप शरणभूत यह कारण समयसार ही ज्ञात हो रहा है। ऐसे निश्चय सम्यग्ज्ञानके बलसे यह अभूतपूर्व सिद्ध पर्याय सिद्ध हुई है।

निश्चय सम्यक्चारित्रका निर्देशन— निश्चय सम्यक्चारित्र क्या है? आत्माकी जो सहज व्रत क्रिया है, सहजभावरूप परिणाम है वही निश्चय सम्यक्चारित्र है। वह सहजचारित्र शुद्ध ज्ञायकस्वभावकी अविचल स्थितिको लिए हुए है। ऐसा यह अभेद सम्यक्चारित्र है, जिसका श्रद्धान किया, जिसका ज्ञान किया उसीमें अविचल होकर रम गया इस स्वस्थितिका नाम निश्चय सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार निश्चय सम्यक् चारित्रके द्वारा या अभेदानुपचार रत्नत्रय परिणतिके बलसे इस आत्मामें अभूतपूर्व सिद्धपर्याय प्रकट होती है।

निश्चयतप— परमयोगीश्वर पहिले पापक्रियाओंकी निवृत्तिरूप व्यवहारमे, चारित्रमें ठहरते हैं और उसके ही व्यवहारनयका विषयभूत नाना प्रकारका तपश्चरण होता है, वह ही पुरुष अन्तरङ्गमे क्या कर रहा है, इस बातको निरखें तो विदित होगा कि वहां निश्चयात्मक निज कार्य हो रहा है, सहज चैतन्यस्वरूप परमस्वभावरूप जो निजज्ञान ज्योतिस्वरूप है उस स्वरूपमें ही उपयोग तप रहा है। यही निश्चयतप हो रहा है।

निश्चयतपका प्रतपन— जैसे किसी बालक को अपनी मा मौसी की गोष्ठीसे उठकर बाहर खेलनेको जी चाहता हो और उसे मा जबरदस्ती बैठाल रही हो तो उस बालक को वहां बैठने में भी बड़ा श्रम मालूम हो रहा है। वहां सीधी बात कठिन लग रही है। यद्यपि दौड़, कूद ये सब श्रमकी बातें हैं, किन्तु जिसका बाहर दौड़ने भागने मे ही मन चाह रहा है ऐसा वह बालक एक ही जगह पर चुपचाप कुछ समय तक बैठा रहे, ऐसा कार्य करनेमे बालकको बड़ी तकलीफ हो रही है, श्रम हो रहा है। यों ही यह उपयोग अपने आपके घरके पाससे विमुख होकर बाहरी पदार्थोंमें दौड़ना भागना चाहता है। इस उपयोग को कुछ विवेक बलसे अपने आपमें बैठनेको ही लगायें कि रे उपयोग तू बाहर मत जा तू और ही घरमें चुपचाप विश्रामसे बैठ, और यह उपयोग कुछ बैठना भी है तो भी इसमें एक श्रम हो रहा है, उस ही को तप कहते हैं, निश्चय प्रतपन हो रहा है। अपने आपके स्वरूपमें ही अधिष्ठित रहकर शांत एकस्वरूप बना रहे इसमे

कितना श्रम चल रहा है, यही है निश्चयतप।

अन्तर परमतपनका अनुमान— अनुभव करके देख भी लो कि इस किसी धर्मकी बातमें या भगवान्के ध्यानमें या तत्त्वके चिंतनमें जब हम उपयोगको लाते हैं, स्थिर करना चाहते हैं तो कितना जोर लगाना पड़ता है, यह है अन्तरङ्गका परमार्थ तप। इस तपस्याके द्वारा निजस्वरूप में अविचलरूपसे स्थिति बन जाती है। इस ही आत्मस्वरूपमें स्थिर होनेका नाम है सहजनिश्चयचारित्र। यों सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रका वर्णन करके अब चूंकि अगले अधिकारमें व्यवहारचारित्रका वर्णन आएगा, सो मानों उसकी प्रस्तावनारूप इस अधिकारमें अन्तिम वर्णन कर रहे हैं।

सम्मत्त सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं।
ववहारणिच्छयेण दु तम्हा चरणं पवक्खामि ॥५४॥

व्यवहार एवं निश्चयचारित्रके कथनका मर्म— सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान मोक्षके लिए कारणभूत है, इस ही प्रकार चारित्र भी मोक्षके लिए कारणभूत है, इस कारण व्यवहारनयसे और निश्चयनयसे चारित्रके स्वरूपको कहेंगे। अध्यात्मयोगमें वर्त रहे ज्ञानी संत व्यवहाररूप आचरण का भी वर्णन करें तो उसमें साथ साथ निश्चयस्वरूपका दर्शन हो ही जाता है। यों व्यवहारसे जो वर्णन किया जाएगा, उस वर्णनमें भी पहिले यह निरखते जाइयेगा कि इसमें मर्मकी बात क्या है? जब तक निश्चय चारित्र के पोषणकी दशा नहीं मिलती है, तब तक व्यवहारचारित्र वास्तविक मायनेमें व्यवहारचारित्र नहीं होता है। जैसे कोई भोजन बनानेमें तो बड़ा श्रम करे और बनाकर उसे कूड़ा कचरामें डाल दे तो उसे व्यवहारमें विवेकी नहीं कहा गया है। अरे! खानेके लिए ही तो बन रहा था। लक्ष्य बिल्कुल भूल जाए और क्या हुआ? इसका रूप ही बदल जाए तो वह फिर व्यवहारधर्म नहीं रहता।

लक्ष्यभ्रष्ट प्रवृत्तिकी विडम्बना पर एक दृष्टान्त— कोई एक सेठ था और उसने बिरादरीको दावत दी। दो तीन मिठाइयां बनवाईं और खूब छककर खिलाया; पर साथ ही एक काम और किया कि सेठने सोचा कि लोग मेरी ही पातलमें तो खा जाते हैं और खा चुकनेके बाद मेरी ही पातलमें छेद करते हैं, क्योंकि दांत कुरेदनेके लिए लोग पातलसे सींक निकालते हैं। तो ऐसा करें कि जहां इतना समान परसा जा रहा है, वहां एक एक सींक और परोस देंगे, ताकि लोग पातलसे सींक निकालकर उसमें छेद न करें। अब एक टोकरा सींकका भरा हुआ परसनेको गया। अब कई

वर्ष बाद सेठजी गुजर गए। बादमें उनके लड़कोंके किसी बेटा बेटीके विवाहका अवसर आया तो लड़कोंने सोचा कि हम अपने पिताका नाम बढ़ायेंगे। जितनी तैयारीसे उन्होंने पद्धत की थी, उससे दूनी तैयारीसे करेंगे, सो वैसा ही किया। उन्होंने तीन मिठाइयां बनवाई थीं, लड़कोंने छ: बनवाईं। उन्होंने चार अंगुलकी सींक परोसी थी, लड़कोंने १२ अंगुलकी डंडी परोसी। सो जैसे बच्चोंकी पाटी पर लिखने वाली बर्तना होती है, वैसी ही बर्तनाका टोकरा भी परोसनेमें चला। अब वे लड़के भी गुजर गए। अब उनके गुजरनेके बाद उन लड़कोंके लड़कोंका नम्बर आया तो उन्होंने सोचा कि हम भी अपने बापका नाम बढ़ावेंगे। पिताने छ: मिठाइयां बनवाई थीं तो उन्होंने अपने लड़कोंके विवाहमें १० मिठाइयां बनवाईं। पिताने १२ अंगुलकी डण्डी परोसी थी तो लड़कोंने एक एक हाथका डण्डा परोसवा दिया। अरे! यहां इन डण्डोंकी नौबत कहांसे आई? लड़कों, पोतोंने परम्परा तो वही रक्खी, जो सेठने रक्खी थी, पर लक्ष्य भूल गए। लक्ष्य तो इतना ही था कि दांत कुरेदने वाली सींक मिल जाए, पर लक्ष्य भूल जानेसे यह नौबत आ गई।

लक्ष्यभ्रष्ट प्रवृत्तिकी विडम्बना— ऐसे ही अध्यात्मरसने जो मुक्तिके लिए लक्ष्य है, वह कारणसमयसार तत्त्व है। वह दृष्टिमें न रहे और दूसरे ज्ञानियोंकी देखादेखी त्यागमें बढ़े और यों बढ़े कि हम तो उनसे दूना काम करेंगे। वे तो इतनी शुद्धि रखते हैं, हम इतनी शुद्धि रक्खेंगे, जो चौकेमें किसीकी छाया तक न पड़े। वे तो एक बार ही विशेष पानी लेते थे तो हम वह भी न लेंगे। वे एक उपवास करते थे तो हम तीन करेंगे। बढ़ते जा रहे हैं ज्ञानियोंकी होडमें, लक्ष्यभ्रष्ट मूढ़ पुरुष तपश्चरणोंमें, पर उनकी तो स्थिति यह है जैसे पोतोंने डण्डा परोसनेकी स्थिति बनाई। विश्राम लो अपने आपमें, किसीको कुछ दिखाना नहीं है। कोई यहां मेरा परमात्मा नहीं बैठा है कि मैं किसीको दिखा दूं तो मेरे पर वह प्रसन्न हो जाए या कुछ रियायत करदे, सुखी करदे। यहां तो सब कुछ निर्भरता अपने आप पर ही है। इस कारण निश्चयचारित्रका पोषण जिस विधिसे हो, उस विधिसे व्यवहारचारित्रका पालना युक्त है।

प्रयोजक और प्रयोजन— भैया! जैसे खेत बो दिया गया, अब खेतकी रक्षाके लिए चारों ओर बाड़ लगाई जाती है। उस बाड़का प्रयोजन है कि खेतकी रक्षा बनी रहे, अनाजकी उपज अच्छी हो। कोई पुरुष बोये कुछ नहीं और खाली खेत जोत दे या अट्टसट्ट बो दे और बड़ी फैंसी लगा दे, बहुत सुन्दर और झाड़ी बाड़ी लगानेमें ही समय लगा दे तो उसने क्या

फल पाया ? यों ही निश्चयचारित्र तो है बीजरूप । निश्चयचारित्र तो बोया नहीं, उसका तो बीज बनाया नहीं और व्यवहारचारित्रकी बाड़ी बड़ी फैंसी लगाए, देखनेमें दर्शकोंका मन बहुत आकर्षित हो जाए तो जैसे उस बाड़ीसे उदरपूर्तिका काम नहीं बन पाएगा— ऐसे ही इस व्यवहार-चारित्रमें जो कि उपचारचारित्र है, उससे शांति सन्तोष सहजआनन्दके अनुभवका कार्य न बन जाएगा । यहा व्यवहारचारित्र तो प्रयोजक है व निश्चयचारित्र प्रयोजन है । इस कारण हम धर्मके लिए जो भी व्यवहार-रूप कार्य करें, उससे हम इतना तो जान जाये कि इस व्यवहारचारित्रसे हमको निश्चयचारित्रमे लगनेके लिए कितना अवकाश मिलता है ?

निश्चयचारित्रसे पराङ्मुख व्यवहारचारित्रकी अप्रतिष्ठा—आचार्य-देव व्यवहारचारित्रका अलग अधिकार बनाकर वर्णन करेंगे, किंतु निश्चय-चारित्रकी पुट दिखाए बिना व्यवहारचारित्रके वर्णनमें भी शोभा और श्रृङ्गार नहीं होता । अत उस वर्णनके मध्य भी निश्चयचारित्रका संकेत मिलता जावेगा । जैसे एक मोटी बात निरख लो–विवाह शादियां होती हैं, उनमें अनेक दस्तूर कार्यक्रम होते हैं, उन सब कार्यक्रमोंमें एक धर्मका कार्य-क्रम बिल्कुल उडा दें– न दूल्हा मन्दिर जाए, न द्रव्य धरने जाए और किसी प्रकारका कोई धार्मिक आयोजन न हो, भावरके कालमें जो थोड़ा बहुत उपदेश दिया जाता है, सात-सात वचनों पर प्रकाश डाला जाता है, यह किसी भी प्रकारका धर्मकार्य न हो तो आप सोच लो कि वह कृत्य सब फीका हो जाएगा । यह तो एक मोटी लौकिक बात कही गई है, पर धर्मके पथमें कुछ चारित्रकी प्राप्ति की जा रही है । वहां केवल मन वचन कायकी चेष्टाओंकी भरमार रहे और शुद्ध निजपरमात्मतत्त्वकी दृष्टिकी दिशा भी न बने तो समझ लीजिए कि वह सब श्रममात्र होगा और अतरङ्गमें शांति संतोष न प्राप्त होगा । इस कारण व्यवहारचारित्रके वर्णनका संकल्प बताते हुए भी आचार्यदेव निश्चयचारित्रका साथ नहीं छोड़ रहे हैं । अतः कह रहे हैं–उसको मैं बताऊँगा अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय और निश्चयरत्नत्रयका स्व-रूप कहूंगा ।

व्यवहाररत्नत्रय व निश्चयरत्नत्रयका संक्षिप्त निर्देश– व्यवहार और निश्चयरत्नत्रयका स्वरूप संक्षेपमें किस प्रकार है ? सो व्याख्यानों और उन के संकेतों द्वारा ज्ञात हो जायेगा । जिसे कविवर दौलतरामजीने अपनी कविताओंमें इस प्रकार लिखा है कि "परद्रव्योंसे भिन्न निजआत्मतत्त्वमें रुचि करना निश्चयसम्यग्दर्शन है और परद्रव्योंसे विविक्त निजआत्मतत्त्व का परिज्ञान करना निश्चयसम्यग्ज्ञान है तथा परद्रव्योंसे विविक्त इस निज-

आत्मतत्त्वमें ही रमण करना सो निश्चयसम्यक्चारित्र है, इन तीनों निश्चयरत्नत्रयोंकी पुष्टिके लिए व्यवहाररत्नत्रय होते हैं जिसमें मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत ७ तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करना सो व्यवहार सम्यक्त्व है, और इनही सात तत्त्वोंका भली प्रकार परिज्ञान करना सो व्यवहार सम्यग्ज्ञान है और जिन मन, वचन, कायकी क्रियावोंको करते हुएमें निश्चयरत्नत्रयके बाधक विषयकषायोंको अवकाश न मिले, ऐसी क्रियावों का करना सो व्यवहारचारित्र है।

व्यवहाररत्नत्रयकी उपयोगिता— भैया ! अहिंसाव्रत, सत्यव्रत, ब्रह्मचर्यव्रत, परिग्रह, त्यागव्रत, इन व्रतप्रवृत्तिमें रहने से विषयकषायोंको अवकाश नहीं मिलता है। यदि कोई इन व्रतोंको धारण न करे तो उसमें वह निर्मलता ही नहीं जग सकती है जिससे कारणसमयसार प्रभु दर्शन दिया करता है। तो इस निश्चयरत्नत्रयके हम पानेके योग्य बने रहें, इतनी पात्रता बनाने के लिए यह व्यवहाररत्नत्रय समर्थ है। व्यवहाररत्नत्रयका भी उपयोग उत्तम है किन्तु लक्ष्य भूल जाय तो वे समस्त व्यवहार क्रियाकाण्ड उसके लिए गुणकारक नहीं रहते हैं। इस कारण व्यवहारचारित्र और निश्चयचारित्र दोनों प्रकारसे चारित्रोंके स्वरूपको समझना और उस पर अमल करना मुक्तिके लिए आवश्यक है।

ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्स होदि तवचरणं।
णिच्छयणयचारित्ते तवचरणं होदि णिच्छयदो ॥५५॥

व्यवहार और निश्चयतपश्चरणका आधार— व्यवहारनयके चारित्रमें व्यवहारनयका तपश्चरण होता है और निश्चयनयके चारित्रमें निश्चयनयका तपश्चरण होता है। यहां तक जो ५ गाथाएँ चली हैं, इन गाथावोंमें चार प्रकारकी आराधनावोंका निर्देशन है—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप। इन ४ आराधनावोंका संक्षेपीकरण दो आराधनावोंसे होता है— सम्यक्त्व आराधना और चारित्र आराधना। जैसे सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञान लगा हुआ है इसी प्रकार सम्यक्चारित्र के साथ सम्यक्तप लगा हुआ है। व्यवहारनयके चारित्रके प्रकरणमें तपश्चरण भी व्यवहारनयका कहा गया है और निश्चयनयके चारित्रके प्रकरणमें निश्चयसे तपश्चरण बताया है।

व्यवहारतप और निश्चयतप— उपवास, ऊनोदर, व्रतपरिसंख्यान रसपरित्याग, विविक्त-शय्यासन, काय क्लेश— ये ६ तो बाह्यतप हैं, ये व्यवहारनयके तपश्चरण हैं, किन्तु अन्तरङ्गमें जो ६ तप हैं प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग और ध्यान ये भी व्यवहारनयका तप

है। निश्चयनयका तप तो चित्स्वभावमात्र अंतस्तत्त्वमें उपयोगका प्रतपना सो निश्चयतप है। निश्चयनयकी पद्धतिमें आखिर सब कुछ एक हो जाता है। यहां तक कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप—ये चार आराधनाएं एक ज्ञान-आराधनारूप रह जाते हैं। सम्यग्दर्शन क्या है? जीवादिकके श्रद्धानके स्वभावसे ज्ञानका होना यह तो हुआ सम्यग्दर्शन और जीवादिक तत्त्वोंके परिज्ञानके स्वभावसे ज्ञानका होना यह हुआ सम्यग्ज्ञान और रागादिकके त्यागके स्वभावसे ज्ञानका होना यह हुआ सम्यक्चारित्र। और चित्स्वभावमात्र, ज्ञानस्वभावमात्र अंतस्तत्त्वमें ज्ञानका प्रतपना सो हुआ सम्यक्तप। ये चारोंकी चारों ही बातें ज्ञानपरिणमनरूप बनती हैं।

स्वस्थितिमें आत्मबलका प्रयोग— अंतस्तत्त्वमें निश्चय होना सो तो दर्शन है, अंतस्तत्त्वमें परिज्ञान होना सो सम्यग्ज्ञान है और अंतस्तत्त्वमें स्थित हो जाना सो सम्यक्चारित्र है और अंतस्तत्त्वमें ही उपयोगका प्रताप बनना सो सम्यक्तप है। अपने आपके स्वरूपमें स्थिर होनेमें भी बल चाहिए। शरीरमें जो भी चीजें हैं—खून है, नाक है, थूक है, राल है इन सबको थामे रहने के लिए शरीरमें बल चाहिए। कोई वृद्ध हो अथवा रोगसे क्षीण हो गया हो, ऐसा पुरुष अपनी नाक, कफ थूक आदि अपनेमें थाम नहीं सकता। वृद्ध पुरुषके मुंहसे राल गिरती है और भी मल झरते हैं, वे थाम नहीं सकते, क्योंकि शरीरमें रहने वाली चीजों को थामने के लिए बल चाहिए। ऐसे ही आत्मामें रहने वाले ज्ञानादिक गुणोंको आत्मामें ही थामने के लिए आत्माका बल चाहिए।

आत्मबलकी आवश्यकताका अनुमान— भला, कुछ अनुमान बनावो—जो चित्तमें विकल्पजाल मचा करता है वह विकल्पजाल न हो और निर्विकल्प समाधिमय यह अंतस्तत्त्व रहे, ऐसा करने के लिए कितने बलकी आवश्यकता है? शरीर बलकी नहीं, अन्तरबलकी आत्मबलकी और किसी बाह्यपदार्थमें मनको दौड़ाने में, किसीसे राग करनेमें प्रेमभरी बात बोलनेमें, मोह बढ़ानेमें कुछ बल न चाहिए विशेष। मनमें आया, स्वच्छन्दता करने लगा तो यह जीव कर लेता है। अपने आपके गुणोंको अपने आपमें स्थिर करने के लिए बड़े पुरुषार्थ की आवश्यकता है। करोड़ आदमियोंमें से भी कोई एक ही पुरुष ऐसा हो जो अपने आपके गुणोंको, परिणमनोंको अपनें आपमें ही थाम सकता है, अपने उपयोगको अपने में स्थिर कर सकता है।

ज्ञानयोगीका उपकार— भैया! मूढ़ लोग भले ही उन ज्ञानयोगी संतोंके प्रति ऐसा कहें कि देशके लिए ये लोग बेकार हैं कुछ लोकोपकार

करते ही नहीं हैं, किन्तु यह क्या कम उपकार है कि ऐसे पुरुषार्थी ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वमें उपयोगको स्थिर करने वाले अतएव शात और समदर्शी जो हुए हैं, उनकी मुद्राका दर्शन, उनकी चेष्टाका निरखन, उनकी वाणीका श्रवण अथवा उनके सत्सगमे उपस्थित होना है—यह सब एक भावमय बिजलीकी करेण्टकी तरह चित्तमें शांति उत्पन्न करनेके कारण बन जाते हैं ? यह कोई कम उपकार नहीं है। दूसरी बात शरीरबलकी अपेक्षा बुद्धिबल विशेष होता है और बुद्धिबलकी अपेक्षा आत्मबल अत्यधिक होता है।

शरीरबलसे बुद्धिबलकी विशेषता— ऐसे ही एक कथानक है-एक पुरुषकी लड़कीकी शादी थी। उसने बारात वालोंको यह सूचना दे दी कि बारातमें कोई बूढ़ा न आए, सब जवान आएं। बरातियोंने सोचा कि इस लड़की वालेने बूढ़ोंको मना किया है तो इसमें कोई राज होगा। सो एक बड़े संदूकमें सास आनेके लिए छेद बना लिया और उसमें एक बूढेको बैठा कर ताला लगाकर सन्दूक लेकर वे बराती पहुचे। लड़की वालेने क्या किया कि उसमें ५० बराती थे तो ५० गुड़की भेली डेढ़ डेढ़ सेरकी उन बरातियोंको दे दी और कहा कि आप सबको एक एक भेली दी जाती है, सब लोग खा लो। अब डेढ़ सेर गुड़की भेलीको कौन खा सकता है ? सो अफसोसमें सभी बराती पड़ गए। एक बरातीने कहा कि उस वृद्ध पुरुषसे सलाह ले लो कि किस तरहसे खायी जाये। एकान्तमें उन्होंने सन्दूकको खोला और वृद्ध से पूछा कि भाई ५० भेली डेढ़ डेढ़ सेरकी मिली है और ५० ही आदमी हैं तो उनको कैसे खाए ? उस वृद्ध ने कहा कि सभी बराती एक एक भेली एकदम न खावें, बल्कि चलते फिरते, दौड लगाते, हसते व खेलते सभी भेलियोंमेंसे थोड़ा थोड़ा नोच खसोटकर खावें। अब तो मन्त्र मिल गया। अब फिर सन्दूक बन्द कर दिया और सभी अपनी भेलियोंको थोड़ा थोड़ा नोच खसोटकर हसते, खेलते, दौड़ते, भागते हुए खाने लगे। लो वे सब भेलिया खा ली गयीं और मन भी बहल गया। तो देखो यदि इस तरह नहीं करते तो वे डेढ़ डेढ़ सेरकी भेली कैसे खाते ? तो शरीरबल से बुद्धिबल विशेष हुआ ना।

आत्मचिंतनमें आत्मबलका पोषण— भैया ! अब आत्मबलका तो कहना ही क्या, जहा एक भी संकट नहीं रह सकता ? क्या है संकट ? कोई क्लेश सामने आया हो तो एक चिंतनमें निगाह कर लो। मैं सबसे न्यारा ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व हू, मैं परिपूर्ण हू, जिसे कोई जानता नहीं है, कृतार्थ हू, जो मुझमें है वह कहीं जा नहीं सकता और जो बाहरकी बातें हैं, वे

मुझमें आ नहीं सकतीं। यह तो मैं पूर्ण सुरक्षित अन्तस्तत्त्व हूं, एक ही चिंतनामें, एक झलकमे सारे सकट एक साथ समाप्त हो जाते हैं, जो यह भावना है, इस ही भावनाको बारम्बार दृढ करना यही धर्मका पालन है। अब आप जानिए कि अपने आपके अन्तरमें जो निधि है, उस निधिको सुरक्षित बनानेमें कितने आत्मबलकी आवश्यकता है? ऐसा करनेमें जो प्रताप उत्पन्न होता है, उसी प्रतापका नाम निश्चयतप है। यह निश्चय आराधना योग मोक्षका हेतुभूत है।

सहजविश्राम— अहो! ऐसा सहजज्ञान जिसका निश्चय, जिसका परिज्ञान, जिसमें स्थिति, जिसका प्रताप मोक्षका हेतु है, वह सहजज्ञान ही हम आपका परमशरण है। चिंता कुछ मत करो, दुःख रञ्च भी नहीं है। अपने आपको आराममें रखना, यह सबसे ऊचा काम है। अपना आराम मूढतामें आकर खो मत दो। इन २४ घण्टोंमें किसी समय तो सच्चा आराम पावो। जैसे लोग थककर १०-२० मिनटको हाथ पैर पसारकर चित्त लेटकर आराम ले लिया करते हैं, यों ही विकल्पजालोंमें जो दुःखोंकी थकान होती है, उस थकानको दूर करनेके लिए सर्वपरकी चिंताको छोड़ कर निजसहज ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका दर्शन करिये और उस ही में रमण कीजिए, तृप्त होइये—ऐसा सच्चा आराम एक सेकिण्डको भी हो जाए तो वह भव भवके सञ्चित कर्मकलकोंको दूर करनेमें समर्थ है। सो इस निज-समृद्धिके लिये साधनभूत अमोघ अभिन्न उपायका चार प्रकारसे भेदकथन किया गया है।

सहजवृत्तिका प्रताप— इस सहजज्ञानका ज्ञान व सहजज्ञान जयवंत प्रवर्तो और सहजदर्शन तथा सहजदर्शनकी दृष्टि जयवन्त प्रवर्तो। जो भी सहज दिखा अपने आपमें, वह ही तो परमात्मतत्त्व है और जो कृत्रिमता से बनावटीरूपसे ढंग बनाकर दिखावा करे वह आत्मतत्त्व नहीं है। बनना अच्छी बात नहीं है सहजसरलस्वभावसे, विवेकको खोनेकी बात नहीं कह रहे हैं, विवेकी रहकर सहजसरलतासे जो वृत्ति बने वह उत्तम है। अन्तर में कपट भाव रखना, धनसामग्री होते हुए भी अन्तरमें तृष्णाभाव रखना, अन्य जीवोंसे अपनेको बड़ा समझकर मानपरिणाममें आना और किसी बातके कारण या इष्टसिद्धिमें बाधा होने पर क्रोध भाव करना—ये सब कषायें इस जीवकी सहजवृत्तिसे विपरीत हैं, बनावटी हैं। ये सब बनावट न करके सहज जो परिणाम जगे, उस परिणाममें रत होना यही मुक्तिका उपाय है।

सहजदृष्टिमें साधुता— एक गुरु शिष्य राजाके बागमें पहुचे। वहां

एक एक कमरेमे ठहर गये। राजा घूमने आया। सिपाहियोंको राजाके स्वागत सुविधाके लिए कुछ चीजोंकी जरूरत थी, उस कमरेसे कुछ चीज लानेको एक सिपाही गया तो देखा कि दो आदमी बैठे हैं। सिपाही राजा के पास गया और बोला कि महाराज! वहा दो आदमी बैठे हैं। राजाने कहा कि उनसे कह दो कि यहासे जायें। सिपाही पहिले शिष्यके पास गया और कहा कि तुम कौन हो? शिष्य बोला कि तुमको दिखता नहीं कि मैं साधु हू। तो सिपाहीने कान पकड़कर उसे निकाल दिया। दूसरेसे कहा कि तुम कौन हो? तो वह चुपचाप रहा और ध्यानमें लीन रहा। सिपाही राजासे कहता है कि महाराज! एक आदमी तो बिल्कुल बोलता ही नहीं है और आखें बन्द किए हुए शांत बैठा है। राजाने कहा कि उन्हें मत छेड़ना, वे साधु होंगे। अब वह राजा घूमधाम कर वापिस चला गया तो शिष्यने कहा कि महाराज! आप तो मजेमे रहे और हमें तो कान पकड़ कर यहांसे भगा दिया। गुरु कहता है कि हे शिष्य! तुम कुछ बने तो नहीं थे। जो बनता है वह पिटता है। कहा महाराज! हम कुछ नहीं बने थे। मुझसे पूछा कि तुम कौन हो? तो मैंने कहा कि दिखता नहीं है तुम्हें? मैं साधु हू। गुरु बोला कि यही तो बनना हुआ। साधु होकर जो अपनेको साधु बताता है, यह श्रद्धान् करता है कि मैं साधु हू तो वह बनना ही है। साधु पुरुष वह है कि जो चैतन्यस्वभावमात्र आत्माकी दृष्टि करके प्रसन्न रहे। साधुपर्यायरूप आत्मश्रद्धान् न बनाए। मैं तो एक चैतन्यतत्त्व हू, ऐसी सती दृष्टि हो तो साधुता वहाँ विराजती है। बनावटमें तत्त्व नहीं मिलता है, किन्तु सहजसरल भावमें वस्तुका स्वमर्म विदित होता है, वह सहजदृष्टि जयवन्त हो और वह सहजचारित्र जयवन्त हो।

परमोपकारी परमयोग— सिद्धभगवान्की पूजामें इसका यह छन्द है—

> समयसार सुपुष्पसुमालया सहजकर्मकरेण विशोधया।
> परमयोगबलेन वशीकृत सहजसिद्धमहं परिपूजये॥

मैं सहजसिद्धको परिपूजता हू। यहा मैं का अर्थ है उपयोग और सहजसिद्धका अर्थ है अध्यात्मदृष्टिसे अपने आपमें बसा हुआ कारणसमयसार। जो सहज ही सिद्ध है, स्वभावत परिपूर्ण है इसको मैं परिपूजता हू अर्थात् अपने आत्माके सर्वप्रदेशोंमें दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी वृत्ति द्वारा पूजता हू। कैसा यह सहजसिद्ध है कि जो परमयोगके बलसे वशमें होता है। यह सहजसिद्ध मेरे उपयोगके विकल्पमें नहीं आता। यह दूर बना हुआ है, यह मेरे लक्ष्यमें आयेगा परमयोगके बलसे। वह परमयोग क्या
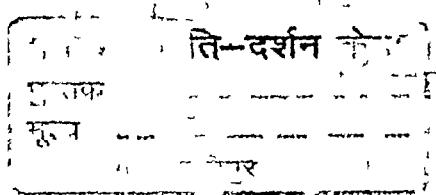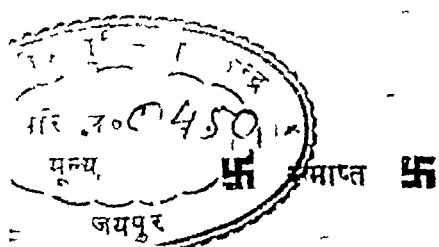
है ? इसी शुद्धस्वभावमें निश्चयनयका परिज्ञान होना, स्थिरता होना, प्रवर्तन होना, यह ही मेरा परमयोग है। ऐसे परमयोगके बलसे जो वश किया जाता है, ऐसे इस सहजसिद्धको मैं पूजता हूं। काहेके द्वारा ? भगवान्‌की पूजा क्या किसी भिन्न वस्तुसे हो सकती है ? फूलोंकी मालाए ये भिन्न पदार्थ भगवान्‌को क्या महत्त्व दर्शाने वाले हैं ? मैं तो समयसाररूपी पुष्पमालासे इस सहजसिद्धको पूजता हू, जो सहजचारित्ररूपी हाथसे तैयार की गई है। अपने सहजसिद्धसे ही यह समयसारदृष्टिमें आता है और इसके ही बलसे परमयोग प्राप्त होता है और अपने आपके वशमें अर्थात दृष्टिमे रहा करते हैं। ऐसा यह कारणसमयसार, सहजज्ञान, सहजदृष्टि, चित्स्वभाव सच्चिदानन्दमय परमपारिणामिक भाव वह सदा जयवन्त प्रवर्तो। मेरा मन एक इस निजस्वभावके दर्शनमे लगो, अन्यत्र मत विचरो।

सहजचेतना विभूति— यह सहजपरमभावमें रहने वाली चेतना समस्त पापमलको दूर करनेमें समर्थ है। खोटे भाव जगना इससे बढकर कुछ विपत्ति नहीं है। वह पुरुष वैभववान् है, जिसके स्वप्नमें भी अन्याय करनेकी वासना नही जगती। किसी जीवको सतानेका, किसीके बारेमे झूठ बोलनेका, चुगली करनेका, निन्दा करनेका परिणाम जिसके नहीं होता, किसीकी चीज चुरानेका अथवा कामवासनाका भूत लादनेका और धन परिग्रहकी तृष्णा रखनेका जिसके परिणाम नहीं जगता है और अपने को निर्भार अनन्तविधिवान् ज्ञानस्वरूप निरखनेका यत्न जिनके होता है, वे ही वास्तवमें वैभववान् पुरुष हैं।

नियमसारकी भावना— अब यह नियमसारका शुद्धभावनामक तृतीय अधिकार समाप्त हो रहा है। इस अधिकारमें आत्माके शुद्ध भावोंका स्वरूप कहा गया है। उस स्वरूपके चिंतन द्वारा शुद्ध भावमय अपनेको निहारकर कृतार्थ होना यह हमारा कर्तव्य है। एक इस निजअन्तस्तत्त्वको छोड़कर मेरे लिए अन्य कुछ उपादेय नहीं है। इस अन्तस्तत्त्वमें केवल ज्ञानप्रकाश पाया जाता है। उस ज्ञानप्रकाशकी दृष्टिसे ही यह अन्तस्तत्त्व अनुभूत होता है। इसमें न कोई बाह्यपदार्थ है, न उनके निमित्तसे होने वाले कुछ तरंग भाव हैं। सर्व पर और परभावोंसे रहित यह मेरा अन्तस्तत्त्वस्वरूप मेरेको शरण है। जहा ससारका भटकना नहीं है, भवसे रहित है, स्वाधीन है, सर्वविभावोंसे दूर है—ऐसा यह अन्तस्तत्त्व मेरी दृष्टिमें रहे और ऐसा समय चिरकाल तक बना रहे कि इस प्रतिभासमात्र अपने आपको प्रतिभासता रहू।

सहजस्वभावलाभके लिये यत्नशीलता— इस अन्तस्तत्त्वका कोई

बाह्यचिह्न नहीं है, जिस चिह्नके द्वारा हम इसके स्वरूपमें प्रवेश कर सकें। इसका चिह्न तो केवल ज्ञानभाव है, सहजज्ञान है, जिस सहजज्ञानकी दृष्टिमें सर्व जीव एक समान हैं। सिद्ध हो, ससारी हो, सर्वप्राणियोंमें जो एक स्वरूप रहा करता है, ऐसा सहजचित्स्वभाव, वह ही हमारे लिये उपादेय है। उसको ही दृष्टिमें रखनेके लिये हम पाये हुए सब कुछ समागमको न्योछावर करके भी प्रयत्नशील रहें।

卐 समाप्त 卐

मुद्रक—मनेजर, जैन साहित्य प्रेस, १८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ